श्रीरामतीर्थविरचितदीपिकासमेता

मैत्र्युपनिषद्

कुलपतेः प्रो. राममूर्तिशर्मणः प्रस्तावनया विभूषिता

हिन्दी-व्याख्याकारः सम्पादकश्च

डॉ. ओमप्रकाशपाण्डेयः

सम्पूर्णानन्द-संस्कृत-विश्वविद्यालयः, वाराणसी

सम्पूर्णानन्द-
संस्कृत-
विश्वविद्यालयः

श्रीरामतीर्थविरचितदीपिकासमेता

मैत्र्युपनिषद्

गङ्गानाथझा-ग्रन्थमाला

[१८]

श्रीरामतीर्थविरचितदीपिकासमेता

मैत्र्युपनिषद्

कुलपतेः प्रो. राममूर्तिशर्मणः प्रस्तावनया विभूषिता

हिन्दी-व्याख्याकारः सम्पादकश्च

डॉ. ओमप्रकाशपाण्डेयः

सम्पूर्णानन्द-संस्कृत-विश्वविद्यालयः

वाराणसी

ग०ना०
ग्र०मा०
[१८]

मैत्र्युपनिषद्

मूल्यम्
१८०.००

GAṄGĀNĀTHAJHĀ-GRANTHAMĀLĀ

[Vol. 18]

MAITRYUPANIṢAD

With the Commentary

DĪPIKĀ

By

ŚRĪ RĀMATĪRTHA

With the Hindi Commentary

By

PROF. OMAPRAKĀŚA PĀṆḌEYA

FOREWORD BY

PROF. RAMMURTI SHARMA

VICE-CHANCELLOR

EDITED BY

PROF. OMAPRAKĀŚA PĀṆḌEYA
Professor, Sanskrit and Prakrit Department
Lucknow University, Lucknow

VARANASI

2001

ISBN : 81-7270-054-7

Research Publication Supervisor—
Director, Research Institute
Sampurnanand Sanskrit University
Varanasi.

❒

Published by—
Dr. Harish Chandra Mani Tripathi
Director, Publication Institute
Sampurnanand Sanskrit University
Varanasi-221 002.

❒

Available at—
Sales Department,
Sampurnanand Sanskrit University
Varanasi-221 002.

❒

First Edition, 500 Copies

Price : Rs. 180.00

❒

Printed by—
Shreejee Computer Printers
Nati Imli, Varanasi-221 001
E-mail : Shreejeeprint@hotmail.com

गङ्गानाथझा-ग्रन्थमाला
[१८]

श्रीरामतीर्थविरचितदीपिकासमेता

मैत्र्युपनिषद्

कुलपते: प्रो. राममूर्तिशर्मण: प्रस्तावनया विभूषिता

हिन्दी-व्याख्याकारः सम्पादकश्च

प्रो. ओमप्रकाशपाण्डेयः

आचार्यः, संस्कृत एवं प्राकृतविभागस्य
लखनऊ-विश्वविद्यालये, लखनऊ

वाराणस्याम्

२०५८ तमे वैक्रमाब्दे   १९२३ तमे शकाब्दे   २००१ तमे खैस्ताब्दे

ISBN : 81-7270-054-7

अनुसन्धान-प्रकाशन-पर्यवेक्षक: —
निदेशकः, अनुसन्धान-संस्थानस्य
सम्पूर्णानन्द-संस्कृत-विश्वविद्यालये
वाराणसी।

❐

प्रकाशक: —
डॉ. हरिश्चन्द्रमणित्रिपाठी
निदेशकः, प्रकाशन-संस्थानस्य
सम्पूर्णानन्द-संस्कृत-विश्वविद्यालये
वाराणसी-२२१००२

❐

प्राप्ति-स्थानम् —
विक्रय-विभागः,
सम्पूर्णानन्द-संस्कृत-विश्वविद्यालयस्य
वाराणसी-२२१००२

❐

प्रथमं संस्करणम् – ५०० प्रतिरूपाणि

मूल्यम् – १८०.०० रूप्यकाणि

❐

मुद्रक :—
श्रीजी कम्प्यूटर प्रिण्टर्स
नाटी इमली, वाराणसी-२२१००१

प्रस्तावना

लखनऊ विश्वविद्यालय के संस्कृत एवं प्राकृत-विभाग के आचार्य **प्रो. ओम प्रकाश पाण्डेय** द्वारा हिन्दी-भाषा में व्याख्यात एवं सम्पादित पुस्तक **'मैत्र्युपनिषद्'** का मैंने विधिवत् अवलोकन किया। इस ग्रन्थ पर प्रस्तावना लिखते हुए मुझे हर्षानुभूति हो रही है। मैत्र्युपनिषद् की भाषा एवं तत्त्वप्रतिपादन शैली ने परवर्ती अनेकानेक उपनिषदों के विकास में अपने-अपने ढ़ंग से योगदान किया है। यद्यपि आदि शङ्कराचार्य ने इस उपनिषद् पर भाष्य नहीं लिखा है; किन्तु उसकी पुङ्खानुपुङ्खरूपेण प्रतिपूर्ति **श्री रामतीर्थाचार्य** द्वारा विरचित **'दीपिका'** टीका ने कर दी है। आचार्य श्रीरामतीर्थ निश्चय ही औपनिषदिक-वाङ्मय के मूर्धन्यतम व्याख्याता हुए हैं। उन्होंने मैत्र्युपनिषद् की दीपिका-व्याख्या में वैदिक संहिताओं, ब्राह्मणग्रन्थों, आरण्यकग्रन्थों एवं उपनिषद्-ग्रन्थों की सुदीर्घ परम्पराओं को आत्मसात् करते हुए सहज, सुबोध एवं प्रामाणिक समन्वय स्थापित किया है।

यहाँ मैत्र्युपनिषद् के एक मन्त्र एवं उसकी दीपिका-व्याख्या के अंश को प्रस्तुत करने का लोभ संवरण नहीं कर पा रहा हूँ। मन्त्र और उसकी व्याख्या अवलोकनीय है—

''अथ भर्ग इति यो ह वा अमुष्मिन्नादित्ये
निहितस्तारकोऽक्षिणि वैष भर्गाख्यः''॥ (मै.उ.,पृ. ८९)

'अथ पदविशेषार्थ उच्यते भर्ग इति कोऽर्थोऽयमेव यो ह य एव वै 'य आदित्ये तिष्ठन्' 'यश्चक्षुषि तिष्ठन्' इति च श्रुत्यन्तर-प्रसिद्धोऽमुष्मिन्नादित्ये मण्डलात्मनि निहितः सन्निहितस्तथाऽक्षिणि

चक्षुर्मण्डले वा यस्तारक: कृष्णतारकोपलक्षितोऽन्तर्यामी देवो भर्गाख्य इति' (दीपिकायाम्, पृ. ८९)।

इस उद्धरण में मैत्र्युपनिषद् के गूढ़तम रहस्यों का दीपिका-व्याख्या में प्रस्फुटन हुआ है, जो विषय की गूढ़ता को सहजता में परिवर्तित करता है।

प्रो. ओमप्रकाश पाण्डेय ने अपनी हृदयग्राहिणी हिन्दी-व्याख्या में 'मैत्र्युपनिषद्' एवं दीपिका-व्याख्या के मर्म को उद्घाटित करते हुए इस आर्ष- वाङ्मय को लोकवाणी में विवृत किया है। यह अत्यन्त हर्ष की बात है कि प्रो. पाण्डेय ने अनेक पाण्डुलिपियों के आधार पर, जिनमें इस विश्वविद्यालय के सरस्वतीभवन-पुस्तकालय की हस्तलिखित पाण्डुलिपियाँ भी सम्मिलित हैं, प्रस्तुत संस्करण को तैयार किया है, जिसके फलस्वरूप चिरकाल से अनुपलब्ध मैत्र्युपनिषद् व्याख्या से संवलित होकर लोकगोचर हुई है। एतदर्थ मैं प्रो. पाण्डेय को हार्दिक धन्यवाद प्रदान करता हूँ, जिन्होंने आर्ष औपनिषदिक वाङ्मय की व्याख्या एवं सम्पादन में अपनी विलक्षण प्रतिभा को रूपायित किया है।

वस्तुत: उपनिषद् वाङ्मय भारतीय 'अस्मिता' की निधि हैं। इस तथ्य की ओर हमारा ध्यान आकृष्ट कराते हुए **डॉ. राधाकृष्णन्** ने लिखा है—

''उपनिषदों को जो भी मूल संस्कृत में पढ़ता है, वह मानव-आत्मा और परम सत्य के गुह्य और पवित्र सम्बन्धों को उजागर करने वाले उनके बहुत-से उद्गारों के उत्कर्ष, काव्य और प्रबल सम्मोहन से मुग्ध हो जाता है और उसमें बहने लगता है। हम जब उन्हें पढ़ते हैं, तो इन चरम प्रश्नों से जूझने वाले व्यक्तियों के मन की असाधारण क्षमता, तत्परता और परिपक्वता से प्रभावित हुए बिना नहीं रहते। इन समस्याओं को सुलझाने वाली आत्माओं का सभ्यता के सर्वोच्च आदर्शों से आज भी तात्त्विक तालमेल है और सदा रहेगा''।

''उपनिषदें वह नींव हैं, जिस पर करोड़ों मनुष्यों के विश्वास आधारित रहे हैं, और वे मनुष्य हमसे कोई बहुत हीन नहीं थे। मनुष्य के लिए उसके अपने इतिहास से अधिक पवित्र और कुछ नहीं है। कम से कम अतीत के स्मारकों की हैसियत से ही उन पर हमें पूरा ध्यान देना चाहिए''। (उपनिषदों की भूमिका, पृ. ८)

इस प्रकार निश्चय ही दीपिका-व्याख्या एवं प्रो. पाण्डेय की हिन्दी-व्याख्या से मण्डित मैत्र्युपनिषद् का यह संस्करण हमारी आर्ष-परम्परा की अविच्छिन्नता को स्थापित करेगा।

ऐसे आर्ष-परम्परा के संवाहक संस्करण को हृदयावर्जकरूप में प्रकाशित करने वाले प्रकाशन संस्थान के निदशेक **डॉ. हरिश्चन्द्र मणि त्रिपाठी,** ईक्ष्यशोधन-प्रवीण **डॉ. हरिवंश कुमार पाण्डेय,** सहायक सम्पादक **डॉ. ददन उपाध्याय,** ईक्ष्यशोधक **श्री अशोक कुमार शुक्ल, श्री अतुल कुमार भाटिया,** प्रकाशन सहायक **श्री कन्हई सिंह कुशवाहा,** पाण्डुलिपि संग्राहक सहायक **श्री ओम प्रकाश वर्मा,** प्रकाशन संस्थान के डाटा इण्ट्री आपरेटर **श्री जितेन्द्र कुमार भाटिया** को भूरिशः आशीर्वाद प्रदान करते हुए प्रस्तुत ग्रन्थ के सौष्ठवपूर्ण मुद्रक श्रीजी कम्प्यूटर प्रिण्टर्स के निदेशक **श्री अनूप कुमार नागर** को शुभाशीर्वाद प्रदान करता हूँ।

अन्ततः भारतीय आर्ष-ज्ञान की निधि इस कृति को सान्नपूर्णा श्रीकाशीविश्वेश्वर के करकमलों में समर्पित करता हूँ।

राममूर्ति शर्मा

राममूर्ति शर्मा
कुलपति
सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय

वाराणसी
शारदीय-नवरात्र
वि.सं. २०५८
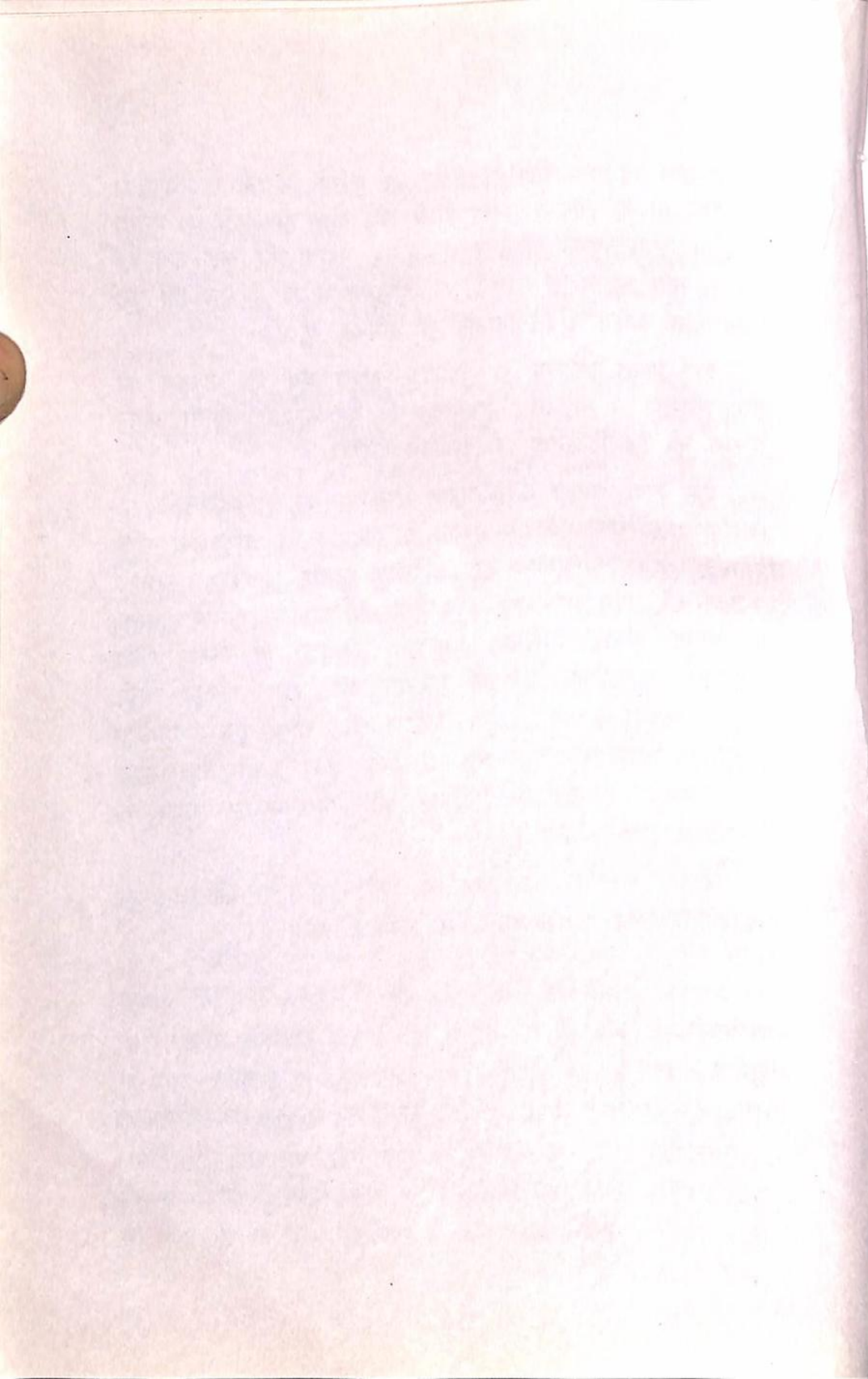
प्राक्कथन

मैत्र्युपनिषद् के अनुशीलन का यह कार्य सोरबोन नूबेल युनिवर्सिटी, पेरिस (फ्रान्स) के प्राच्य-विभाग में मेरे विजिटिंग प्रोफेसर के रूप में कार्य करने की अवधि में सम्पन्न हुआ। दिसम्बर, १९९८ ई. के शीतावकाश, मेजों द लैन्द (भारत भवन, पेरिस) के एकान्त कक्ष और मोंसूरी उद्यान के सुरम्य वातावरण के साथ **प्रो. नलिनी बलवीर** की सहयोग-तत्परता इसमें विशेष सहायक सिद्ध हुई। पेरिस भर के पुस्तकालयों और नीजी ग्रन्थ-संग्रहों से आवश्यक पुस्तकें उपलब्ध कराने में वे यदि रुचि न लेतीं, तो तीन वर्षों के प्रवास की अवधि (अक्टूबर, १९९७ ई. से अक्टूबर २००० ई.) में कोई भी अकादमिक कार्य मैं शायद ठीक से न कर पाता। उनके साथ **प्रो. मादाम कोलेत कैय्या** जो यूरोप में सम्भवतः सर्वाधिक वयोवृद्ध और वरिष्ठ संस्कृत-विदुषी हैं, **श्रीमती पैत्रीशिया वोवी**, जिसकी भारतीय संस्कृति, संस्कृतभाषा और भारतीय संगीत के प्रति समर्पित निष्ठा स्वयं मेरे लिए स्पृहणीय रही है, **श्रीमती एवा सिली**, जिन्हें 'उमा' नाम से सम्बोधित होना ज्यादा प्रिय लगता है, उनकी आत्मीय स्मृतियाँ भी इसमें गुम्फित हैं। शीतावकाश के उस काल में, जब मेजों के परिसर भर में भयावह सन्नाटा पसरा पड़ा था, अनुजकल्प **श्री बटाकिशोर दे** ने जिस अकल्पित प्रेम से मुझे आप्यायित किया, वह भी स्मृति-मंजूषा की महार्घ निधि है। उन दिनों, जब पेरिस के विहग भी वहाँ न रहकर कहीं दूर उड़ जाना चाहते हैं, मेजों की पाँचवीं मंजिल पर हमीं दोनों प्रवासी अपने-अपने एकान्त को आपस में बाँटने के लिए बचे रह गये थे। मैत्र्युपनिषद् और उस पर परिव्राजकशिरोमणि रामतीर्थ की टीका आगे कई महीनों तक मेरी सहचरी बनी रही। रामतीर्थ की **'विद्वन्मनोरञ्जनी'**

(वेदान्तसार पर टीका) से पहले परिचय हो चुका था, लेकिन 'दीपिका' से यह नया परिचय था। यह अकाट्य तथ्य है कि रामतीर्थ की टीका के बिना इस उपनिषद् के मर्म को नहीं समझा जा सकता। प्रबल रामभक्त रामतीर्थ की ये दोनों टीकाएँ ही उनका परिचय हैं—इससे अधिक जानकारी उनके विषय में वास्तविक कहीं मिली नहीं।

पाण्डुलिपि की प्रतिलिपि तैयार करने में मेरी पत्नी **श्रीमती निर्मल मोहिनी पाण्डेय** ने विशेष सहयोग किया। कार्य की अवधि में मेरी आत्मजा और आत्मजों—कु. प्रज्ञा, मनीष, मानस और महिम्न को आशीर्वाद देता हूँ, जिन्होंने हमारे अभाव को भी अपने भीतर भाव बनाकर ही रखा।

इसके प्रकाशन में सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय के पूर्व कुलपति **डॉ. मण्डन मिश्र**, वर्तमान कुलपति श्रद्धेय **प्रो. राममूर्ति शर्मा**, जो वेदान्त के अप्रतिम मनीषी तो हैं ही, मेरे अन्यतम शुभैषी भी हैं, तथा आदरणीय **डॉ. हरिश्चन्द्र मणि त्रिपाठी**, प्रकाशन-निदेशक तथा उनकी समर्पित टीम ने जो सहयोग दिया, तदर्थ मैं उनके प्रति हार्दिक कृतज्ञता अनुभव करता हूँ।

।। ब्रह्म सत्यं च पातु माम्।।

ओमप्रकाश पाण्डेय
आचार्य
संस्कृत एवं प्राकृत विभाग
लखनऊ विश्वविद्यालय

लखनऊ,
मङ्गलवार,
१ मई, २००१ ई.।

विषयानुक्रमणिका

पृ.सं.

मैत्र्युपनिषद् मूलभाग

भूमिका

उपनिषत्साहित्य में मैत्र्युपनिषत् का महत्त्वपूर्ण स्थान है। यह कृष्णयजुर्वेदीय मैत्रायणी शाखा का प्रतिनिधित्व करती है। इसके लब्धप्रतिष्ठ टीकाकार रामतीर्थ ने इसे 'मैत्रायणीनां श्रुतिमौलि' कहा है। संक्षेप में इसे 'मैत्र्युपनिषत्' भी कहा जाता है। इस उपनिषत् के आद्य आङ्ग्ल अनुवादक **प्रो॰ कावेल** का अभिमत है कि यह किसी लुप्त ब्राह्मण ग्रन्थ का अंश है। इसके एक हस्तलेख या पाण्डुलिपि में, जो पहले बर्नेल के अधिकार में थी और बाद में मैक्समूलर के पास चली गई, इसे 'मैत्रायणीब्राह्मणोपनिषत्' कहा गया है। यह सम्भावना अस्वाभाविक भी नहीं प्रतीत होती, क्योंकि ऐतरेय, बृहदारण्यक, छान्दोग्य इत्यादि उपनिषद विभिन्न ब्राह्मण ग्रन्थों के अन्तिम भाग के रूप में ही मिलती हैं।

'मैत्रेयी उपनिषद्' के नाम से इसका एक सारांश संकलित संस्करण भी हस्तलेख के रूप में उपलब्ध है। शाखा के साथ ही, 'मैत्री' नाम उपनिषद् के प्रमुख तत्त्ववेत्ता के नाम का भी द्योतक है। प्रतीत होता है कि आचार्य मैत्री से ही मैत्रायणी शाखा का प्रवर्तन हुआ होगा। मैत्रायणी उपनिषत् की गणना तेरह प्रमुख उपनिषदों में की जाती है। शङ्कराचार्य ने यद्यपि इस पर भाष्य तो नहीं रचा, लेकिन ब्रह्मसूत्र-भाष्य में उन्होंने इसका उद्धरण दिया है। इससे सिद्ध होता है कि उन्हें इसकी प्रामाणिकता पर आस्था थी। फिर, विषय की दृष्टि से यह वेदान्त की प्रतिपादिका भी है।

मैत्रायणी उपनिषत् की प्राचीनता के विषय में, विद्वानों के मध्य विभिन्न धारणाएँ दिखलाई देती हैं। मैत्रायणी शाखा की सन्धिजन्य

विशेषताएँ और ध्वनियाँ इसमें यथावत् मिल जाती हैं—इस कारण मैक्समूलर ने, जिन्हें इसका दूसरा आंग्ल अनुवादक होने का श्रेय प्राप्त है, इसे प्राचीन ही माना है[१]।

विण्टरनित्स[२], डायसन[३] और राधाकृष्णन्[४] ने इसे अर्वाचीन कहा है। उनके प्रमुख तर्क इस प्रकार हैं—

१. इसमें वेदविरुद्ध सम्प्रदायों विशेषरूप से बौद्धमत का उल्लेख हुआ है। २. शङ्कराचार्य इसके विषय में पूर्णतया मौन हैं। ३. छान्दोग्य, बृहदारण्यक, काठक, श्वेताश्वतर, प्रश्न इत्यादि उपनिषदों के पुष्कल उद्धरण इसमें मिलते हैं। ४. इसमें 'सुर', 'क्षेत्रज्ञ', 'निर्मम', 'विग्रह', 'नास्तिक्य' इत्यादि शब्दों का उन अर्थों में प्रयोग हुआ है, जो परवर्ती काल के हैं। ५. इसमें सांख्यदर्शन में विकसित तत्त्वों की उपलब्धि होती है।

इन तर्कों में विशेष बल नहीं है, क्योंकि बौद्ध मत का इसमें नाम्ना उल्लेख नहीं हुआ है। 'नैरात्म्यवादी' जिस विचारधारा का उल्लेख है, वह भी बौद्धों का सङ्केत नहीं करती—उससे प्राचीन भारतीय चार्वाकादि मत ही विवक्षित प्रतीत होते हैं। बौद्धसिद्धान्तों का खण्डन या मण्डन तो इसमें दूर-दूर तक नहीं है। अन्य उपनिषदों के वाक्य या वाक्यांश ग्रहण करने की बात जहाँ तक है, वह ब्राह्मणों और उपनिषदों में एक सामान्य प्रवृत्ति है। सांख्य दर्शन का भी इसमें नाम्ना उल्लेख नहीं है—

---

1. **What imparts to this upaniṣad, according to my opinion, an exceptionally genuine and ancient character, is the preservation in it of that peculiar Sandhi, which thanks to the labours of Dr, Von schroder. We now know to be characteristic of this shākhā. In that shākhā final unaccented 'अ' and 'ए' are changed into आ if the next word begins with an accentedvowel except अ Sacred Books of the East, Vol. I & II Intro (The Upanisads).**
२. प्राचीन भारतीय साहित्य, विण्टरनित्स, (हिन्दी अनुवाद), प्रथम खण्ड, प्रथम भाग, पृ. २०७।
३. सिक्स्टी उपनिषत्स, भाग-१, पृष्ठ ३२८-३२९।
४. Principal Upaniṣads, Page 49.

हाँ, कुछ ऐसे विचारों की अस्पष्ट-सी झलक अवश्य इसमें मिल जाती है, जिन्हें आगे चलकर सांख्यसिद्धान्तों में समाविष्ट किया गया।

जहाँ तक मेरी धारणा है, प्रारम्भ के छह प्रपाठक तो निश्चित ही उपनिषदों के युग के हैं—हाँ, अन्तिम प्रपाठक के कुछ अनुवाक अवश्य उतने प्राचीन प्रतीत नहीं होते। सप्तम प्रपाठक के ये अंश उत्तर उपनिषद्युगीन लगते हैं, जब साम्प्रदायिक आग्रह दृढ़ होने लगे थे। शङ्कराचार्य ने संभवतः इस पर भाष्य इसलिए नहीं किया; क्योंकि अन्य उपनिषदों की तुलना में यह उन्हें अप्रेक्षाकृत सुबोध प्रतीत हुई होगी। इस उपनिषत् की प्राचीनता निश्चित ही सूत्रकाल से पहले की है; क्योंकि योगसूत्र (पतञ्जलि-कृत) से उसकी योगविषयक अवधारणाएँ भिन्न हैं। इसमें केवल छह योगाङ्ग माने गये हैं—यम और नियम का समावेश योगाङ्गों में नहीं किया गया है। छह में भी तर्क नामक एक भिन्न योगाङ्ग का समावेश है। पातञ्जल योगसूत्र के विषय में यह कहा जाता है कि उसमें यम और नियम का योगाङ्गों के रूप में समावेश जैनसिद्धान्तों के प्रभाववश किया गया। प्राचीन योगाङ्ग छह ही थे—अभिप्राय यह कि योगाङ्गों के सन्दर्भ में मैत्रायणी उपनिषत् प्राचीन परम्परा की अनुगामी है। यह संयोग की ही बात है कि बौद्धदर्शन में भी छह योगाङ्ग ही माने गये हैं—यम और नियम को वे पञ्चशील में अन्तर्भूत मान लेते हैं।

मैत्रायणी उपनिषत् में योग-साधना का जो स्वरूप मिलता है, वह गीतोक्त परम्परा के अनुरूप प्रतीत होता है। गीता में कहा गया है, कि वास्तव में योग की परम्परा विवस्वान्, मनु, इक्ष्वाकु के क्रम से प्रवर्तित हुई थी, जो बाद में अनेक राजर्षियों को मिली, लेकिन आगे वह छिन्न हो गई।[१] मैत्रायणी उपनिषत् के तत्त्वजिज्ञासु बृहद्रथ भी

---

१. इमं विवस्वते योगं प्रोक्तवानहमव्ययम्। विवस्वान्मनवे प्राह मनुरिक्ष्वाकवेऽब्रवीत्।।
एवं परम्पराप्राप्तमिमं राजर्षयो विदुः। स कालेनेह महता नष्टो योगः परन्तप।।
श्रीमद्भगवद्गीता, ४।१-२।

ऐक्ष्वाक ही हैं। योगाभ्यास के अन्य विधानों में भी अद्‌भुत साम्य है। इसलिए, यह उपनिषत् निश्चित ही सूत्रकाल से पहले की है।

स्वरूप

आकार-प्रकार की दृष्टि से मैत्रायणी उपनिषत् न लघु है और न बृहत् ही। इसका कलेवर मध्यम श्रेणी का है। सम्पूर्ण उपनिषत् सात प्रपाठकों में विभक्त है। प्रपाठकों का अवान्तर विभाजन अनुवाकों में हुआ है। प्रपाठक-क्रम से अनुवाक-संख्या क्रमशः ७,७,५,६,२,३८ और ११ है। सबसे बड़ा और सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण प्रपाठक है छठा, जिसमें उपनिषत् की मूल विचारधारा का प्रतिपादन विस्तृत रूप से हुआ है—एक प्रकार से यही प्रपाठक इसका सर्वस्व है।

मैत्र्युपनिषद् में तत्त्व-चिन्तन और उसके सम्प्रेषण की परम्परा

इस उपनिषत् के आरम्भ में, ब्रह्मविद्याविषयिणी विचारधारा का सम्प्रेषण करते हुए यद्यपि हमें सर्वप्रथम शाकायन्य नामक महानुभाव ही दिखाई देते हैं, लेकिन वे स्वयं इसके चिन्तन का श्रेय नहीं लेते। वे अत्यन्त आदरपूर्वक यह उल्लेख करते हैं कि उन्हें यह ज्ञान की परम्परा भगवान् मैत्रि से मिली। मैत्रि से पहले की कड़ी में बालखिल्य नामक ऋषियों का उल्लेख है, जिन्हें यह ज्ञान क्रतु नामक प्रजापति से प्राप्त हुआ था। इस प्रकार, मैत्रायणी उपनिषत् की तत्त्व-चिन्तन-परम्परा क्रतु संज्ञक प्रजापति से प्रवर्तित हुई, लेकिन उसे विधिवत् पुरोवर्तित करने का श्रेय मैत्रि और उनके पश्चात् शाकायन्य को ही है। बालखिल्यों से यह ज्ञान किसे मिला, इसका उल्लेख इस प्रसङ्ग में नहीं है। मैत्रि का महत्त्व इस कारण भी है कि वे मैत्रायणी शाखा के सम्भवतः प्रवर्तक हैं।

राजा बृहद्रथ एक सच्चे एवं निष्ठावान् तत्त्व-जिज्ञासु के रूप में हमारे सामने अवतरित होते हैं। वे तत्त्व-चिन्तन में दीक्षा लेने से पूर्व

समस्त लौकिक भोगों को भोगने के बाद उनकी वास्तविक निस्सारता को जान चुके हैं, अपने से पहले के अन्य राजर्षियों के जीवन से भी शिक्षा ले चुके हैं तथा यथार्थ वैराग्य से प्रेरित हैं। मैत्रायणी शाखा में उनका वही स्थान है, जो काठक शाखा में नचिकेता का है। नचिकेता की तरह, उनसे भी पहले शाकायन्य ने आत्म-ज्ञान की दुरूहता की चर्चा कर उससे विरत रहने और दूसरा वर माँगने के लिए कहा, लेकिन वे अविचलित रहे और अन्ततः आत्मा के यथार्थ स्वरूप के परिज्ञान में उन्हें सफलता भी मिली। आत्मतत्त्व की जिज्ञासा से पूर्व, सुदीर्घकाल तक वे तपोऽनुष्ठानपूर्वक आत्मशोधन भी करते हुए दिखलाई देते हैं। जहाँ तक शाकायन्य की ऐतिहासिकता का प्रश्न है, उनका उल्लेख अन्यत्र भी है। मैत्रायणी उपनिषत् की तरह काठक संहिता में भी उनका उल्लेख है—

'एतद्ध वा उवाच जातः शाकायन्यः शङ्कौष्यम्' (काठ॰सं॰ २२,७)।

इससे स्पष्ट है कि शाकायन्य मात्र मिथकीय व्यक्ति न होकर एक इतिहाससिद्ध तत्त्व-चिन्तक हैं।

विषयावतरण-क्रम एवं प्रतिपादित विषय

मैत्रायणी उपनिषत् का प्रारम्भ ब्रह्मयज्ञ से अग्नि-चयन की समानता स्थापित करते हुए होता है। कहा गया है कि अग्नि-चयन करने के बाद ही प्राणसंज्ञक आत्मतत्त्व का ध्यान अथवा विचार करना चाहिए। इक्ष्वाकुवंशी सम्राट् बृहद्रथ, जो पुत्र को अपने स्थान पर अभिषिक्त कर लौकिक दृष्टि से आप्तकाम हो चुके हैं, जगत् की अनित्यता को जान चुके हैं तथा तपस्या करते हुए लगभग तीन वर्ष बिता चुके हैं, आत्मवेत्ता महापुरुष शाकायन्य के सम्मुख उपस्थित होकर आत्मतत्त्व को जानने की इच्छा व्यक्त करते हैं। शाकायन्य उन्हें कठिनाइयाँ बताकर आत्मज्ञान की चेष्टा से विरत करने का प्रयत्न करते

हैं, लेकिन बृहद्रथ अपने मार्ग पर अडिग रहते हैं और अन्त में शाकायन्य के सदुपदेशों से सफलता प्राप्त करते हैं।

उपनिषत् का मूल विषय ब्रह्मविद्या ही है, लेकिन उससे पूर्व आत्मा के स्वरूप और उसके साक्षात्कार की विभिन्न प्रविधियों का निरूपण किया गया है। उपनिषद् का लक्ष्य तो साधक को अद्वैततत्त्व की अनुभूति कराना ही है, लेकिन द्वैतभाव की व्यावहारिक उपादेयता को भी यह तिरोहित नहीं करती। निष्कर्षस्वरूप कह सकते हैं कि अद्वैतोन्मुख द्वैत की समीक्षा ही इस उपनिषत् का दृष्टिकोण है। प्रपाठक और अनुवाक-क्रम से इसमें प्रतिपादित विषयवस्तु का विवरण इस प्रकार है—

प्रथम प्रपाठक

१. ब्रह्मयज्ञ के उल्लेखपूर्वक प्राणसंज्ञक आत्मतत्त्व के विचार का प्रस्ताव।

२-३. राजा बृहद्रथ के द्वारा शाकायन्य के सम्मुख आत्मतत्त्व विषयिणी जिज्ञासा की प्रस्तुति, शरीर की निस्सारता का उल्लेख, कामोपभोग की व्यर्थता, पूर्ववर्ती चक्रवर्ती राजाओं के निदर्शन तथा प्राणी की स्थिति जलहीन अन्धे कूप में पड़े मेढ़क के सदृश बतलाना।

द्वितीय प्रपाठक

१. बृहद्रथ की जिज्ञासा कि आत्मा क्या है? यह शरीर, इन्द्रिय, मन, बुद्धि और प्राण में से ही कोई एक है अथवा उससे विलक्षण वस्तु है?

२. उपर्युक्त जिज्ञासा के उत्तर में शाकायन्य के द्वारा आत्मा के सामान्य स्वरूप का निरूपण कि यह स्थूल शरीर से ऊपर उठकर सूक्ष्म शरीर में जानेवाली है, क्षीण न होने वाली है, अन्धकार को हटा देनेवाली है—इत्यादि।

३. शाकायन्य के द्वारा अपनी ज्ञान-परम्परा का उद्घाटन—उनका यह कथन कि उन्होंने ब्रह्मविद्या सीधे उन भगवान् मैत्रि से प्राप्त की, जिनसे बालखिल्य सदृश तेजस्वी ऋषियों ने भी यह ज्ञान अर्जित किया था।

४-५. आत्मतत्त्व का स्वरूप।

६. प्रजापति के द्वारा प्रजा-सृष्टि, तदनन्तर प्रजाओं को सक्रिय करने के लिए प्रजापति का स्वयं उनके भीतर वायु के रूप में प्रवेश। पुरुष वैश्वानर अग्नि के रूप में है, जिसके द्वारा खाया हुआ अन्न पचाया जाता है। बुद्धि में पुरुष की स्थिति मनोमय, प्राणशरीर, प्रकाशस्वरूप, सत्यसङ्कल्प और आकाशात्मा—इन पाँच रूपों में है। पुरुष ही ज्ञानेन्द्रियों के माध्यम से विषयों का सेवन करता है। रथ का रूपक भी यहीं है।

७. आत्मा ही काम्य है, वह अच्छे बुरे कर्मों से अप्रभावित तथा तीनों अवस्थाओं से रहित है। वास्तव में वह अकर्ता है, किन्तु कर्ता के समान प्रतीत होता है।

तृतीय प्रपाठक

१-४. भूतात्मा का विवरण, वही शुभाशुभ कर्मफलों से अभिभूत होती है। 'भूत' शब्द तन्मात्राओं का वाचक है। शरीर ही वास्तव में भूतात्मा है। इसमें आत्मा की स्थिति कमल पर स्थित जल-बिन्दु के सदृश है। गुणों से परिचालित होने के कारण यह कलुषित होकर अपने को ऐसे बाँध लेती है, जैसे बहेलिए के जाल में पक्षी बँध जाते हैं। कर्मानुसार यह विभिन्न योनियों में सञ्चरण करती रहती है। भूतात्मा का कर्तृत्व—वह अनेकत्व को प्राप्त करती है।

५. तमोगुण और रजोगुण जन्य विकृतियाँ—मोह, भय, विषादादि।

चतुर्थ प्रपाठक

१-२. भूतात्मा की प्रवृत्ति, वह किस प्रकार चिदानन्द स्वरूप को प्राप्त करती है।

३-४ आत्मा को भूतात्मा के प्रभाव से मुक्त करने के उपाय, वेदविद्या के द्वारा आत्म-ज्ञान की उपलब्धि, अपने आश्रम-धर्म के अनुरूप आचरण का निर्देश, वेदोक्त कर्म की स्वधर्म रूपता, तपस्या से सत्त्व की प्राप्ति, सत्त्व से मनोबल और उससे पुन: आत्म-ज्ञान की उपलब्धि का विवरण, तपोनुष्ठान से साधक का ब्रह्मप्राप्ति के द्वार तक पहुँचना—तदनन्तर ब्रह्मभाव की उपलब्धि।

५-६. अग्नि, वायु, आदित्य, काल, यम, प्राण, अन्न, ब्रह्मा, रुद्र और विष्णु—इन देवों में से कौन ध्येय है—इसका विचार। अग्न्यादि देवों की परब्रह्मस्वरूपता तथा समस्त जगत् की ब्रह्ममयता।

पञ्चम प्रपाठक

१. ऋषि कुत्सायन के द्वारा साक्षात्कृत ब्रह्म-स्तुति।

२. गुणों के वैषम्य से जगत्सृष्टि का प्रतिपादन-तीन देवों की तीन गुणों से सम्बद्धता का निरूपण।

षष्ठ प्रपाठक

१-२. आत्मा की प्राण और आदित्यात्मकता—एक की शरीर में स्थिति और दूसरे के द्वारा जगत् को प्रकाशित किया जाना। एक बाह्यात्मा और दूसरी अन्तरात्मा। सूर्य की गति और प्राण की गति की समानता। प्राणात्मा का देह के भीतर हृदय-कमल में निवास। आकाश की कमलरूपता, दिशाओं और उपदिशाओं का इसकी पंखुरियों के रूप में विवेचन; प्राण और आदित्य का इसके आस-पास विचरण।

३-५. ओङ्कार और व्याहृतियों के साथ गायत्रीमन्त्र से उपासना; ब्रह्म के मूर्त और अमूर्तरूप, अमूर्त ही सत्य है, वही ब्रह्म है, वही ज्योति है, वही आदित्य है और वही ओङ्कार है। प्रणव और उद्‌गीथ; ओङ्कार, प्राण और आदित्य की नादमयी देह है—अग्नि, वायु और आदित्य इसके तीनों लिङ्ग हैं; ब्रह्मा, रुद्र और विष्णु का इसमें निवास है; गार्हपत्यादि अग्नियाँ इसकी मुख हैं। ऋक्, यजुष् और साम से यह विज्ञानवान् है। भूत, वर्तमान और भविष्य ये तीनों इसके काल हैं; तीनों लोकों से इसकी सम्बद्धता। अन्न, जल और चन्द्रमा से इसका आप्यायन। प्राण, अपान और व्यान से इसकी प्राणवत्ता। ओङ्कार अक्षर की परापर ब्रह्मरूपता।

६-७. तपोनुष्ठान से जगत् के अस्तित्व की विवेचना; ओङ्कार की व्याख्या; भूः, भुवः, स्वः—इन व्याहृतियों से जगत् का कथन; सावित्री मन्त्र की व्याख्या।

८. विभिन्न देवों के साथ आत्मा का समीकरण। इसे जानने की आवश्यकता का प्रतिपादन।

९-१०. आत्मा की आत्मा और परमात्मा के क्रम से उभयात्मकता। अतः आत्मा की ही ध्यातव्यता। मन की शुद्धि के उपाय विशेष प्रकार के आत्म-यज्ञ का विधान। सांख्य-सम्मत महदादि तत्त्वों का कथन; जागतिक तत्त्वों के साथ आत्मा के सम्बन्ध की विवेचना; पुरुष का भोक्तृत्व।

११-१४. अन्नमय प्राण का विवरण; अन्न की काल-कारणता। काल की सूर्य से उत्पत्ति; विभिन्न अयनों, मासों और नक्षत्रादि का विवरण; काल की उपासना ब्रह्मरूप में करने का निर्देश।

१५-१६. ब्रह्म की कालरूपता तथा अकालरूपता; आदित्य से पहले का रूप अकाल और आदित्य से प्रवर्तित रूप सकाल

संवत्सर की प्रजापति, काल, अन्न, ब्रह्मनीड और आत्मा की रूपवत्ता।

१७. परमात्मा के द्वारा आकाशतत्त्व से लेकर समस्त जगत् का चेतामात्र रूप में प्रबोधन। जगत् की उत्पत्ति परमात्मा के ध्यान से हुई है।

१८. प्राणायाम, प्रत्याहार, ध्यान, धारणा, तर्क और समाधि—इन छह अङ्गो से युक्त योगानुष्ठान-पद्धति का निरूपण।

१९-२१. अन्य यौगिक साधनाओं (लम्बिकायोग) का विवरण; निरात्मभाव (उन्मनीभाव) की उपलब्धि का उपाय।

२२. ब्रह्म के शब्द और अशब्दरूपों के ध्यान की विधि। ओङ्कार की इन दोनों के मध्य में स्थिति। नाद-साधना की विधि।

२३-२४. ओङ्कारोपासना-विधि।

२५. योग का 'योग' नाम जोड़ने के कारण पड़ा; क्योंकि साधक प्राण, ओङ्कार और अनेकरूपात्मक समस्त विश्व को एक साथ जोड़ता है अथवा ये सभी उनके लिए अपने को जोड़ते हैं। इससे प्राण, मन और इन्द्रियों की एकता। समस्त हानिकारक भावों का तिरोधान।

२६. मछेरे की उपमा—जैसे मछेरा जल में रहनेवाली मछलियों को जाल से पकड़कर उनसे उदराग्नि में होम करता है, वैसे ही साधक प्राणों को ओङ्कार के माध्यम से ऊपर उठ कर आत्मा अथवा ब्रह्मरूपी निर्दोष अग्नि में होम करता है। इससे वह तपी हुई पृथ्वी की तरह हो जाता है—अप्राणतत्त्व प्राणतत्त्व के संस्पर्श से प्रदीप्त हो उठता है।

२७. एकाग्रता के अभ्यास से चित्त की वासनाएँ वैसे ही नष्ट हो जाती हैं, जैसे जमीन में गड़ा हुआ टुकड़ा शीघ्र ही

मिट्टी में मिल जाता है, और कुम्हार के काम का नहीं रहता है।

२८-२९. द्वारपाल का रूपक—यह द्वारपाल सम्मोहन, तृष्णा, ईर्ष्या, आलस्य, निद्रा, पाप, अभिमान, क्रोध, लोभ तथा कामनाओं के रूप में ब्रह्मप्राप्ति के द्वार पर प्रथम बाधा के रूप में अड़ा है, जिसका निवारण संन्यास, धैर्य और ओङ्कार-साधना के द्वारा ही किया जा सकता है। तदनन्तर योगाभ्यास के द्वारा अन्नमयादि विभिन्न कोशों को पार करके आनन्दमय कोश तक पहुँचने का आह्वान किया गया है। यह उपलब्धि छह मास में सम्भव है। ब्रह्मविद्या का प्रतिपादन करके शाकायन्य का मौनावलम्बन।

३०. योगसाधना की सामान्यविधि। स्वाध्याय, यम-नियमों के पालन तथा अध्यवसाय, सङ्कल्प एवं अभिमान के परित्याग पर विशेष बल। शाकायन्य-बृहद्रथ-संवाद की सम्पन्नता। सृष्टि, स्वर्ग और अपवर्ग—इन सबके मूल कारण के रूप में आदित्य का कथन।

३१. आत्मा के द्वारा ही इन्द्रियादि की प्रवृत्ति का निरूपण।

३२. आत्मा सत्य की भी सत्य है—उसी से प्राणों, लोकों, वेदों, देवों और प्राणियों के आविर्भाव का कथन।

३३-३४. अग्निहोत्र विषयिणी उपासना का विधान। अग्निहोत्र की आध्यात्मिक दृष्टि से की गई प्रतीकात्मक व्याख्या। ध्यान के आलम्ब का निरूपण। चित्त की शान्ति और प्रसन्नता का उपपादन। अमनीभाव का निरूपण।

३५. अग्निप्रभृति देवों की मन्त्रमयी स्तुति।

३६. ब्रह्मज्योति की द्विविध रूपता—प्रथम शान्त है, और दूसरा समृद्ध अर्थात् सजीव है। अग्निष्टोमादि के अनुष्ठान का महत्त्व। अध्यात्म-साधना में कर्मकाण्ड की उपादेयता।

३७. ओङ्कार के माध्यम से परमात्मा की उपासना का विधान। अग्निहोत्र का महत्त्व।

३८. अग्निहोत्र।

सप्तम प्रपाठक

१-७. इसके प्रथम सात अनुवाकों में सविता की उपासना विभिन्न देवों, छन्दों, स्तोमों और ऋतुओं इत्यादि के पारस्परिक सम्बन्ध के निरूपण-पूर्वक की गई है। सप्तम अनुवाक में आत्मा के महत्त्व का प्रतिपादन है।

८. आत्मज्ञान-प्राप्ति के मार्ग की बाधाएँ—इसी के साथ ज्ञान-प्राप्ति के अनधिकारियों का भी निरूपण।

९. नैरात्म्यवादी विचारधारा के उद्‌भव का पौराणिक विवरण—इस विचारधारा के अध्ययन का निषेध। अनुवाक के अन्त में कठोपनिषत् के तीन मन्त्रों के आत्मज्ञान के सन्दर्भ में उद्धरण।

१०. प्रजापति के द्वारा देवों को आत्मवादी ज्ञान-दान और असुरों को नैरात्म्यवादी ज्ञान-दान।

११. समस्त तैजस तत्त्व की एकता और सहिष्णुता। आत्मज्ञान के अनन्तर साधक की स्थिति।

विषय-वस्तु का विश्लेषण

इस प्रकार मैत्रायणी उपनिषत् की प्रतिपाद्य विषय-वस्तु अत्यन्त व्यापक, व्यवस्थित और व्यावहारिक है। आत्मा और परमात्मा, जीवात्मा और भूतात्मा, अध्यात्म और कर्मकाण्ड, योगाभ्यास और आत्मचिन्तन—इन सभी के समुचित समाधान का प्रयत्न इसमें परिलक्षित होता है। अध्यात्म के सैद्धान्तिक पक्षों के साथ ही व्यावहारिक और आचारनिष्ठ पक्षों का भी इसमें यथोचित सन्निवेश हुआ है।

भाषा और शैली

इस उपनिषद् की भाषा सामान्यत: ब्राह्मणग्रन्थों की भाषा के सदृश है, लेकिन मैत्रायणी शाखागत विभिन्न भाषिक विलक्षणताएँ इसमें उल्लेखनीय हैं, जिनका स्पष्टीकरण अनुवादगत टिप्पणियों में कर दिया गया है। स्पष्टता और सुबोध प्रतिपादन की शैली इसे वैशिष्ट्य प्रदान करती है।

उपलब्ध भाष्य, विभिन्न संस्करण और अनुवाद

यह प्रायेण विदित तथ्य है कि इस पर आद्यशङ्कराचार्य का भाष्य नहीं मिलता। लेकिन परिव्राजकशिरोमणि रामतीर्थ की 'दीपिका' टीका उसके अभाव को अनुभव नहीं होने देती। रामतीर्थ की व्याख्या अत्यन्त वैदुष्यपूर्ण तथा शास्त्रीय उद्धरणों और अवतरणों से सम्पन्न है। यह विशद और विस्तृत व्याख्या मूल के अभिप्राय को पूरी तरह स्पष्ट कर देती है। टीकाकार का योग-साधना विषयक अत्यन्त गम्भीर अनुभव भी इसमें सहायक सिद्ध हुआ है। इस टीका के साथ मैत्रायणी उपनिषत् का (सम्भवत:) सर्व प्रथम भारतीय संस्करण सन् १८९५ ई॰ में, आज से १०६ वर्ष पूर्व, आनन्दाश्रम, पूना से 'उपनिषदां समुच्चय:' के अन्तर्गत प्रकाशित हुआ था। यह संस्करण आज दुर्लभ हो गया है। इसके बाद, २०वीं शताब्दी के छठे दशक के मध्य में, वैदिक संशोधन मण्डल से प्रकाशित उपनिषदों के एक संग्रह में इसका मूलभाग मात्र प्रकाशित हुआ है। हस्तलेखों के आधार पर, इसके कुछ अंग्रेजी-अनुवाद[१] तो १९वीं शताब्दी में ही प्रकाशित हो गये थे, जिनमें ई॰बी॰कावेल तथा मैक्समूलर-कृत अंग्रेजी अनुवाद[१] क्रमश: १८७० तथा १८८४ ई॰ में प्रकाशित हैं। डॉ॰ राधाकृष्णन् ने भी इसका अंग्रेजी में अनुवाद किया है, जो १९५३ ई. में छपा है[२]। फ्राँसीसी भाषा में इसका अनुवाद किया है प्रो॰ लुई रेनू ने, जो पेरिस से प्रकाशित है।

●

---

1. The Upaniṣads, Sacred Books of the East, Vol. I, 1879, Vol.II, 1884.
2. Principal Ppaniṣads, George Allen & Nwin Ltd., London, 1953.
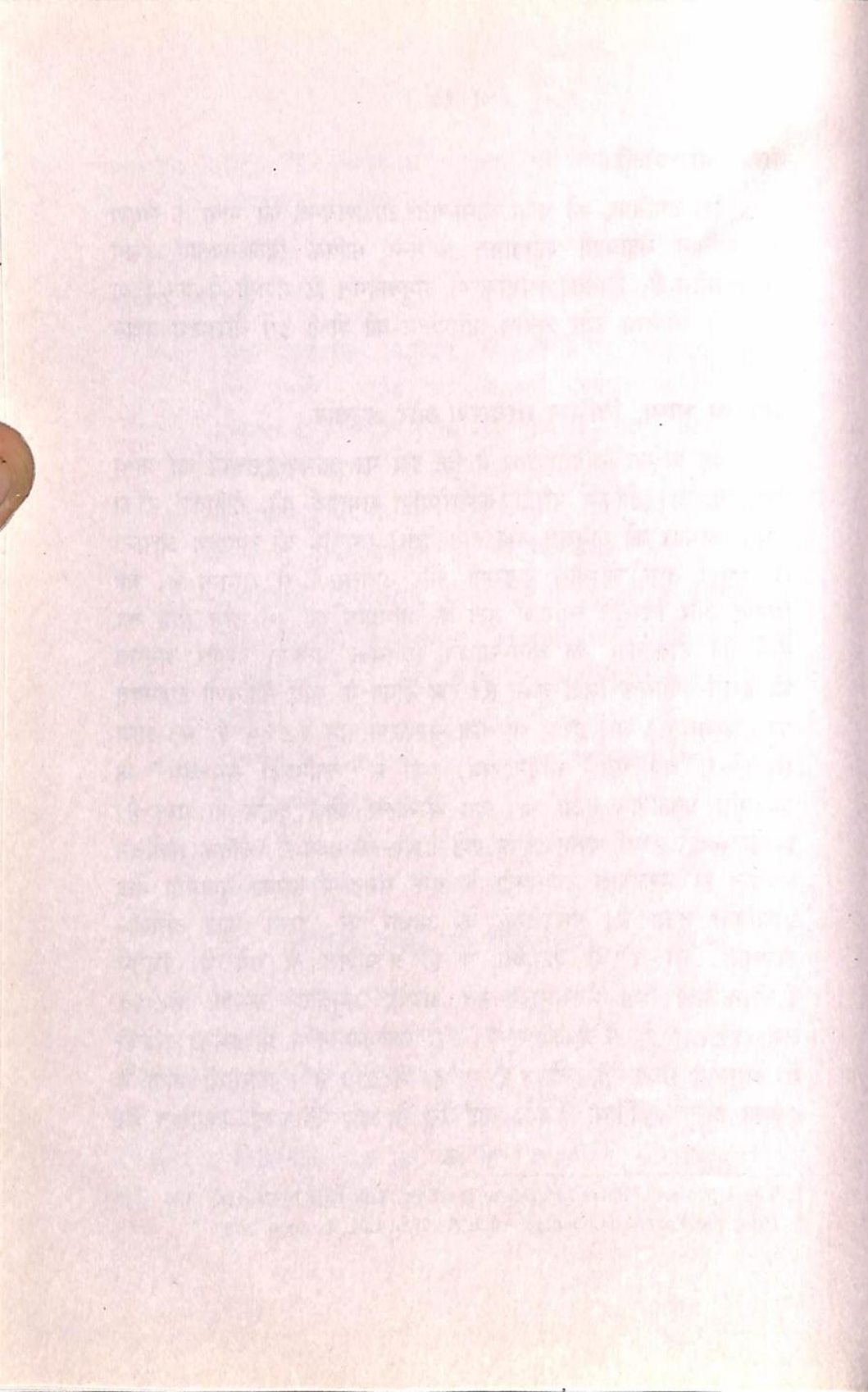
।। ॐ तत्सद्ब्रह्मणे नमः ।।

हिन्दीव्याख्योपेता श्रीरामतीर्थविरचितदीपिकासमेता

मैत्र्युपनिषत्

गणाधिपतिमस्वल्पविघ्नग्रासं महोदरम् ।
विपदुत्सारणाभ्यासलम्बीकृतकरं नुमः ।।१।।

प्रणम्य रामं प्रणताभयप्रदं गुरूँस्तथा कृष्णमुखांस्तदात्मनः ।
मैत्रायणीनां श्रुतिमौलिमर्थतः प्रसाध्य विष्णोः परमे पदेऽर्पये ।।२।।

'ब्रह्मयज्ञो वा एषः' इत्याद्या मैत्रायणानामुपनिषत्[२]तस्याः पूर्वकाण्डेन सम्बन्धः काण्डचतुष्टयात्मके पूर्वस्मिन् ग्रन्थेऽनेकानि कर्माण्यग्निहोत्रादीनि विहितानि तानि चोच्चावचफलार्थतया श्रुतानि। यद्यपि तथाऽपि न परमपुरुषार्थपर्यवसितानि, यतः साध्यफलानि तानि, साध्यं चानित्यं ''यत्कृतकं तदनित्यम्'' इति नियमात्। श्रुतिश्चात्र भवति 'तद्यथेह कर्मचितो लोकः क्षीयत एवमेवामुत्र पुण्यचितो लोकः क्षीयते'' (छान्दो०अ० ८) इति। 'यदिह वा अप्यनेवंविन्महत्पुण्यं कर्म करोति तद्धास्यान्ततः क्षीयत एव'' (बृहदा०, अ० १ ब्रा० ४) इति च। तथा ''यो वा एतदक्षरं गार्ग्यविदित्वाऽस्मिँल्लोके जुहोति यजते तपस्तप्यते बहूनि वर्षसहस्राण्यन्तवदेवास्य तद्भवति'' (बृहदा०, अ० ३ ब्रा० ८) इति च। तस्मात्स्वभावतो नित्यनिरतिशयपुरुषार्थार्थिनः पुंसोऽभिलषितसाधनोपायप्रदर्शनाय प्रवर्तमानो वेदोऽनादिभवपरम्परानुभूतानेकविषयवासनावासितान्तःकरणं वासनापरवशतया प्रवर्तमानं विषयासक्तमानसं प्रति सहसा विषयप्रवणतापरावर्तनेन परमपुरुषार्थरूपाविद्यानिवृत्तिपरमानन्दाविर्भावसाधनप्रत्यगात्मतत्त्वब्रह्मप्रवणतामापाद्य परं ब्रह्मात्मतत्त्वं बोधयितु-

मशक्नुवन्नादौ कर्माण्येव पुरुषार्थसाधनतयोपदिशति, पुनस्तत्रैव निष्ठां सम्पाद्य तन्निष्ठस्य नित्यनैमित्तिककर्मानुष्ठानप्रभावतः शनैः शुध्यमानान्तः-करणस्य पुनरीश्वरार्पणबुद्ध्यैव निष्कामकर्मानुष्ठानादतितरां शुद्धान्तःकरणस्य नित्यानित्यवस्तुविवेकवत इहामूत्रार्थभोगरागशून्यस्य शमदमादिसाधनवतो मोक्षमात्राकाङ्क्षिणोऽधिकारसम्पत्तिमालक्ष्य प्रत्यगात्मतत्त्वं ब्रह्माध्यारोपा पवादन्यायेनावगमय्य स्वयं च तेनैवावगमेन सह तस्मिन्नेवाऽऽत्मतत्त्वे ब्रह्मणि विलीयमानो ब्रह्मात्ममात्राद्वयं सत्यज्ञानानन्तानन्दैकरसमवतिष्ठत इति पूर्वा-परभावेन कर्मज्ञानकाण्डयोर्हेतुहेतुमद्भावः सिद्धः। तदनेन व्याख्येयोत्तर-काण्डस्य विषयप्रयोजनाधिकारिणो दर्शिताः। विषयस्य चाऽऽत्मतत्त्वस्य वेदान्तापरमानासिद्धतया व्याख्येयग्रन्थप्रतिपाद्यताऽर्थात्सिद्धेति सिद्धानुबन्ध-चतुष्टयमिमं ग्रन्थं पदशो यथामति व्याख्यास्यामः। पूर्वत्र चयनादिकर्माऽऽ-म्नातं तच्चाग्निष्टोमातिरिक्तानां सर्वेषां यज्ञक्रतूनां साधारणं तावता सर्वाण्येव कर्माण्युपलक्षणत्वेन गृहीतानि, तथा च सर्वेषां कर्मणां परमात्मज्ञान-जन्मोपकारकत्वेन परमपुरुषार्थहेतुत्वं दर्शयितुं श्रुतिः प्रववृते—

ब्रह्मयज्ञो वा एष यत्पूर्वेषां चयनम्।

यदिदं पूर्वेषां कर्मप्रकरणोक्तानां कर्मणां चयनं चयनादि सर्व कर्मैष ब्रह्मणः परमात्मनो यज्ञो यजनं पूजनं वै प्रसिद्धम् 'यज्ञो वै विष्णुर्यज्ञेनैव यज्ञं सन्तनोति'' इति श्रुत्यन्तरात्। अत्र चयनग्रहणमस्यां शाखायां प्रथम-काण्डे चयनस्याऽऽम्नानात् । पूर्वत्र विहितानि सर्वाणि कर्माणि परमेश्वरार्पण-बुद्ध्या फलासक्तिं परित्यज्यानुष्ठेयानीति तात्पर्यार्थः। तथा च भगवानाह—

''ब्रह्मण्याधाय कर्माणि सङ्गं त्यक्त्वा करोति यः ।
लिप्यते न स पापेन पद्मपत्रमिवाम्भसा'' ।। इति।

(गी० ५।१०)

तस्माद्यजमानश्चित्वैतानग्नीनात्मानमभिध्यायेत् ।

यजमानः कर्मण्यधिकृत एतान्पूर्वोक्तानग्नींश्चित्वाऽग्निचयनानन्तरं सर्वं कर्म यथाधिकारं निर्वर्त्य तत्प्रभावलब्धान्तःकरणशुद्धिः सन्नात्मानं प्रत्यञ्चं

वक्ष्यमाणलक्षणमभ्यसितः सर्वात्मब्रह्मभावेन ध्यायेन्निरन्तरं चिन्तयेदित्यर्थः। अत्र क्त्वाप्रत्ययनिर्देशोऽनुष्ठानात्मध्यानयोर्नैरन्तर्यपरो न भवति, किन्तु पूर्वकालत्वमात्रपरः, तथा चास्मिञ्जन्मनि जन्मान्तरे वा वृत्तकर्मानुष्ठान-कृतशुद्ध्यतिशयफलं विविदिषां प्राप्य कर्मभ्यो व्युत्थाय प्रत्यक्तत्त्वब्रह्म-विचारपरो भवेदित्यभिप्रायः।

एवं सति किं स्यादित्येतदाह—

स पूर्णः खलु वा अद्धाऽविकलः सम्पद्यते यज्ञः।

स यज्ञः प्रागनुष्ठितः खलु निश्चितं वै प्रसिद्धमद्धा साक्षान्निरुपमचरितं पूर्णः पूर्णफलः सम्पद्यते। यद्वा स यज्ञो यजमानः 'यज्ञो वै यजमानः' इति श्रुतेः, पूर्णोऽध्यात्मपरिच्छेदाभिमानहान्याऽनवच्छिन्नः परमात्मा सम्पद्यते, अद्धा खलु वा इत्युक्तार्थम्।

आत्मानमभिध्यायेदित्युक्तं ध्येयमात्मानं प्रश्नप्रतिवचनाभ्यां सङ्क्षेपतो निर्दिशति—

कः सोऽभिध्येयोऽयं यः प्राणाख्यः।

स आत्माऽभिध्येयः पूर्वोक्त कः किं स्वरूपः किंप्रमाणश्चेति प्रश्नभागार्थः। यः प्राणाख्यः प्राणेन प्राणनेन प्राणनादिव्यापारेणाऽऽख्यायते प्रख्यायतेऽस्तीति निश्चीयत इति प्राणाख्योऽयं स ध्येय आत्मेति प्रतिवचनभागार्थः। तथा च श्रुतिः—"को ह्येवान्यात्कः प्राण्यादेष आकाश आनन्दो न स्यात्" (तैत्ति०उ०) इति "यः प्राणेन प्राणिति स त आत्मा सर्वान्तरः" (बृहदा०अ० ३ ब्रा० ४) इत्याद्या च। यो देहादिसङ्घात-साक्ष्यात्मा सोऽभिध्येय इत्यर्थः।

उक्तार्थसङ्ग्रहप्रपञ्चनं प्रतिजानीते—

तस्योपाख्यानम् ।।१।।

तस्य प्राणाख्यस्याऽऽत्मन उप समीप आख्यानं तत्स्वभावस्य स्पष्टकथनमारभ्यत इति वाक्यशेषः।।१।।

भाषा—पूर्व अग्नियों का चयन [संज्ञक] यह [कर्म] ब्रह्मयज्ञ[1] है। इसलिए यजमान इन अग्नियों का चयन करके अपनी आत्मा के विषय में [सर्वात्म ब्रह्मभाव से] निरन्तर ध्यान अर्थात् चिन्तन करे। [इससे] वह यज्ञ वास्तव में पूर्ण अर्थात् सफल तथा अविकल रूप से सम्पन्न हो जाता है। वह [आत्म] तत्त्व क्या है जिसका विचार किया जाये? [इसका उत्तर यह है कि] वह प्राणसंज्ञक है। उसी का यह स्पष्ट प्रतिपादन है।।१।।

बृहद्रथो वै नाम राजा विराज्ये पुत्रं निधापयित्वा ।

बृहद्रथो वा इत्याद्याख्यायिका सुखावबोधार्था तपोवैराग्ययोरात्मज्ञानाङ्गत्वख्यापनार्था च। **बृहद्रथो० निधापयित्वेति**। विविधं राज्यमस्मिन्निति विराज्यं तस्मिन्विराज्ये सार्वभौम आधिपत्य इत्यर्थः। निधापयित्वा मन्त्रिभिर्निधानं स्थापनं कारयित्वेत्यर्थः। राज्यस्थेमं पुत्रमभिषिच्येति यावत् ।

स्वयं जीवति सति पुत्रस्य राज्यदाने निमित्तमाह—

इदमशाश्वतं मन्यमानः शरीरं वैराग्यमुपेतोऽरण्यं निर्जगाम ।

इदं शरीरमशाश्वतमनित्यं मन्यमान इति सम्बन्धः। वैराग्यं रागनिवृत्तिमुपेत ऐहिकामुष्मिकभोगरागविनिर्मुक्त इत्यर्थः। अरण्यं ग्राम्यजनवर्जितं विविक्तमभयं देशं प्रति निर्जगाम प्रस्थित इत्यर्थः।

स तत्र परमं तप आस्थायाऽऽदित्यमुदीक्षमाण ऊर्ध्वबाहुस्तिष्ठति।

तत्रारण्ये स राजा बृहद्रथनामा परमं दुष्करं कायशोषलक्षणं तप आस्थायोर्ध्वबाहूरूर्ध्वीकृतबाहुद्वय आदित्यं सवितारमुदीक्षमाणः सवितर्यारोपितदृष्टिः संस्तिष्ठत्यतिष्ठदित्यर्थः।

तपसि स्थिरचित्तानामभीष्टसिद्धिरवश्यंभाविनीत्यभिप्रेत्याऽऽह—

अन्ते सहस्रस्य मुनेरन्तिकमाजगामाग्निरिवाधूमक-
स्तेजसा निर्दहन्निवाऽऽत्मविद्भगवाञ्शाकायन्यः—

---

१. **ब्रह्मयज्ञ**—मनुस्मृति (३.१०) और श्वेता० उप० (२.७) के अनुसार अध्यापन कर्म ब्रह्मयज्ञ है।

सहस्रस्य संवत्सराणामिति शेषः। एवं तपसि स्थितस्य राज्ञः संवत्सराणां सहस्रस्यान्ते भगवाञ्शाकायन्योऽन्तिकमाजगामेति सम्बन्धः। सहस्राहस्येति पाठे सहस्रदिवसात्मककालस्यान्त इति योज्यम्। शाकायनस्यापत्यं शाकायन्यस्तन्नामा कश्चिदृषिस्तस्याभीष्टवरदानसामर्थ्यद्योतनाय विशेषणानि। **अधूमकोऽग्निरिवेति**। उपशान्तविक्षेप इत्यर्थः। तेजसा स्वप्रभया ब्रह्मवर्चसेनेति यावत्। निर्दहन्निवान्यानभिभवन्निवेत्यनेनाज्ञानसंशयादिप्रतिबन्धरहितं तत्त्वज्ञानमस्यास्तीति द्योतितम्। कुत एवं प्रभावोऽयमित्यतो विशिनष्टि—**आत्मविदिति**। आत्मतत्त्ववित्त्वे लिङ्गमाह—**भगवानिति**।

"उत्पत्तिं प्रलयं चैव भूतानामागतिं गतिम् ।
वेत्ति विद्यामविद्यां च स वाच्यो भगवानिति"।।
(विष्णु०पु०, अं० ६ अ० ५)

इति स्मृत्युक्तो भगवच्छब्दार्थः। सर्वज्ञ इत्यर्थः।

आगत्य किं कृतवानिति तदाह—

—'उत्तिष्ठोत्तिष्ठ वरं वृणीष्वेति' राजानमब्रवीत्।

स्पष्टोऽर्थः।

ततो राजकृतमाह—

स तस्मै नमः कृत्वोवाच ।

तस्मै शाकायन्याय स राजा नमो नमनं नमस्कारं कृत्वा तं दण्डवत्प्रणम्योवाचोक्तवान्।

किमुवाचेति तदाह—

भगवन्नाहमात्मवित्त्वं तत्त्वविच्छुश्रुमो वयं स त्वं नो ब्रूहीति ।

इत्युवाचेति सम्बन्धः। हे भगवन्पूजावन्नहमात्मविन्न। आत्मतत्त्वविन्न भवामीत्यर्थः। त्वं तत्त्वविदात्मतत्त्वस्य वेत्ता। इति शब्दोऽत्राध्याहार्यः। इति

वयं शुश्रुम। विसर्गान्तपाठश्छान्दसः। अतः स त्वमात्मतत्त्वं नोऽस्मभ्यं ब्रूहि प्रतिपादयेत्यर्थः।

एवं पृष्टवते शाकायन्यः किमाहेत्येतदाह—

एतद्वृत्तं पुरस्ताद्दुःशक्यमेतत्प्रश्नमैक्ष्वा-
कान् यान् कामान् वृणीष्वेति शाकायन्यः ।

यत्त्वया पृष्टमात्मतत्त्वमेतद्वस्तु पुरस्तादतीते काले वृत्तं सिद्धं निर्णीतं पूर्वतरैर्ऋषिभिरिति योज्यम्। इदानीं त्वेतत्प्रश्नं दुःशक्यम्। लिङ्गव्यत्ययेनैष प्रश्नो दुःशक्यो दुःशक इत्यर्थः। यद्वैतद्वृत्तमेतस्याऽऽत्मतत्त्वस्य वृत्तं याथात्म्यमेतत्प्रश्नं प्रश्नवचनं च पुरस्तात्। प्रथमं चित्तैकाग्रयादिति योज्यम्। दुःशक्यं दुःशकं वक्तुं श्रोतुं च दुर्लभमेतदित्यर्थः। तथा च **श्रुतिस्मृती**—

''श्रवणायापि बहुभिर्यो न लभ्यः शृण्वन्तोऽपि बहवो यं न विद्युः।
आश्चर्यो वक्ता कुशलोऽस्य लब्धा आश्चर्यो ज्ञाता कुशलानुशिष्टः'' ।।
(कठोप०) इति।

''आश्चर्यवत्पश्यति कश्चिदेनमाश्चर्यवद्वदति तथैव चान्यः ।
आश्चर्यवच्चैनमन्यः शृणोति श्रुत्वाऽप्येनं वेद न चैव कश्चित्'' ।।इति।
(गी०, २/२९)

हे ऐक्ष्वाकेक्ष्वाकुकुलोद्भव, अन्यान् कामान् स्वर्गभोगानप्सरः-प्रभृतीनैहिकान् वा धनतरुणीप्रभृतीन्वृणीष्व प्रार्थयेथा इति शाकायन्य उवाचेत्यनुषङ्गः।

ततो राजवृत्तान्तमाह—

शिरसाऽस्य चरणावभिमृशमानो राजेमां गाथां जगाद ।।२।।

इमां बुद्धिस्थां वक्ष्यमाणां गाथां यथास्थितार्थां कथां जगादोक्तवान् राजा। सुगममन्यत् ।।२।।

बृहद्रथ[1] भा०—नाम के राजा अपने वैराज्य[2] कोटि के राज्य में [अपने स्थान पर अपने] पुत्र को आसीन करके, इस शरीर को अनित्य मानते हुए विरक्त होकर वन को चले गये। वे वहाँ परम तपस्या में लीन होकर, सूर्य पर दृष्टि को केन्द्रित किये हुए [तथा] ऊपर हाथ उठाये हुए स्थित रहे। [इस प्रकार तपस्या करते हुए उन्हें जब] एक हजार दिन बीत गये [तब] उनके सम्मुख धूमरहित अग्नि के सदृश तेज से देदीप्यमान आत्मवेत्ता भगवान् शाकायन्य पधारे। [उन्होंने] राजा से कहा—'उठो, उठो! वर माँगो'। राजा ने उन्हें नमस्कार करके कहा—'भगवन्! मैं आत्मतत्त्व के ज्ञान से रहित हूँ और आप उसके ज्ञाता हैं, [ऐसा] हमने सुना है। [इसलिए] आप हमें उसका उपदेश कीजिए'। [इस पर] शाकायन्य[3] ने कहा—'हे इक्ष्वाकुवंशी राजन्! यह विषय और प्रश्न[4] तो पहले से ही अत्यन्त कठिन है। [इसलिए] अन्य कामनाओं का वर के रूप में [तुम] वरण करो। राजा ने [यह सुनकर] अपने शिरसे [शाकायन्य के] चरणों को रगड़ते हुए यह गाथा कही।।२।।

यदुक्तमन्यान् कामान् वृणीष्वेति तत्र भोगायतनस्य स्वभावालोचनायां न कामः कामाय कल्पत इति द्योतयन् स्थूलशरीरं तावद्बीभत्सितं वर्णयति—

---

१. **बृहद्रथ**—ऋग्वेद (१.३६.१८तथा १०.४९.६) में इस नाम के राजा का उल्लेख भी मिलता है।

२. **विराज्य**—वैदिक वाङ्मय में, विशेषरूप से ऐतरेय ब्राह्मण (७.३२) में राज्यों का अनेक प्रकार से वर्गीकरण किया गया है; ये हैं—राज्य, साम्राज्य, भौज्य, स्वाराज्य, वैराज्य, पारमेष्ठ्य, माहाराज्य, आधिपत्य इत्यादि। मैत्रा० उप० के एक हस्त लेखगत पाठान्तर में 'विराज्ये' के स्थान पर 'वैराज्ये' पाठ भी है। टीकाकार रामतीर्थ के अनुसार 'वैराज्य' का अभिप्राय सार्वभौम चक्रवर्तित्व है।

३. **शाकायन्य**—मैत्रायणी शाखा के साथ अन्य ग्रन्थों में भी ऋषि शाकायन्य का उल्लेख मिलता है। उदाहरण के लिए काठक संहिता (२२.७) का यह वचन उल्लेख्य है—'एतद्ध वा उवाच जातः शाकायन्यः शङ्गं कौष्यम्।' इससे प्रतीत होता है कि ये एक प्राचीन तत्त्ववेत्ता ऋषि हैं।

४. **प्रश्नम्**—'प्रश्न' शब्द लौकिक संस्कृत-व्याकरण में सामान्यतः पुंल्लिङ्ग में प्रयुक्त होता है। विद्वानों का विचार है। कि यहाँ इसका प्रयोग 'प्रष्टुम्' (पूछने के लिए) के अर्थ में हुआ है ।।२।।

भगवन्नस्थिचर्मस्नायुमज्जामांसशुक्रशोणितश्लेष्माश्रुदूषिकाविण्मूत्र-वातपित्तकफसङ्घाते दुर्गन्धे निःसारेऽस्मिञ्शरीरे किं कामोपभोगैः?

श्लेष्मा सिङ्घाणको नासाद्वारकमलः, दूषिका नेत्रमलः, कफो हृत्कण्ठरोधी पिच्छिलो मल इति भेदः। अस्थ्यादिसङ्घाते घने दुःसहगन्धे कदलीस्तम्भवन्निःसारेऽन्तःसारवर्जितेऽस्मिन् स्थूले शरीरे वर्तमानस्येति शेषः। किं कामोपभोगैः कार्यम्। आघातं नीयमानस्य वध्यस्येव भोजनाच्छादनालङ्कारादि न तोषमुपैष्यतीत्यभिप्रायः।

न केवलमिदं शरीरं स्वतो बीभत्सितत्वात्कामानर्हमपि त्वतिबल-वदरिनिवहैरभिभूयमानत्वादपीत्याह—

कामक्रोधलोभमोहभयविषादेर्ष्येष्टवियोगानिष्टसम्प्रयोगक्षुत्पिपासा-जरामृत्युरोगशोकाद्यैरभिहतेऽस्मिञ्शरीरे किं कामोपभोगैः ।।३।।

कामोऽप्राप्ताभिलाषः। क्रोधः प्रसिद्धः। लोभः प्राप्तेष्वपि विषयेष्वलं-बुद्धिराहित्यम्। मोहोऽनर्थेऽर्थबुद्धिः। भयं परित्रासः। विषादः शोकः। ईर्ष्या परप्रद्वेषः। इष्टवियोगः स्वानुकूलपुत्राद्यनुबन्धवैकल्यम्। अनिष्टसम्प्रयोगः स्वप्रतिकूलानुबन्धसङ्कलनम्। एताभ्यां दुःखं लक्ष्यते। एवमेतेऽन्तः-करणधर्माः। क्षुत्पिपासे प्राणधर्मा। जरादयो देहधर्मा आगन्तुकाः। शोकः शोकनिमित्तो देहावसादः कार्श्यमिति यावत्। आदिशब्दाद्वृद्धिविपरिणामौ गृह्येते। अन्यदुक्तार्थम् ।।३।।

भगवन्! यह शरीर हड्डी, चाम, नस, नाड़ियों, मज्जा, मांस, शुक्र, रक्त, श्लेष्मा (नासिकागत दुर्गन्धित प्रवाहजन्य मल), आँख के कीचड़, मल-मूत्र, वात, पित्त और कफ का सम्मिलित रूप है। [साथ ही] दुर्गन्धित और निःसार [भी] है [इसलिए] कामनाओं के उपभोग से [भला] क्या [वास्तविक] लाभ हो सकता है? काम, क्रोध, लोभ, मोह, भय, ईर्ष्या, प्रिय [जनों एवं प्रिय वस्तुओं] से बिछुड़ने, अप्रिय [जनों एवं घटनाओं से] मुठभेड़, भूख-प्यास, वृद्धावस्था, मृत्यु, रोग और शोक इत्यादि से यह शरीर पीड़ित होता रहता है—इसलिए कामोपभोग से [प्राणी का भला] क्या [वास्तविक कल्याण हो सकता] है?।।३।।

एवंविधोऽपि सङ्घातो यदि चिरस्थायी स्थिरः स्यात्तदा कथञ्चिदपि विषकीटवदभिलष्येत नैवमस्तीत्याह—

सर्वं चेदं क्षयिष्णु पश्यामो यथेमे
दंशमशकादय स्तृणवनस्पतयोद्भूतप्रध्वंसिनः[१] ।।

सर्वं चेदं यथावर्णितं सङ्घातरूपं क्षयशीलं नश्वरं पश्यामो निर्धारयाम इति प्रतिज्ञा, तत्र हेतुरुद्भूतप्रध्वंसित्वादिति योज्यम्। कादाचित्कत्वादित्यर्थः। यथेम इत्यादि प्रध्वंसिन इत्यन्तं निदर्शनमिति विभागः। तथा चायं प्रयोगः, विमतः सङ्घातोऽशाश्वत उत्पन्नप्रध्वंसित्वाद्य एवं स एवं यथेमे दृश्यमाना दंशमशकादयो यथा वा तृणवनस्पतय उद्भूतप्रध्वंसिनोऽशाश्वतास्तथा चायं तस्मात्तथेति। वनस्पतयोद्भूतेति सन्धिश्छान्दसः। वोकारो वाऽत्र लुप्तो द्रष्टव्यः।

उक्तदृष्टान्तेष्वप्रकृष्टकर्मजत्वमुपाधिमाशङ्क्य तस्याप्रयोजकतां दर्शयन् प्रकृष्टकर्मजेष्वप्यशाश्वततामाविष्करोति—

अथ किमेतैर्वा परेऽन्ये महाधनुर्धराश्चक्रवर्तिनः केचित् ।

अन्यच्चेत्यस्मिन्नर्थेऽथशब्दः। एतैरुदाहृतैः क्षुद्रजन्तुस्थावरैः किम् । वाशब्दोऽनादरे। पर उत्कृष्टा अन्य उक्तेभ्यो महाधनुर्धरा महाशूराश्चक्रवर्तिनः सार्वभौमाश्च केचिदस्माल्लोकादमुं लोकं प्रयाता इत्युत्तरेणान्वयः।

तानेव चक्रवर्तिनः कांश्चिद्गणयति—

सुद्युम्नभूरिद्युम्नेन्द्रद्युम्नकुवलयाश्वयौवनाश्ववध्र्यश्वाश्वपति-शशविन्दुहरिश्चन्द्राम्बरीषननक्तुशर्यातिययात्यनरण्यक्षसेनादयः ।

अत्राश्वपतिः शशबिन्दुरित्यादिपदविच्छेद-पाठश्छान्दसः प्रामादिको वा। एते सूर्यसोमवंशजा राजान उक्ताः।

---

१. वनस्पतयोद्भूत प्रध्वंसिनः—यह दोहरी संन्धि [वनस्पतयः उद्भूत प्रध्वंसिनः] का उदाहरण है। इस प्रकार की सन्धि मैत्रायणी शाखा में बहुधा मिलती है।

एतेष्वपि विशिष्टतरानन्यानुदाहरति—

अथ [1]मरुत्तभरत[2]प्रभृतयो राजानो

मरुत्तो नाम संवर्तकेन योगिना याजितो राजा यस्य यागे समागता इन्द्रादयः सायुधा एव स्तम्भिता पुनश्च चमसाध्वर्यवे नियुक्ताः सः। भरतो दौष्यन्तिर्येनाश्वमेधानां त्रिशती कृता सः। प्रभृतिरित्यादिपदपर्यायेण प्रियव्रतादयो गृह्यन्ते।

किं तदाह—

मिषतो बन्धुवर्गस्य महतीं श्रियं त्यक्त्वाऽस्माल्लोकादमुं लोकं प्रयाता इति ।।

बन्धुवर्गस्य भोग्यजातस्य मिषतः पश्यतो जीवत एव सतोऽक्षुण्णस्येति यावत्। महतीमपरिमितां श्रियं विभूतिं त्यक्त्वाऽनिच्छन्तोऽपि तां परित्यज्यास्मात्प्रतिपन्नाल्लोकाद्देहादमुं लोकं परोक्षं प्रयाता नष्टा बभूवुरिति निश्चितमित्यर्थः।

एवं मनुष्यशरीराणामुत्कृष्टानामप्यनित्यतामुदाहृत्यामनुष्येष्वप्युत्कर्षतारतम्येन स्थितेष्वनित्यतामावेदयन्नादौ तेषु निकृष्टाननुक्रमते—

अथ किमेतैर्वा परेऽन्ये गन्धर्वासुरयक्षराक्षसभूतगणपिशाचोरगग्रहादीनां निरोधं पश्यामः।

अथाप्येतैः पूर्वोक्तैः किं वेतोऽप्यन्ये परे चिरस्थायितयोत्कृष्टाः सन्ति तेषां गन्धर्वादीनां निरोधं नाशं पश्याम इति योजना। पिशाचा उन्मादापस्मारादयः। ग्रहा बालग्रहा मातृकादयः। अन्ये प्रसिद्धाः।

---

१. मरुत्त—इस नाम के राजा का उल्लेख ऐत. ब्रा॰ [८.२१] तथा शतपथ ब्राह्मण [१३.५.४६] में भी है। रामतीर्थ के अनुसार संवर्तक योगी ने मरुत्त से यज्ञ कराया था।

२. भरत—शतपथ ब्राह्मण के अनुसार राजा भरत दुःष्यन्त के पुत्र हैं– 'तेन हैतेन भरतो दौःषन्तिरीजे' [१३.५.४.११]

अथ किमेतैर्वाऽन्यानां शोषणं महार्णवानां शिखरिणां प्रपतनं ध्रुवस्य प्रचलनं व्रश्चनं वातरज्जूनां निमज्जनं पृथिव्याः स्थानापसरणं सुराणामित्येतद्विधेऽस्मिन् संसारे किं कामोपभोगैः ।

अथाप्येतैरुक्तैः किं वातोऽपि स्थिरत्वेन प्रतिपन्नानामन्यानामन्येषामित्येतत्। स्थिरतां न पश्याम इति योजना। यतः शोषणं महार्णवानां प्रलयकाले। अर्णानामिति पाठेऽर्णास्र्यिहन्तीत्यर्णा नद्यस्तासां शोषणं महार्णवानां च शोषणमिति योजनीयम्। शिखरिणां महामेरुप्रभृतीनां गिरीणां प्रपतनमुच्छेदः। ध्रुवस्य सर्वज्योतिश्चक्रावलम्बनस्य प्रचलनं स्वमण्डलात्प्रच्यवनम्। वातरज्जूनां वातमयानां रज्जूनां शिशुमारचक्रबन्धनानां व्रश्चनं छेदनम्। पृथिव्या अपि सप्तद्वीपवत्या निमज्जनमुदकान्तर्लयः। एवं स्थाननाशे तत्स्थानां सुराणां ब्रह्मादीनां तस्मात्तस्मात्स्थानादपसरणमपसर्पणं स्थानभ्रष्टतया क्षीणभोगत्वम्। इतीत्थमेतद्विध एतादृक्प्रकारे सर्वथा नश्वरेऽस्मिन् ब्रह्मादिस्तम्बपर्यन्ते संसारे किं कामोपभोगैरिति व्याख्यातम्।

भोगस्थानानां भोग्यदेहेन्द्रियविषयाणां तद्विशिष्टभोक्तॄणां चानित्यत्वं प्रसाध्य भोगानामपि तत्प्रसाधयति—

यैरेवाशितस्यासकृदिहाऽऽवर्तनं दृश्यते ।

यैरशितस्य भोजितस्य ब्रह्मलोकपर्यन्तेषु स्थानेषु तर्पितस्य पुंस इह मनुष्यलोकेऽसकृन्मुहुरावर्तनमावृत्तिर्दृश्यते तैरनित्यैः कामोपभोगैः किं ममेत्यर्थः। तदनेन प्रबन्धेनानात्मविषयो वरः प्रत्याख्यातोऽनेन चाऽऽत्मज्ञानयोग्यता दर्शिता।

एवं गुरुवैराग्यं विवेकपूर्वकमुपवर्ण्य स्थितो गुरोरनुग्रहदृष्टिमालक्ष्य तत्पादोपसर्पणं विद्योपदेशग्रहणाङ्गं विदधद्गुरुं प्रार्थयते—

इत्युद्धर्तुमर्हसि ।

यतोऽहं निर्विण्णोऽस्म्यतो मामुद्धर्तुमर्हसीत्युक्तवानित्यर्थः। कुत उद्धरणं तदाह—

अन्धोदपानस्थो भेक इवाहमस्मिन् संसारे भगवंस्त्वं नो गतिस्त्वं नो गतिः ।।४।।

।। इति मैत्र्युपनिषदि प्रथमः प्रपाठकः ।।१।।

अन्धोदपानं निरुदकः कूपस्तत्र स्थितो भेको मण्डूक इवास्मिन् यथावर्णिते संसारे स्थितो दुःख्यस्मीत्यस्मादुद्धर्तुमर्हसीत्यर्थः। कोऽप्यन्यस्त्वामुद्धरिष्यतीति मा शङ्किष्ठा इत्याह—भगवंस्त्वं नो गतिस्त्वं नो गतिरिति। अभ्यास आदरार्थोऽध्यायसमाप्तिद्योतनार्थो वा ।।४।।

।। इति श्रीरामतीर्थविरचितायां मैत्र्युपनिषद्दीपिकायां प्रथमः प्रपाठकः ।।१।।

और पुनः हम देखते हैं कि यह सब नश्वर है। जैसे ये [कीड़े-मकोड़े] बिच्छू और मच्छर इत्यादि तथा घास-फूस एवं वनस्पतियाँ उत्पन्न होती हैं और नष्ट हो जाती हैं। अथवा इनसे क्या! [इन की ही बात क्यों की जाये, क्योंकि ये तो छोटी-छोटी चीजें हैं] दूसरे [अर्थात् बड़े-बड़े लोगों के उदाहरण दिये जा सकते हैं, जैसे] अन्य बड़े-बड़े धनुर्धर चक्रवर्ती [हुए] हैं — [उनमें से] कुछ [ये] हैं—सुद्युम्न, भूरिद्युम्न, इन्द्रद्युम्न, कुवलयाश्व, यौवनाश्व, वध्र्यश्व, अश्वपति, शशबिन्दु, हरिश्चन्द्र, अम्बरीश, नहुष[१], शर्याति, ययाति, अनरणि और अक्षसेन इत्यादि। इस [सूची] के अनन्तर मरुत्त और भरत इत्यादि राजागण बन्धुजनों के बहाने बहुत बड़ी लक्ष्मी का परित्याग करके इस लोक से परलोक को चले गये और [फिर] इनकी ही चर्चा से क्या? [अर्थात् मृत्युलोक के प्राणी होने के कारण इनकी मृत्यु तो होनी ही थी]। अन्य गन्धर्व, असुर, यक्ष, राक्षस, भूतगण, पिशाच और तिर्यग्गामी ग्रहों इत्यादि का भी नियन्त्रण हम देखते हैं। इनके [उल्लेख] से ही क्या? बड़े-बड़े समुद्रों का सूख जाना, पर्वतों का पतन, स्थिर वस्तुओं का चलने लगना, वायुनिर्मित रज्जुओं [अर्थात शिशुमारचक्र बन्धन इत्यादि] का कट जाना, [सप्तद्वीपवती इस] वसुधा का प्रलयकाल में। डूब जाना, असुरों का अपने स्थान से हटना इत्यादि। इस प्रकार के इस संसार में कामो- पभोगों से क्या [लाभ] है? इनके द्वारा कुतरे गये प्राणी का इस संसार में बार-बार आवागमन दिखाई देता है। इसलिए आप ही हमारा उद्धार करने में समर्थ हैं। जैसे जलहीन अन्धे कुएँ में पड़े मेढक की स्थिति है, उसी प्रकार मेरी भी इस संसार में [दुःखमयी स्थिति] है, जिससे आप ही हमें निकाल सकते हैं ।।४।।

।। इस प्रकार प्रथम प्रपाठक सम्पन्न हुआ ।।१।।

---

१. नहुष तथा ननक्तु—कुछ हस्तलेखों में नहुष के स्थान पर 'ननक्तु' पाठान्तर भी मिलता है। वैसे विद्वानों ने यहाँ 'ननक्तु' से भी 'नहुष' का ही सन्दर्भ ग्रहण किया है।

अथ द्वितीयः प्रपाठकः

एवं वरान्तरैः प्रलोभ्यमानोऽप्यप्रचलिततया सुपरीक्षितो जिज्ञासुरुपसन्नः शिष्यो न गुरुणोपेक्षणीय इति गुरोः प्रवृत्तिं दर्शयति श्रुतिः—

अथ भगवाञ्शाकायन्यः सुप्रीतस्त्वब्रवीद्राजानम्—

स्पष्टोऽर्थः।

किमब्रवीदिति तदाह—

महाराज बृहद्रथेक्ष्वाकुवंशध्वज! शीघ्रमात्मज्ञः
कृतकृत्यस्त्वं मरुन्नाम्नेति विश्रुतोऽसीति ।।

महाराजेत्यादिशिष्यप्रशंसा वक्ष्यमाणार्थग्रहणयोग्यतां तस्य सूचयितुम् । प्रशस्यमानो हि गुरोः प्रसन्नतां बुद्ध्वा तदुक्तार्थे श्रद्धानतया तमवधारयति। वंशध्वजत्वं तत्ख्यातिकरत्वम्। त्वं शीघ्रमात्मज्ञः संवत्सरवासशुश्रूषादिविलम्बं विना मत्त आत्मज्ञानं प्राप्नोषि यतोऽतः कृतकृत्यस्त्वमिति। इति शब्दोऽग्रेतन इह ज्ञेयः। इति हेतोर्मरुन्नाम्ना मरुतो वायोर्यन्नाम पृषदश्व इति तेन नाम्ना विश्रुतोऽसीति योजना। पृषन्तो महान्तोऽश्वा यस्य रथे भवन्ति स पृषदश्वो वायुः। महाश्वयुक्तरथो हि महान् भवतीति महारथ उच्यते वायुरयमपि तत्पर्यायत्वाद्बृहद्रथ इति ख्यातिमापन्न इत्यर्थः। अथवा जगत्प्राण इति यद्वायोर्नाम तेन नाम्नेदानीं विश्रुतोऽसीति योजना। मत्प्रसादात्त्वं जगदात्मा संवृतोऽसीत्यभिप्रायः।

यदर्थमयमुपसन्नो राजा गुरुं तमात्मानमुपदिशति—

अयं वाव खल्वात्मा ते

ते तवाहं ममेति सङ्घातमनुभवतोऽयं वावायमेवानुभविताऽऽत्मा खलु नात्र संशयः कार्य इत्यर्थः।

कोऽसावनुभवितेति पृच्छति—

यः कतमो भगवा इति

यस्त्वयोक्त आत्मा स कतमो भगवा हे भगवो देहेन्द्रियमनोबुद्धिप्राणानां मध्ये किमन्यतमः किं वा तद्विलक्षणोऽन्य इति प्रश्नार्थः। तत्र सङ्घातविलक्षण एवाऽऽत्मेति गुरुरुत्तरं प्रतिजज्ञ इत्याह श्रुतिः—

तं हो वाचेति ।।१।।

इतिशब्द ऐतिह्यार्थेऽनुवाकसमाप्त्यर्थे वा।।१।।

इसके पश्चात् अतिप्रसन्न भगवान् शाकायन्य राजा [बृहद्रथ] से बोले—'इक्ष्वाकुवंश की पताकास्वरूप हे महाराज बृहद्रथ! तुम तो मरुत् [वायु-महारथी] के नाम से विख्यात हो, शीघ्र ही [तुम] आत्मतत्त्व का ज्ञान प्राप्त करके कृतकृत्य होगे। यह तुम्हारी आत्मा ही है [जो सर्वस्व स्वरूप है] ' [इस पर राजा ने पुनः पूछा] भगवन् कौन-सी आत्मा है? [अभिप्राय यह कि शरीर, इन्द्रिय, मन, बुद्धि, और प्राण में से ही कोई आत्मा है या इनसे विलक्षण कोई तत्त्व है?]' 'उन [राजा] से [उन शाकायन्य ने] कहा।।१।।

पूर्वमयं वावाऽऽत्मेति जागरितेऽनुभविताऽऽत्मेति प्रदर्शितं तेन च स्थूलशरीरादन्यत्वमुक्तम्। इदानीं सूक्ष्मस्य प्राणान्तःकरणसङ्घातस्य द्रष्टृत्वशङ्कापाकरणेन ततो विविक्तमात्मानमुपदिशति—

अथ य एष उच्छ्वासाविष्टम्भनेनोर्ध्वमुत्क्रान्तो
[1]व्ययमानोऽव्ययमानस्तमः प्रणुदत्येष आत्मा ।।

१. 'व्ययमानोऽव्ययमानः' के स्थान पर कुछ हस्तलेखों में 'व्यथमानोऽव्यथमानः पाठान्तर भी है। इसमें से एक को 'अव्ययमानः' और दूसरे को 'अव्यथमान' मान लेने से सन्दर्भ की सङ्गति अच्छी तरह बैठ जाती है। टीकाकार रामतीर्थ ने 'व्ययमानोऽव्ययमानः' पाठ ही माना है। उनकी व्याख्या इस प्रकार है—'विविधमयमानो नानावासनावासितान्तःकरणविकाराननुभवँस्तत्तदात्मना विप्रसृत इव भासमानोऽपि परमार्थतो निश्चल एव—'अभिप्राय यह कि आत्मा यद्यपि ऊपर से अनेक संस्कारों से ग्रस्त होने के कारण उस प्रकार की प्रतीत अवश्य होती है, लेकिन वास्तव में वह स्थिर स्वरूपवाली ही है। इस पूरे अनुवाक की ही दो-दो व्याख्याएँ रामतीर्थ ने की हैं। इस व्याख्या पर वेदान्त के परवर्ती ग्रन्थों और ग्रन्थकारों का निश्चित ही विशेष प्रभाव है।

अथ जाग्रद्भोगहेतुकर्मोपरमानन्तरं स्वप्नभोगोद्भवकाले य एष विद्वत्प्रत्यक्ष उच्छ्वासस्योच्छ्वासनिश्वासव्यापारवतः प्राणस्याविष्टम्भनेनानिरोधेनोर्ध्वमुपरि स्थूलाश्रयं सूक्ष्ममूर्ध्वमुपरीति चोच्यते तत्रत्युत्क्रान्तः स्थूलशरीराभिमानं परित्यज्य सूक्ष्मशरीरमभिमन्यमान इत्यर्थः। व्ययमानो विविधमयमानो नानावासनावासितान्तःकरणविकाराननुभवंस्तत्तदात्मना विप्रसृत इव भासमानोऽपि परमार्थतोऽव्ययमानो निश्चल एव संस्तमो मोहलक्षणं प्रणुदति प्रेरयति पश्चात्क्रमेण मोहमाविशति जाग्रद्दृष्टं नानुसन्धत्त इत्यर्थः। एष आत्मा यः स्वप्ने करणानामुपरमाद्बाह्यान् विषयाननुभवन् वासनामयांश्चानुभवन् प्राणेन स्थूलं च देहं परिपालयन्नास्त एष आत्मेत्यर्थः। तथा श्रुत्यन्तरम्—

प्राणेन रक्षन्नवरं कुलायं बहिष्कुलायादमृतश्चरित्वा।
स ईयतेऽमृतो यत्र कामं हिरण्मयः पुरुष एकहंसः'' ।।
(बृहदा०अ० ४ ब्रा० ३) इति।

उक्तेऽस्मिन्नात्मनि प्रत्ययदार्ढ्याय वृद्धसम्मतिमाह—

इत्याह भगवान् मैत्रिः।

मैत्रिर्मित्राया अपत्यमृषिर्मैत्रिर्मैत्रेयः।

वृत्तमर्थं श्रुतिः स्वमुखेनाऽऽह—

इत्येवं ह्याह।

शाकायन्य इत्याह भगवान् मैत्रिरित्येवं हि राजानं प्रत्याहेत्यर्थः।

येनाहं ममेत्यनभिमन्यमानानामिदं स्थूलं शरीरं निर्व्यापारं पतति तदनु च येन प्रकाशितं प्राणान्तःकरणरूपं लिङ्गं विषयाकारेण व्याप्रियते स आत्मा तवेत्युक्तमिदानीमेतस्यापि सूक्ष्मस्य यत्र तमोमात्रेण कारणात्मनि लयो लीनप्रपञ्चश्च यत्स्वभावोऽवतिष्ठते स मुख्य आत्मा साक्षादेव तमात्मेति गृहाणेत्याह—

अथ य एष सम्प्रसादोऽस्माच्छरीरात्समुत्थाय परं

ज्योतिरुपसम्पद्य स्वेन रूपेणाभिनिष्पद्यत इत्येष आत्मेति होवाचैतदमृतमभयमेतद् ब्रह्मेति ।।२।।

अथ स्वप्नदर्शनहेतुकर्मक्षये सति पुनर्जाग्रन्निमित्तकर्मानुद्भवे य एष स्वप्नविषयसाक्षी सम्प्रसादः सम्यक्प्रसीदत्यत्रेति सम्प्रसादः सुषुप्तिस्तदवस्थ आत्मेह सम्प्रसाद उच्यते। स्थूलसूक्ष्मोपाधिद्वयविलापनेन तत्सम्पर्कजनितकालुष्यविलयात्सम्प्रसन्नः सुषुप्तौ पुरुषो भवति। स सम्प्रसादोऽस्मात्पूर्वगृहीताच्छरीराद्देहद्वयात्समुत्थाय सम्यगुत्थाय तद्विस्मृत्य तदभिमानं परित्यज्येति यावत्। परं प्रविलीनप्रपञ्चकारणं ज्योतिः प्रकाशमात्रस्वभावमुपसम्पद्य तदेकात्मभावेन सम्पद्य स्वेनासाधारणेन रूपेणाभिनिष्पद्यते जीवावस्थामभिभूय स्वस्वरूपमुपगतो भवत्येवं क्रमेण येन स्वरूपेणाभिनिष्पद्यत एष आत्मेति होवाच शाकायन्य इति श्रुतेर्वचनमिदम्। एवंविधात्मस्वरूपज्ञाने सति ज्ञातव्यं नावशिष्यते कर्तव्यं वा प्राप्तव्यं वा किमपीत्याह। एतदमृतमभयमेतद्ब्रह्मेति होवाचेति सम्बन्धः। अमृतमविनश्वरमत एवाभयमप्रकम्प्यमेतदेव ब्रह्म परिपूर्णमद्वयानन्दरूपमित्यर्थः। अतस्त्वं कृतकृत्योऽसीत्यभिप्रायः।

अस्यानुवाकस्यापरा व्याख्या—पूर्वानुवाकेऽयं वाव खल्वात्मा त इति सामान्यतोऽनिर्धारितविशेष आत्मोपदिष्टस्तद्विशेषवुभुत्सया यः कतम इति पृष्टे तं विशेषतो वक्तुं प्रतिजज्ञे। तत्राऽऽत्मनो निर्विशेषस्वभावत्वा-द्विशेषतो निर्वक्तुमशक्यत्वादुपाध्याकारजनितविशेषप्रविलापनेन निर्विशेष-मात्मानं दर्शयितुमारभते—**अथ य एष उच्छ्वासाविष्टम्भनेनेत्यादिना**। अथ यदि विशेषमात्मनोऽवगन्तुमिच्छसीत्यर्थः। तर्हि शृणु। यस्तुभ्यं मयोक्त एष एवोच्छ्वासाविष्टम्भनेनोर्ध्वश्वासो यो मरणकाले भवति स उच्छ्वासस्तस्याऽऽसमन्ताद्विष्टम्भनं निरोधस्तेन तन्निरोधं कृत्वा देहान्तः-सञ्चारिणं प्राणमाश्रित्येत्यर्थः। ऊर्ध्वं हृदयात्कण्ठं कण्ठाच्च शिरःपर्यन्त-मुत्क्रान्तो विप्रसृतः। उपलक्षणमेतत्। अपश्वासमाविष्टभ्य हृदयादधोऽप्यप-क्रान्त आपादतलमस्तकमयःपिण्डमिव सन्तपन्नग्निश्चेतनतामापादयन् व्याप्य, व्यवस्थित इत्यर्थः। तत्रैवं स्थितस्तत्तदिन्द्रियद्वारकबुद्धिवृत्तिभि-

र्व्ययमानो विविधं शब्दादिविषयाकारेणायमान: प्रवर्तमानस्तत्तद्विषयाकार-बुद्धिवृत्त्यध्यासेन द्रष्टा श्रोता मन्तेत्याद्यनेकरूपतयाऽऽत्मव्यहारमनुभवन्निति यावत्। तथाऽपि स्वरूपतस्त्वव्ययमानोऽप्रचलितस्वभाव: कूटस्थ इति यावत्। तमो विषयानभिव्यक्तिलक्षणं प्रणुदत्यपसारयति विषयेषु स्वचैतन्यकर्माऽऽपादयंस्तेषामज्ञातताम‌पनयतीत्यर्थ:। एवं यो व्यवहरन्ने-तद्देहमवष्टभ्याऽऽस्त एष आत्मेत्यादि व्याख्यातम्। तथा च मन्त्रवर्ण:—"सर्वाणि रूपाणि विचित्य धीरो नामानि कृत्वाऽभिवदन्यदास्ते" इति। एवं सोपाधिमात्मानमुपाधिद्वारोपलक्ष्य तमेव पुनरुपाधिविलापनेन निरुपाधिकं शुद्धमात्मान-मुपस्थाप्य तस्य ब्रह्मरूपत्वमुपदेष्टुं प्रवर्तते—**अथ य एष सम्प्रसाद इत्यादिना**। व्याख्यानं समानम् ।।२।।

'और जो यह उच्छवास लेने से ऊपर उठ जाती है, [अर्थात् प्राण को न रोकने से जो स्थूल शरीर से ऊपर उठकर सूक्ष्म शरीर में चली जाती है] व्यथित नही होती और न क्षीण ही होती है, अन्धकार को हटा देती है, वही आत्मा है।' इस प्रकार भगवान् मैत्रि ने कहा है। और इस प्रकार से [भी] कहा है—'और यह जो सम्यक् रीति से प्रसन्नता का भाव है, जो इस शरीर से उठकर परम ज्योति की निकटता प्राप्त कर लेती है, यह आत्मा है'—यह उन्होंने कहा। यह अमृत, निर्भय और ब्रह्म [स्वरूप] है।।२।।

एवं सङ्क्षेपत आत्मतत्त्वमुपदिश्य शाकायन्य: पुनर्विस्तरेण तस्याऽऽत्मन: स्वभावमुपदेष्टुकाम: स्वाचार्यद्वारा स्वस्यैतद्विद्याप्राप्ति दर्शयति। सङ्क्षेपविस्तराभ्यां हि निरूप्यमाणोऽर्थ: सुखावबोधो दृढनिश्चयश्चाऽऽपद्यत इत्यत आह—

अथ खल्वियं ब्रह्मविद्या सर्वोपनिषद्विद्या वा राजन्नस्माकं भगवता मैत्रिणाऽऽख्याताऽहं ते कथयिष्यामीति ।

अथशब्द उत्तरारम्भार्थ:। हे राजन् बृहद्रथ! यदिदमात्मतत्त्वज्ञानं मया तुभ्यमुक्तमियं खलु ब्रह्मविद्या सर्वशाखोपनिषत्प्रतिपाद्या वा विद्या। वा शब्दश्चार्थे। सा चेयमेव नान्याऽस्माकं भगवता मैत्रिणा गुरुणाऽऽख्याता

कथिता तामेवाहं कथयिष्यामि। तेन मह्यं येन प्रकारेणोक्तं तेनैव प्रकारेण महदाख्यानेन निरूपयिष्यामीत्यर्थः। अयमाशयः सङ्घातविलक्षणस्तत्साक्ष्यात्मैव ब्रह्मेति यदिदमेतच्छाखाप्रवक्तुर्मैत्रेराचार्यस्य मतं तत्सर्वशाखासम्मतं सर्वब्रह्मवित्सम्मतं च न पुनस्तार्किकसमयवत्परस्परविगीतमतो दृढविश्वासः कर्तव्य इति।

किं तन्महतां पूर्ववृत्तमाख्यानं मैत्रिणोक्तमित्यभिमुखीभवन्तं शिष्यं प्रत्याख्यायिकामाह—

अथापहतपाप्मानस्तिग्मतेजसा ऊर्ध्वरेतसो वालखिल्या इति श्रूयन्ते ।

अथेदानीमिदं शृणु। किम् । अपहतपाप्मानस्तपोनिर्धूतकल्मषाः। तिग्मतेजसस्तीव्रतेजसोऽत्यूर्जितप्रभावाः। तेजसा इत्येवंविध एतच्छाखासङ्केतपाठश्छान्दसः सर्वत्र। ऊर्ध्वरेतसोऽस्खलितब्रह्मचर्या जितेन्द्रिया इति यावत्। वालखिल्या वालखिल्यसंज्ञा इत्येवंविधा ऋषयः श्रूयन्ते श्रुतिस्मृतिपुराणेष्वित्यर्थः।

किं तत इत्यपेक्षायामाह—

अथ कदाचित्ते क्रतुनामानं प्रजापतिं गत्वाऽब्रुवन्नुक्तवन्त इत्यर्थः।

किमब्रुवन्निति तदाह—

भगवञ्शकटमिवाचेतनमिदं शरीरं कस्यैष खल्वीदृशो महिमाऽतीन्द्रियभूतस्य येनैतद्विधमेतच्चेतनवत्प्रतिष्ठापितं प्रचोदयिता वाऽस्य यद्भगवन् वेत्सि तदस्माकं ब्रूहीति तान् होवाचेति ।।३।।

हे भगवन् प्रजापत इदं शरीर सावयवत्वाद्रूपादिमत्त्वाच्च शकटमिवान इवाचेतनं जडमेवमपि चेतनावदिव शकटविलक्षणमनुभूयतेऽतः पृच्छामो येनैतद्विधमेतच्छरीरं चेतनवत्प्रतिष्ठापितं स एष महिमा माहात्म्यं कस्य खल्वतीन्द्रियभूतस्यादृश्यस्याग्राह्यस्य सत ईदृश एतादृशः को वाऽस्य चेतयितेति प्रश्नार्थः। किञ्च प्रचोदयिता वाऽस्य शरीरस्य शाकटिक इव शकटस्य प्रेरयिता वा कोऽस्ति। यदत्र

चेतयितृत्वेन प्रेरयितृत्वेनानुगतं वेत्सि, हे भगवँस्तदस्माकं ब्रूहीत्यब्रुवन्निति पूर्वेणान्वय:। तान् होवाचेति श्रुतिवचनम्। तान् प्रति प्रजापतिर्होवाचोक्तवानुत्तरमित्यर्थ: ।।३।।

राजन्! यह [आत्मतत्त्वज्ञान] ब्रह्म विद्या है अथवा सभी उपनिषदों में निरूपित विद्या है। [हमारे प्रति] इसका प्रतिपादन हमारे पूज्य [गुरु] भगवान् मैत्रि ने किया है। मैं तुम्हें वहीं बतलाऊँगा। सुना जाता है कि [ऋषि] वालखिल्य[1] नष्ट हुए पापों वाले, तीव्रतेज से युक्त तथा ऊर्ध्वरेता अर्थात् ब्रह्मचारी हैं। [उन्होंने] क्रतु नामक प्रजापति से कहा—'भगवन्! यह शरीर शकट अर्थात् छकड़े के समान अचेतन है। किस अतीन्द्रिय तत्त्व की ऐसी महिमा है, जिसने इस प्रकार के अचेतन शरीर को चेतन की तरह प्रतिष्ठापित कर दिया है? इसे प्रेरित करके [संचालित] करने वाला [तत्त्व] कौन-सा है— भगवन्! यदि आप इस [रहस्य] को जानते हों, तो [कृपया] हमें बतलाइए।' उन [वालखिल्यों] से उन्होंने कहा।।३।।

---

१. ऐतरेय ड६.२६. और शतपथ ड८.३.४१. दोनो ही ब्राह्मणों ने प्राणों को वालखिल्य कहा है—'प्राणा वै वालखिल्या:।' शतपथ ने नाम की निर्वचनात्मिका व्याख्या भी कर दी है—'प्राणानेवैतदुपधावति यद्वालखिल्या नाम।' तैत्तिरीय आरण्यक ड१.२३.३. में कहा गया है कि प्रजापति के बालों से वालखिल्य संज्ञक ऋषि उत्पन्न हुए 'स तपोऽतप्यत, स तपस्तप्त्वा शरीरमधूनुत। तस्य यन्मांसमासीत्ततोऽरुणा: केतवो वातरशना ऋषय उदतिष्ठन्। ये नखास्ते वैखानसा, ये वालास्ते वालाखिल्या:'।

एक ऋग्वेदीय मन्त्र ड१०.२७.१५. की व्याख्या करते हुए आचार्य सायण ने बतलाया है कि प्रजापति के शरीर के उत्तरभाग से वालखिल्यादि आठ ऋषि उत्पन्न हुए 'अष्टसंख्याका: प्रसिद्धा: वालखिल्यादय = उत्तरात् कायप्रदेशात् ड उत्पन्ना बभूवु: ।' वाल्मीकीय रामायण ड३.६. १-२. के अनुसार ये ऋषि समुद्रतटवर्ती प्रदेश में रहते थे। महाभारत ड आदिपर्व, २६वाँ अध्याय में वालखिल्य ऋषियों को अङ्गुष्ठप्रमाण बतलाया गया है। वहीं यह भी कहा गया है कि इनकी संख्या साठ हजार थी। ज्ञात होता है कि ये ऋषि किसी कारणवश इन्द्र से अप्रसन्न थे, इसलिए उन्होंने इन्द्र का अभिमान दलित करने का प्रयत्न किया था। ऋग्वेद के कुछ खिलमन्त्रों को भी वालखिल्य ऋषियों के नाम से सम्बन्द्ध किया गया है। वास्तव में, उपलब्ध साक्ष्यों के विश्लेषण से स्पष्ट

यो ह[1] खलु वावोपरिस्थः[2] श्रूयते।

ह स्फुटम्। खलुशब्दो वाक्यालङ्कारार्थः। वावशब्दोऽवधारणे। य एवोपरिस्थः सर्वस्य प्रपञ्चस्योपरि निष्प्रपञ्चे स्वरूपेऽवस्थितः। यद्वा वाक्यशब्दो भिन्नक्रमः। यो ह खलूपरिस्थित एव प्रपञ्चान्तरनुगम्यमानोऽपि न तस्मिन् स्थितः किन्त्वसङ्गतया प्रपञ्चातीते स्वस्वरूपे स्थित एव सन् स्वचैतन्याभासेन प्रपञ्चमवभासयंस्तत्र स्थित इव भवति, न वस्तुतस्तत्रास्ति। तस्य स्वात्मन्यध्यस्तस्य मिथ्यात्वादित्यभिप्रायः। तथा च श्रूयते—'वृक्ष इव स्तब्धो दिवि तिष्ठत्येकस्तेनेदं पूर्णं पुरुषेण सर्वम्'। इति श्रुत्यन्तर इत्यर्थः।

प्रपञ्चानुगतस्यापि तद्धर्मास्पृष्टत्वेन तत उपरिस्थत्वे दृष्टान्तमाह—

गुणेष्विवोर्ध्वरेतसः स वा एष शुद्धः पूतः शून्यः शान्तोऽप्राणो [3]निरात्माऽनन्तोऽक्षय्यः स्थिरः शाश्वतोऽजः स्वतन्त्रः।।

यथोर्ध्वरेतसो योगिनो गुणेषु विषयेषु वर्तमाना अपि तत्रासङ्गितया तेभ्य ऊर्ध्वा एव तथाऽयमपीत्यर्थः। अथवा यो ह खलूपरिस्थोऽध्यक्षतया स्थित एव गुणेषु गुणकार्येषु देहादिष्विव श्रूयत इति योजना। तथा च श्रुतिः—'यः सर्वेषु भूतेषु तिष्ठन् सर्वेभ्यो भूतेभ्योऽन्तरो यं सर्वाणि भूतानि न विदुर्यस्य सर्वाणि भूतानि शरीरं यः सर्वाणि भूतान्यन्तरो यमयत्येष त आत्माऽन्तर्याम्यमृतः', (बृहदा० अ०३ ब्रा० ७) इति। ऊर्ध्वरेतस इति सम्बोधनम्। यत एवमसङ्गस्वभावोऽत एव स एष वै

होता है कि आध्यात्मिक चेतना के जागरण की दृष्टि से इन ऋषियों का विशेष महत्व रहा है।

१. टीकाकार रामतीर्थ के अनुसार 'ह', 'खलु' और 'वाव' निपात क्रमशः स्पष्टता, वाक्य की शोभा और अवधारणा के अर्थों में व्यवहृत हैं।

२. उनके अनुसार 'उपरिस्थः' के अर्थ दो हैं—निष्प्रपञ्चस्वरूप में अवस्थित तथा दूसरे प्रपञ्च से अनुगत होने पर भी प्रपञ्चातीत है।

३. 'निरात्मा' का अर्थ उन्होंने 'मनोरहित' किया है।

शुद्धो रागादिकालुष्यरहित एव। पावयति पुनातीति वा पूतः कर्तरि निष्ठा न कर्मणि। आत्मान्यस्य सर्वस्यापि जडतयाऽशुचेरात्मपावयितृत्वानुपपत्तेः। शून्यो निष्प्रपञ्चः। शान्तो निर्विकारः कूटस्थ इत्यर्थः। अप्राणः प्राणहीनः प्राणनादिधर्मरहित इत्यर्थः। निरात्माऽत्राऽऽत्मेति मन उच्यते मनोरहितः सङ्कल्पाध्यवसायादिधर्मरहित इत्यर्थः। अन्तो विनाशस्तद्रहितोऽनन्तः। अक्षय्यः क्षेतुमशक्योऽपक्षयरहित इत्यर्थः। स्थिरो वृद्धिरहितः। शाश्वतः शश्वद्भवः सर्वदैकरूपो विपरिणामशून्य इत्यर्थः। अजो जन्मरहितः। स्वतन्त्रो जन्मानन्तरभाव्यस्तित्वविकाररहितः।

एवंविध आत्मा क्व तिष्ठतीत्यपेक्षायामाह—

**स्वे महिम्नि तिष्ठत्यजेनेदं शरीरं चेतनवत्प्र-
तिष्ठापितं प्रचोदयिता वैषोऽप्यस्येति ।**

स्वस्वरूपे स्थितो नास्याऽऽधारोऽस्तीत्यर्थः। तथा च श्रुत्यन्तरम्— "स भगवः कस्मिन् प्रतिष्ठित इति स्वे महिम्नि यदि वा न महिम्नि" (छा०अ० ७ ख० २४) इति। अन्यो ह्यन्यस्मिन् प्रतिष्ठितो भवति नास्यान्योऽस्ति यत्रायं प्रतिष्ठितः स्यात्। तस्मात्स्वमहिम्न्येवावस्थितो नान्याधीनतयेत्यर्थः। य एष एवं लक्षण आत्माऽनेनेदं शरीरं चेतनवच्चेतनमिव प्रतिष्ठापितं व्यवहारकालेऽबाधिततया स्थापितम्। अस्य शरीरादिसङ्घातस्य प्रचोदयिता प्रेरकश्च यो वाऽस्ति सोऽप्येष एवेति होवाचेति सम्बन्धः। अचेतने देहादौ चेतयितृत्वनियन्तृत्वाभ्यां ताटस्थ्येनास्तीति प्रतिपन्नस्य जिज्ञासितस्य स्वरूपमेतत्स वा एष इत्यादि तिष्ठतीत्यन्तेनाभिहितम्।

एतच्चोपदेशमात्रेणोक्तं युक्तितो व्यवस्थापयितुं पुनः प्रश्नमुत्थापयति—

ते होचुर्भगवन्कथमनेनेदृशेनानिष्ठेनैतद्विधमिदं चेतनवत्प्रतिष्ठापितं प्रचोदयिता वैषोऽस्य कथमिति तान् होवाच ।।४।।

ईदृशेनोक्तलक्षणेन स्वे महिम्नि स्थितेनेत्यर्थः। अत एवानिष्ठेन निष्ठा तात्पर्यं ममानेन भाव्यमित्येवमाकारा प्रणतिः सा यस्य नास्ति सोऽनिष्ठस्तेन।

देहादावहं ममताहेतुशून्येनेत्यर्थः। अनिष्टेनेति पाठेऽयमर्थः। इष्टमिच्छाभावे निष्ठा नास्तीष्टं यस्य सोऽनिष्ट इच्छारहितस्तेनेति। [१]अणिष्ठेनेति पाठे तु सूक्ष्मतरेण दुर्लक्ष्येणेत्यर्थः। व्याख्यातार्थमन्यत् ।।४।।

जो [सम्पूर्ण प्रपञ्च से परे निष्प्रपञ्च स्वरूप में अवस्थित होने के कारण] सर्वोपरि स्थित सुना जाता है, जैसे ऊर्ध्वरेता [योगी] के गुणों [विषयों] में रहने पर भी उनसे ऊपर ही है, वही यह शुद्ध,पवित्र, शून्य, शान्त, प्राणहीन, निरात्मा [मनोरहित] अनन्त, अक्षय्य, स्थिर, शाश्वत, अजन्मा और स्वतन्त्र [रूप से] अपनी महिमा में स्थित है। इसी [आत्मतत्त्व] ने इस शरीर को चेतन की भाँति [व्यवहारकाल में] प्रतिष्ठापित किया है। वही इसका प्रेरक भी है। उन [वालखिल्य ऋषियों] ने पूछा—'भगवन्! इस अनासक्त तथा सूक्ष्म तत्त्व ने इस प्रकार के [अर्थात् अचेतन] शरीर को चेतन के समान कैसे प्रतिष्ठापित कर दिया? वह इसका प्रेरक कैसे है?' उन ऋषियों से (भगवान् मैत्री ने) कहा—।।४।।

सत्यमेवंविधस्याऽऽत्मनः परमार्थतश्चेतयितृत्वं प्रेरयितृत्वं वा न सम्भवति तथाऽपि शुक्त्यादौ रजतादिवत्स्वात्मन्यध्यस्तस्यान्यत्रा-भावादधिष्ठानपारतन्त्र्यात्तद्धर्मकमिवाचेतनमपि चेतनमिवानधिष्ठित-मप्यधिष्ठितमिवावभासते शरीरादि न वस्तुत इत्यभिसम्बन्धायोक्तं स्वरूपमनूद्य तस्याविद्याकृतकार्योपाधिप्रवेशनिमित्तमिदं धर्मद्वयमित्यु-त्तरमाह प्रजापतिः—

स वा एष सूक्ष्मोऽग्राह्योऽदृश्यः।

स वै पूर्वोक्त एष विद्वत्प्रत्यक्ष आत्मा सूक्ष्मोऽविषयः, यतोऽग्राह्यः कर्मेन्द्रियागोचरोऽदृश्यो ज्ञानेन्द्रियागोचरो नापि मनोगोचरः। ''अप्राप्य

१. तात्पर्य यह है कि आत्मा रागादि से अकलुषित, निर्विकार, प्राणनक्रिया से रहित, सङ्कल्प इत्यादि अध्यवसायों से रहित तथा अपक्षय से परे है। रामतीर्थ ने 'अणिष्ठेन' के स्थान पर 'अनिष्ठेन' पाठ मानकर उसकी व्याख्या अनासक्त अर्थ में की है, लेकिन उन्होंने 'अनिष्ट' (इच्छारहित) और 'अणिष्ट' (दुर्लक्ष्य) पाठान्तरों का उल्लेख भी किया है।

मनसा सह'' इति श्रुतेः। एतेनानुमानादिगोचरत्वमपि निरस्तमुक्तलक्षणात्मस्वरूपव्याप्तलिङ्गादिसम्बन्धानिरूपणादतो निरतिशयमस्य सौक्ष्म्यं सिद्धमित्यर्थः।

यदि सर्वप्रमाणागोचरः कथमस्य सद्भावस्तत्राऽऽह—

पुरुषसंज्ञोऽबुद्धिपूर्वमिहैवाऽऽवर्ततेंऽशेनेति।

पूर्षु शेत इति वा पूर्णमनेन सर्वमिति वा पूर्वमास्त इति वा पुरुषः। अतः पुरुषसंज्ञया प्रसिद्धः स्वतःसिद्धसद्भाव इत्यर्थः। **तथा च श्रुतयः**— ''स वा अयं पुरुषः सर्वासु पूर्षु पुरिशयो नैतेन किञ्चनानावृतं नैतेन किञ्चनासंवृतम्'' इति। ''वृक्ष इव स्तब्धो दिवि तिष्ठत्येकस्तेनेदं पूर्णं पुरुषेण सर्वम्'' इति ''पूर्वमेवाहमिहाऽऽसमिति तत्पुरुषस्य पुरुषत्वम्'' इति च। स एवंविध आत्माऽसङ्गस्वभावोऽप्यबुद्धिपूर्वमसङ्कल्पितमेवेहैव देहादिसङ्घात एव आवर्तत आसमन्तादापादतलमस्तकमहमित्यभिमन्यमानो वर्ततेंऽशेनैकदेशेन सङ्घाताविविक्तस्तदनुगतः स्वचैतन्याभासोंऽश इत्युच्यते न पुनर्निरवयवस्य विभोरात्मनः स्वाभाविकोंऽश एकदेशलक्षणः सम्भवत्यतस्तेनांशेनैवेहाऽऽवर्तते। इतिशब्दः प्रकारवचनः। ईदृशो वर्तत इत्यर्थः।

स्वमायावेशवशाच्चित्सदानन्दानन्तब्रह्मरूपतां स्वाभाविकीं विस्मृत्याहं मनुष्य इत्याद्यतद्रूपमेवाऽऽत्मानमकस्मान् मन्यत इत्यस्मिन्नर्थे दृष्टान्तमाह—

सुप्तस्येवाबुद्धिपूर्वं विबोध एवमिति।

इवशब्दो यथाशब्दार्थः। यथा सुप्तस्य सुषुप्तिमुपगतस्य ''सता सौम्य तदा सम्पन्नो भवति स्वमपीतो भवति तस्मादेनं स्वपितीत्याचक्षते स्वं ह्यपीतो भवति'' (छा०६) इति श्रुत्यन्तरे ब्रह्मसम्पत्तिर्हि सुषुप्तावात्मनोऽधिगता। तथा सुप्तस्य यथाऽबुद्धिपूर्वकमकस्माद्विबोधो विषयविशेषदर्शनावस्थापत्तिरेवमिहाऽऽवर्तनमस्य। इतीति स्थितिरित्यर्थः।

उक्तं निमित्तविशेषमनूद्य प्रश्नस्योत्तरमाह—

अथ यो ह खलु वावैतस्य सोऽशोऽयं यश्चेतामात्रः प्रतिपुरुषः क्षेत्रज्ञः सङ्कल्पाध्यवसायाभिमानलिङ्गः प्रजापतिर्विश्वाख्यश्चेतनेनेदं शरीरं चेतनवत्प्रतिष्ठापितं प्रचोदयिता वैषोऽप्यस्येति ।

अथैवं स्थिते सति यो ह खलु वाव य एवैतस्याऽऽत्मनो यथा व्याख्यातोंऽशः सोऽयं विश्वाख्य इति सम्बन्धः। कोऽसौ यश्चेतामात्रश्चेतनामात्रश्चित्स्वभाव इति यावत्। प्रतिपुरुषः प्रतिबिम्ब आदर्श इव मुखमप्पात्र इव सूर्यादिरन्तःकरणादौ प्रतिफलितः। अत एव क्षेत्रज्ञः क्षेत्रं शरीरं तदहमस्मीति जानातीति क्षेत्रज्ञः। तथाचोक्तं भगवता—

"इदं शरीरं कौन्तेय क्षेत्रमित्यभिधीयते ।

एतद्यो वेत्ति तं प्राहुः क्षेत्रज्ञ इति तद्विदः"।। इति ।

(गी० अ० १३)

तस्य क्षेत्रज्ञत्वे लिङ्गमाह—**सङ्कल्पेति**। सामान्यत इदमिति विषयस्वरूपमात्रकल्पनं सङ्कल्पः। अध्यवसायस्तत्र निश्चयरूपा वृत्तिः। अभिमानोऽहं ममेदमिति स्वस्वामिभावोल्लेखः। तथा च सङ्कल्पाध्यवसायाभिमानैर्देहविषयैरस्त्यस्मिन् क्षेत्रज्ञोऽन्य इति गम्यत इत्यर्थः। एवं भूतो यः समष्टिदेहं विराडाख्यमभिमन्यते स प्रजापतिर्ब्रह्मावैश्वानर इति चाऽऽख्यायते वेदान्तेषु। यः पुनः स एव व्यष्टिशरीरमण्डजादिचतुर्विधमभिमन्यते स विश्व इत्याख्यायते। तेनैवंविधेन चेतनेन स्वानुप्रवेशमात्रेणेदं शरीरं चेतनायुक्तमिव प्रतिष्ठापितं प्रचोदयिता वाऽप्यन्तर्यामिरूपेणैष एवास्येति सर्वमुक्तमित्यर्थः। नन्वसङ्गस्याऽऽत्मनः कूटस्थस्य कथं शरीरसम्बन्धनिबन्धनं क्षेत्रज्ञत्वं कथं वाऽस्य शरीरे चेतयितृत्वेन प्रेरयितृत्वेन चावस्थितिरिति विस्मयमापन्ना इव पुनः पृच्छन्ति—

ते होचुर्भगवन्यद्यनेनेदृशेनानिष्ठेनैतद्विधमिदं चेतनवत्प्रतिष्ठापितं प्रचोदयिता वैषोऽस्य कथमिति तान् होवाचेति ।।५।।

व्याख्यातार्थोऽयं ग्रन्थः।।५।।

वह यह सूक्ष्म, अग्राह्य [कर्मेन्द्रियों तथा ज्ञानेन्द्रियों से पकड़ में न आने वाला] दिखाई न देनेवाला, [1]बुद्धिपूर्वक, पुरुष नामक [तत्त्व] है [जो] आंशिकरूप से [देहादिसङ्घात में] विद्यमान रहता है। [इसकी स्थिति] सोये हुए व्यक्ति के अबुद्धिपूर्वक ज्ञान की भाँति है। और इसका जो अंश है, वह चैतन्यमात्र, प्रत्येक पुरुष में [दर्पण में मुख की तरह प्रतिबिम्बित अथवा प्रत्येक पात्र में अलग-अलग दिखनेवाले सूर्यबिम्ब के समान] क्षेत्रज्ञ [शरीर-को जाननेवाला], सङ्कल्प, अध्यवसाय [निश्चयात्मिकावृत्तियुक्त] और अहङ्कार रूप लक्षणों वाला है [जिसे वेदान्तग्रन्थों में] विश्वनामक प्रजापति [ब्रह्मा अथवा वैश्वानर बतलाया गया] है। [स्वयं] चेतन [होने के कारण इसने] इस शरीर को चेतन की भाँति प्रतिष्ठापित कर दिया है और वही इसे प्रेरित करनेवाला भी है।' उन्होंने [फिर] पूछा— 'भगवन्! यदि केन्द्र में स्थित इस प्रकार के [आत्म] तत्त्व ने ऐसे शरीर को चेतन की भाँति प्रतिष्ठापित कर दिया है, और वह इसका प्रेरक भी है [तो] वह किस प्रकार से?' उनसे उन्होंने [मैत्री ने] कहा —।।५।।

नात्र विस्मयः कार्यो यतः स्वयमेव स्वमायाशक्तिमधिष्ठाय निर्माय चराचरं तत्रानुप्रविष्ट इति सर्वोपनिषत्सूद्घुष्यमाणत्वादित्यभिप्रेत्य सर्वशाखाप्रत्ययन्यायेन देहसृष्टिप्रकारं तावदाह—

प्रजापतिर्वा एकोऽग्रेऽतिष्ठत्स नारमतैकः [2]सोऽत्मान-मभिध्यात्वा बह्वीः प्रजा असृजत ।

१. प्रथम वाक्यगत 'बुद्धिपूर्वम्' और तदनन्तर 'अबुद्धिपूर्वम्' के स्थान पर रामतीर्थ दोनों स्थानों पर 'अबुद्धिपूर्वम्' ही पाठ मानते हैं। 'अबुद्धिपूर्वम्' की व्याख्या वे 'असङ्कल्पित' करते हैं। इसके विपरीत मैक्समूलर पहली और दूसरी बार भी 'बुद्धिपूर्वम्' ही पाठ मानते हैं और इसकी व्याख्या वे 'own will' के रूप में करते हैं। रामतीर्थ की मान्यता उपयुक्त प्रतीत होती है, क्योंकि वे छान्दोग्योपनिषद् (६) के इस वाक्य 'सता सौम्य तदा सम्पन्नो भवति स्वमपीतो भवति तस्मादेनं स्वपितीत्याचक्षते स्वं ह्यपीतो भवति' के अनुसार व्याख्या करते हैं। सुषुप्तिगत ज्ञान को बुद्धि पूर्वक ज्ञान नहीं माना जाता है ।

२. सन्धि—मैत्रा०उप० के इस अंश में अनेक सामान्यतः अनियमित सन्धियों के उदाहरण मिलते हैं। इनमें से प्रथम उदाहरण है— 'सोऽत्मानम्'— सः + आत्मानम्—यह 'गूढोऽत्मा' के सदृश की गई सन्धि है। 'वैताऽनुगृहीता'—वा+एते+अनुगृहीता इस प्रकार की सन्धि केवल मैत्रायणी

प्रजापतिर्हिरण्यगर्भः। वैशब्दस्तस्य शाखान्तरोक्तविशेषस्मारकः। तथा हि—"सदेव सोम्येदमग्र आसीत्" "तद्धेदं तर्ह्यव्याकृतमासीत्" "आत्मा वा इदमेक एवाग्र आसीत्" इत्यादिश्रुतिषु जगतः प्रागवस्थां सदात्मादिशब्दनिर्दिष्टपरमात्माभेदेनाऽऽम्नाय ततो नामरूपाभ्यां भूतसूक्ष्म-क्रमेण जगद्व्याकरणं श्रूयते—"तस्माद्वा एतस्मादात्मन आकाशः सम्भूतः" "तत्तेजोऽसृजत" "तन्नामरूपाभ्यामेव व्याक्रियत" इत्यादि। तथा चाऽऽकाशादिक्रमेण तन्मात्राणि भूतसूक्ष्माणि सृष्ट्वा तेभ्यश्च तदवस्थेभ्यः प्राणान्तःकरणकर्मज्ञानेन्द्रियप्रकारं लिङ्गमुत्पाद्य तदनुप्रविश्य हिरण्यगर्भसंज्ञां प्राप्य जीवरूपतामापन्नोऽनन्तरं स्वोपाधिभूतभूतसूक्ष्माण्य-पञ्चीकृतानि पञ्चीकृतानि सम्पाद्य तेभ्यो ब्रह्माण्डान्तं समष्टिव्यष्टिरूपं जगत्सृष्ट्वा तेष्वनुप्रविश्य पश्यञ्शृण्वन्मन्वानो विहरन्नचेतनं चेतयमानः सुकृतदुष्कृतकर्माऽऽचरंस्तत्फले सुखःदुःखे भुञ्जानः प्रेर्यप्रेरकभावमापद्यमान क्षेत्रज्ञः संसारी विज्ञानात्मा पुरुष इति च तत्र तत्र व्यपदिश्यते। एवं शाखान्तरोक्तविशेषं वैशब्देन स्मारयित्वा शरीरसृष्टिं प्राजापत्यां प्राह प्रजापतिर्वै सच्छब्दवाच्यादज्ञानशबलात्प्रथममुत्पन्न एकोऽसहायोऽग्रे चराचरसृष्टेः पूर्वमतिष्ठदासीत्। तथा च श्रुत्यन्तरम्—"आत्मैवेदमग्र आसीत्पुरुषविधः" इति। स एकोऽसहायत्वान्नारमत रमणं प्रीतिविशेषं न प्राप। सोत्मानं स प्रजापतिरात्मानं स्वमेवाभिध्यात्वाऽहं बहु स्यां प्रजायेयेत्याभिमुख्येनाऽऽलोच्य बह्वीर्नाना प्रजा देवतिर्यङ्मनुष्यलक्षणा असृजत सृष्टवान् सङ्कल्पमात्रेणैवानेकरूपोऽभवदित्यर्थः।

एवं सृष्टिमुक्त्वा सृष्टेषु कार्येष्वनुप्रवेशप्रसङ्गमाह—

ता अश्मेवाप्रबुद्धो अप्राणाः स्थाणुरिव तिष्ठमाना अपश्यत्।

एवं सृष्टास्ताः प्रजा अपश्यद्दृष्टवान्। कीदृशीः। अश्मेव पाषाणवदचेतनाः। अप्रबुद्धा बुद्धिरहिता अन्तःकरणशून्या इति यावत्।

शाखा में ही मिलती है। 'देवौष्ण्यम्'—देवः + औष्ण्यम्—यह दोहरी सन्धि का उदाहरण बताया जाता है। पहले 'औष्ण्यम्' के प्रभाववश 'देवः' के विसर्ग का लोप हुआ। फिर वृद्धि-जैसी सन्धि भी कर दी गई, इस प्रकार यह दोहरी सन्धियों से युक्त प्रयोग है।

अप्राणाः प्राणवर्जिताः। अत एव स्थाणुरिव काष्ठमिव तिष्ठमाना अवतिष्ठमाना इति। एतेन सङ्घात चेतनतावादशङ्का परिहृता।

ततः किं कृतवानिति तदाह—

स नारभत सोऽमन्यतैतासां प्रतिबोधनायाभ्यन्तरं विविशामि।

स प्रजापतिरेवंविधाः स्वसृष्टाः प्रजा दृष्ट्वा पुनरपि नारमत नाप्रीयत तदा सोऽरमणनिवृत्त्यर्थममन्यत विचारितवान्। एतासां प्रतिबोधनाय प्रबुद्धतामापादयितुं चेतनतामापादयितुमभ्यन्तरमभितोऽन्तरं सर्वं देहमापादतलमस्तकं विविशामि विशेषेण विशामि प्रवेक्ष्यामीत्यमन्यतेत्यर्थः। अत्र ह्यात्माऽग्निरिवायःपिण्डादिसमारूढो विशेषतः परिस्फुरति नान्यत्रेति देहेषु प्रवेश उच्यते न पुनस्तक्षेव गृहं कृत्वा ततोऽन्यः संस्तत्र प्रविष्टः किन्तु स्वात्मानमेव प्रसिद्धमायाविवद्बहुधा व्यू(व्यु)ह्य तत्तद्देहाद्यभेदेन विशेषतो द्रष्टृश्रोतृमन्तृविज्ञात्रादिभावेन विभाव्यत इति भावः।

प्रवेशप्रकारमाह—

स वायुरिवाऽऽत्मानं कृत्वाऽभ्यन्तरं प्राविशत्।

स प्रजापतिरीश्वर आत्मानं स्वरूपं वायुरिव कृत्वा वायुः प्राणः प्राणवायुमुपाधिं कुर्वस्तंद्वद्भावमापन्नो वायुरिवेत्युच्यत इत्थमभ्यन्तरं प्राविशदित्यर्थः। तथा च श्रुत्यन्तरे—"तं प्रपदाभ्यां प्रापद्यत ब्रह्मेमं पुरुषम्" इति प्राणरूपं ब्रह्मोपक्रम्याऽऽम्नायते।

एवमपि भस्त्रेव वायुना पूर्णं न व्यचेष्टत यदा शरीरजातं तदा किं कृतवानीश्वरस्तदाह—

स एको नाशकत्स पञ्चधाऽऽत्मानं विभज्योच्यते।

एकरूपः सन्नाशकद्देहं विचालयितुं नाशक्नोत्। स पुनरात्मानं पञ्चधा विभज्य क्रमाक्रमाभ्यां क्रियाभेदं कुर्वन् देहादिकं चालयन्नास्त इति प्राणादिशब्दैः स एवोच्यत इत्यर्थः।

के ते प्राणादयो विभागाः किंलक्षणाः किंकर्माणश्चेत्यपेक्षायामाह—

यः प्राणोऽपानः समान उदानो व्यान इति ।

इत्येते पञ्च निर्दिष्टाः ।

अथैषां लक्षणं क्रियाश्च दर्शयति—

अथायं य ऊर्ध्वमुत्क्रामत्येष वाव स प्राणोऽथ योऽयमवाङ्सङ्क्रामत्येष वाव सोऽपानोऽथ येन वैताऽनुगृहीतेत्येष वाव स व्यानोऽथ [१]योऽयं स्थविष्ठो धातुरन्नस्यापाने प्रापयत्यणिष्ठो वाऽङ्गेऽङ्गे समानयत्येष वाव स समानसंज्ञा उत्तरं व्यानस्य रूपं चैतेषामन्तरा प्रसूतिरेवोदानस्याथ योऽयं पीता शितमुद्गिरति निगिरतीति वैष वाव स उदानः ।

अथैषां मध्ये योऽयं वायुरूर्ध्वमुत्क्रामति नाभेरूर्ध्वं शिरःपर्यन्तमुच्चैः क्रामति सञ्चरति मुखनासिकयोरुपलभ्यमान एष वाव स स एष एव प्राणः प्राणसंज्ञो वायुभेद इत्यर्थः। एवंविधक्रियावत्त्वमेवास्य लक्षणमुक्तं वेदितव्यम्। एवमुत्तरत्रापि योजना। अथ योऽयं वायुविशेषोऽवाङ्नाभेरधः पायुपर्यन्तं सङ्क्रामति सञ्चरत्येष वाव सोऽपान इति पूर्ववद्योजना। उद्देशक्रमं परित्यज्य मध्ये व्यानं लक्षयति तस्य प्राणापानसन्धित्वेन तयोरन्तरा नियतत्वात्। तथा च श्रुत्यन्तरम्—"अथ यः प्राणापानयोः सन्धिः स व्यानः" इति। चरमतोऽस्योद्देशस्तु सर्वशरीरचेष्टादिहेतुत्वेन सर्वप्राणव्यापकत्वादिति द्रष्टव्यम्। अथ येन वायुविशेषेणैतैतौ प्राणापानावनुगृहीताऽनुगृहीतावित्येवं वर्तमान एष वाव स व्यानसंज्ञः। "अन्नमशितं त्रेधा विधीयते तस्य यः स्थविष्ठो धातुस्तत्पुरीषं भवति यो मध्यमस्तन्मांसं योऽणिष्ठस्तन्मनः" इत्यादिश्रुत्यन्तरप्रसिद्धिमादायाशितस्य जाठराग्निपक्वस्य स्थूलसूक्ष्मविभागविनियोजनकर्ता समान इति व्युत्पाद-

---

१. 'योऽयं स्थविष्ठं धातुरन्नस्यापाने........का पाठान्तर एक हस्तलेख में इस प्रकार मिलता है—'योऽयं स्थविष्ठं धातुमन्नस्यापाने स्थापयति अणिष्ठं चाङ्गेऽङ्गे सन्नयति एष वाव स समानः।' इस पाठ के अनुसार समान वायु वह है, जो अन्न के सर्वाधिक शक्तिशाली सार तत्त्व को अपान में स्थापित करती है और केन्द्रस्थ तत्त्व को प्रत्येक अङ्ग में ले जाती है।

यति। अथ योऽयं प्रसिद्धो वायुविशेषोऽन्नस्य भुक्तस्य स्थविष्ठः स्थूलतमो धातुरसारभागः पुरीषाख्यो योऽस्ति तमपाने प्रापयत्यपानवायुसञ्चारस्थानं गमयति। तथाऽन्नस्य यो वाऽस्त्यणिष्ठोऽणुतरो मध्यमश्चेति भागद्वयमेकीकृत्योच्यते। तं च देहमनःस्थितिहेतुमङ्गेऽङ्गे प्रत्यङ्गं शरीरस्य समानयति सम्यगासमन्तान्नयति प्रापयत्येष वाव स समानसंज्ञा समानसंज्ञ इत्यर्थः। समानव्यानयोर्मध्य उदानस्योद्देशे कारणं सूचयन्नुदानस्याभिव्यक्तिस्थानमाह—**उत्तरमिति**। एतेषां प्राणापानसमानानामुत्तरमुपर्येतेषां सम्यग् व्यापारानन्तरं व्यानस्य रूपं च व्यानव्यापारं चान्तरा मध्ये प्रसूतिः प्रसवोऽभिव्यक्तिरेवोदानस्य। अन्तरैवेत्येवकारो भिन्नक्रमः। उक्त एव चान्वयः। अयमर्थः। प्राणापानाभ्यामुच्छ्वासनिश्वासाभ्यां धम्यमानो हि जाठरोऽग्निरन्नं भुक्तं पचति तत्पाकनिर्वृत्तं च समानो विभज्य समं नयति। एवमशितपीतयोः समं नीतयोः सतोः क्षुदुत्पद्यते पिपासा च तदोदान उद्भूतवृत्तिरास्यगतं यत्किञ्चिन्निगिरति पित्तोद्रेकवशाद्वोद्गिरति हृदयादिगतं कफादिकं ततो देहे बलपुष्ट्याद्याधानं व्यानवायोः कृतं भवति। एवमुक्तप्रकारेण पूर्वेषां चतुर्णां वायुव्यापाराणां यथावदनिर्वृत्तौ व्यानस्य सञ्चारसौष्ठवाभावाद्देहे बलपुष्ट्यादयो न जायन्त इत्येतदनुभवसिद्धं शास्त्रसिद्धं चातो युक्तोऽयं क्रमनिर्देश इति। अथ योऽयं पीताशितं पीतं चाशितं च पीताशितं तदुद्गिरत्यूर्ध्वं निःसारयति निगिरति वा नीचैर्गिरति तिरोदधातीति वैष वाव स उदान इति पूर्ववत्।

एवमात्मनः प्राणोपाधिकस्य शरीरप्रवेशमुक्त्वा तद्व्यापारेण व्याप्रियमाणः शरीरं नियमयतीत्युक्तमिदानीं जाठराग्न्युपाधिकस्य शरीरे चेतयितृत्वं दर्शयितुं तदभिव्यक्तिं तावदाह—

अथोपांशुरन्तर्याममभिभवत्यन्तर्याम उपांशुं चैतयोरन्तरा देवौष्ण्यं प्रासुवद्यदौष्ण्यं स पुरुषोऽथ यः पुरुषः[१] सोऽग्निर्वैश्वानरः।

१. रामतीर्थ ने अपनी टीका में 'पुरुष' शब्द की विभिन्न व्युत्पत्तियाँ दी हैं—'पूर्षुशेते', 'पूर्णमनेन सर्वम्' अथवा 'पूर्वमास्ते, टीकाकार के अनुसार पुरुष का अभिप्राय स्वतःसिद्ध सद्भाव है।

अथैतदुच्यत इति, अथशब्दोऽर्थान्तरोपक्रमार्थः। अस्ति कर्मकाण्ड उपांशुग्रहोऽन्तर्यामग्रहश्चेति द्वौ ग्रहौ परस्परोपकार्योपकारकभावेन संसृष्टावित्याम्नातम्। यतः श्रूयते—"प्राणापानौ वा उपांश्वन्तर्यामौ व्यान उपांशुसवनो यदेते पात्रे एतं ग्रावाणमातृतीयसवनान्न जहीतः" इति। तथाऽन्यत्रापि—"अग्निर्देवता गायत्री छन्द उपांशोः पात्रमसि, सोमो देवता त्रिष्टुप्छन्दोऽन्तर्यामस्य पात्रमसि" इति मन्त्रयोरनयोरग्नीषोमदेवत्यताऽधिगम्यते। तौ च प्राणापानात्मकत्वेनाध्यात्मशास्त्रे प्रसिद्धौ। अत इहोपांश्वन्तर्यामशब्दाभ्यां प्राणापानौ गृह्येते। तथाचायमर्थः। यथोपांशुग्रहोऽन्तर्याममभिलक्ष्य भवत्यन्तर्यामग्रहश्चोपांशुं तयोश्चान्तरा सोमः सूयते तथाऽत्रापि शरीरे प्राणोऽपानमभिभवत्यपानश्च प्राणमित्यन्योन्याभिकाङ्क्षया प्रवर्तमानयोरुपांश्वन्तर्यामोपमितयोश्चैतयोः प्राणापानयोरन्तराऽन्तराले देवो द्योतनस्वभावश्चैतन्यात्मौष्ण्यमुष्णस्वभावमात्मानं प्रासुवत्प्रसूतवानुष्णरूपेणाभिव्यक्त इत्यर्थः।

देवौष्ण्यमिति सन्धिश्छान्दसः। यद्वैतयोरन्तरं मध्यं मूलाधारदेशस्तस्मात्प्राणापानाभ्यां पार्श्वगताभ्यां धम्यमानादेव न स्थानान्तरादिति यावत्। औष्ण्यं प्रासुवदिति पूर्ववत्। यदिदमौष्ण्यं स पुरुषो जीवो देहस्याग्निरूपेण धारयिता। ऊष्मरूपात्मावस्थाने हि जीवतीति प्रसिद्धिस्तदपगमे च मरणप्रसिद्धिः। तथा च श्रुत्यन्तरम्—"उष्णो जीविष्यञ्शीतो मरिष्यन्" इति। अथैवं सति यः पुरुष आत्मा सोऽग्निरग्रं नयतीत्यग्रणीरग्निरुच्यते। अयं हि सर्वधातुजातं पचन्नग्रं नयत्यतोऽग्निर्वैश्वानर इति चायमुच्यते। विश्वं सर्वं नरशब्दोपलक्षितं देहादिकं नयत्युत्तम्भयतीति विश्वानरो विश्वानर एव वैश्वानर इति।

एतदेव पुरुषाग्न्योरेकत्वमिहोक्तं सिद्धवत्कृत्य शाखान्तरे जाठरस्याग्नेरुपासनमुक्तं तदिह प्रसङ्गादुपदिशति—

अन्यत्राप्युक्तमयमग्निर्वैश्वानरो योऽयमन्तःपुरुषे येनेदमन्नं पच्यते यदिदमद्यते तस्यैष घोषो भवति यमेतत्कर्णावपिधाय शृणोति स यदोत्क्रमिष्यन् भवति नैनं घोषं शृणोति ।

अन्यत्र बृहदारण्यकेऽपीत्यर्थः। अयमग्निर्वैश्वानरः पुरुषाख्यो योऽयं प्रसिद्धोऽन्तः पुरुषे पुरुषः शरीरं शरीरमध्ये। तत्सद्भावे कार्यलिङ्गकं प्रमाणमाह—येन पुरुषान्तःस्थेनेदं वक्ष्यमाणमन्नं पच्यते पानस्याप्युपलक्षणमेतत्। किं तदन्नं तदाह—यदिदमद्यतेऽविशेषेण सर्वैः प्राणिभिर्यदिदमोदनाद्यद्यते यद्वा पीयते तदन्नं पानं चेदं येन पच्यते परिपाकं नीयतेऽयमग्निर्वैश्वानर इत्यन्वयः। तत्सद्भावेऽनुमानमुक्त्वा प्रत्यक्षमप्याह—**तस्येति**। तस्याग्नेरेष प्रसिद्धो घोषः शब्दो भवति। कोऽसौ। यं घोषम्। एतदिति क्रियाविशेषणमेवं श्रवणं यथा स्यात्तथेत्येतत्। कर्णावपिधायाऽऽच्छाद्य शृणोति सर्वो लोकः। एवमेष घोषोपलम्भो जाठराग्नौ प्रत्यक्षमित्यर्थः। तस्यैषा श्रुतिर्यत्रैतत्कर्णावपिगृह्य निनदमिव नदथुरिवाग्नेरिव ज्वलत उपशृणोति (छान्दो०अ० ३ ख० १३) इति च्छान्दोग्ये तस्याग्नेरेवैतच्छ्रवणमिति भाष्यकारैर्व्याख्यातत्वात्। जाठराग्नेर्वैश्वानरात्मनो घोषरूपेण श्रवणनिर्देशप्रसङ्गेनेदमपरमुच्यते पुरुषाणां पारलौकिकहितसाधनप्रवृत्तौ सावधानत्वाय। स पुरुषो घोषश्रवणवान् यदा यस्मिन् काल उत्क्रमिष्यन् मरिष्यन् भवति तदैनं घोषं न शृणोति। तदश्रवण आसन्नमरणतां ज्ञात्वा यत्करणीयं मन्येत तत्कुर्यादित्यभिप्रायः।

एवं प्रासङ्गिकं परिसमाप्य प्रकृतमेवानुवर्तयितुमुक्तार्थमनुवदति—

स वा एष पञ्चधाऽऽत्मानं विभज्य निहितो गुहायाम्।

स वा एष यो वैश्वानरः पुरुष इति चोक्तः प्राणाद्यात्मना पञ्चधाऽऽत्मानं विभज्य गुहायां गूहति संवृणोति ज्ञानानन्दाद्यतिशयमिति गुहा बुद्धिस्तस्यां निहितः स्वयमेव स्वात्मना निषक्त इत्यर्थः। विशेषव्यवहारायान्तःकरणोपाधिप्राप्त इति तात्पर्यार्थः।

तदेवमौष्ण्येन स्वरूपेण प्राणान्तःकरणभावमापन्नो विज्ञानात्मा यां यामवस्थामनुभवति तां तां क्रमेण वक्तुमारभमाणो बुद्धितत्स्थाभासाविवेकात्प्राप्तान् व्यपदेशभेदांस्तावदाह—

मनोमयः प्राणशरीरो भारूपः सत्यसङ्कल्प आकाशात्मेति।

मनोमयो मनःप्रायो मनोवृत्तिभेदेष्वशेषेषु विशेषत उपलभ्यमानत्वात्। प्राणः शरीरमस्येति प्राणशरीरः प्राणभेदैरेव व्याप्रियमाणत्वात्। अन्यथा चिन्मात्रस्य कूटस्थस्य स्वतो विशेषमानव्यापारयोरनुपपत्तेः। भाश्चित्प्रकाशो रूपं स्वरूपमस्येति भारूपः। सत्याः सङ्कल्पा अवश्यंभाविनः पूर्वकृतज्ञानकर्मसंस्कारभाविताः सङ्कल्पा अस्येति सत्यसङ्कल्पः। आकाशवदसङ्गोऽग्राह्य आत्मा स्वरूपमस्येत्याकाशात्मा। एवमुपाधिधर्मैः स्वधर्मैश्चाविविक्त आत्मा जीवभावमुपगत इत्यर्थः। तच्चोक्तं श्वेताश्वतरोपनिषदि—"बुद्धेर्गुणेनाऽऽत्मगुणेन चैव आराग्रमात्रोऽप्यवरोऽपि दृष्टः" इति।

य एवमविद्याकृतोपाधिमात्मत्वेनोपगतो विस्मृतपरमानन्दनिजस्वभावः सोऽकृतकृत्यमात्मानं मेन इति तद्वृत्तान्तमाह—

स वा एषोऽस्माद्धृदन्तरादकृतार्थोऽमन्यतार्थानश्नानीति।

स वा एष पूर्वोक्तोऽकृतार्थोऽकृतप्रयोजनः सन्नस्मादेतच्छरीरगताद्धृदन्तराद्धृदयस्थानस्थादन्तःकरणाद्धेतुभूतादर्थान् विषयानश्नानि भुञ्जे व्याप्नवानीति वाऽमन्यत सङ्कल्पितवानित्यर्थः।

ततः किं वृत्तं तदाह—

अतः खानीमानि भित्त्वोदितः पञ्चभी रश्मिभिर्विषयानत्ति।

यत एवमत इमानि शीर्षण्यानि खानि च्छिद्राणि त्वचं भित्त्वा विदार्योदित उद्गतो गवाक्षेभ्य इवाऽऽलोकः प्राणान्तःकरणोपाधिः सन् वक्ष्यमाणैः पञ्चभी रश्मिभिर्विषयाञ्शब्दस्पर्शादीनत्ति भुङ्क्ते व्याप्नोतीत्यर्थः।

इदानीमस्य लोकसिद्धं विषयानुभवप्रकारमनुवदञ्शरीरादे रथादिकल्पनां विदधानोऽस्य विषयमोक्षप्राप्तिमार्गयोः स्वातन्त्र्यं दर्शयति—

इति बुद्धीन्द्रियाणि यानीमान्येतान्यस्य रश्मयः कर्मेन्द्रियाण्यस्य हया रथः शरीरं मनो नियन्ता प्रकृतिमयोऽस्य प्रतोदोऽनेन खल्वीरितः परिभ्रमतीदं शरीरं चक्रमिव मृत्पचेनेदं शरीरं चेतनवत्प्रतिष्ठापितं प्रचोदयिता वैषोऽप्यस्येति ।।६।।

इत्येवं विषयान् भुञ्जानस्य यानीमानि प्रसिद्धानि बुद्धीन्द्रियाणि श्रोत्रत्वक्चक्षुर्जिह्वाघ्राणाख्यानि तान्यस्य रथिनो हयरश्मय: प्रग्रहा:। कर्मेन्द्रियाणि वाक्पाणिपादपायूपस्थाख्यान्यस्य हया रथवाहा:। शरीरमिदं स्थूलमेव रथ:। मन: सङ्कल्पाद्यात्मकं नियन्ता नितरां यन्ता सारथिरित्यर्थ:। प्रकृति: स्वभाव: कर्मज्ञानवासना तन्मयस्तद्रूपोऽस्य प्रतोद: कशादिर्वाहननोदनसाधनम्। कथमयं प्रतोद इति तदुपपादयति। **अनेनेति**। अनेन प्रकृतिमयेन खलु निश्चितमीरित: प्रेरित: परिभ्रमति। किमिदं शरीरं रथ:। तत्र दृष्टान्तमाह—**चक्रमिवेति**। मृत्पच: कुलालस्तेनेरितं चक्रमिवेत्यर्थ:। इदं शरीरमित्याद्युक्तार्थम् ।।६।।

[सृष्टि से पूर्व] प्रजापति [हिरण्यगर्भ ब्रह्मा] अकेले थे। अकेले रहते हुए [उनका मन] नहीं रमा। उन्होंने अपनी आत्मा का ध्यान करके बहुत-सी, प्रजा-सृष्टि की। उन्होंने देखा कि वे प्रजाएँ पत्थर की तरह प्रबोधरहित और ठूँठ की भाँति प्राणरहित हैं। उन्हें [फिर] अच्छा नहीं लगा। उन्होंने सोचा कि मैं इन प्रजाओं को जगाने के लिए [इनके] भीतर प्रवेश करुँ। उन्होंने वायु के सदृश अपना स्वरूप बनाकर [उनके] भीतर प्रवेश किया। वह अकेले नहीं [रह] सके। उन्होंने[1] अपने को पाँच प्रकार से विभाजित किया। वे पाँच भाग प्राण, अपान, समान, उदान और व्यान कहलाते हैं। [इनमें से] जो ऊपर उत्क्रमण करता है, वह प्राण है। जो नीचे सङ्क्रमण करता है, वह अपान है। और यह जो इन [शिराओं] में अभिव्याप्त है— इनका अनुगृहीता है, वह व्यान है और यह जो सर्वाधिक स्थूल धातु है, अन्न को अपान में स्थापित करता है, प्रत्येक अङ्ग के केन्द्र में स्थित है, जो सबमें समानता लाता है, वह समान संज्ञक [वायु] है। उदान वायु इन सबके मध्य में उत्पन्न होती है और वह व्यान का ही उत्तर रूप है। और यह जो खाये-पिये [खाद्यांशों] को उगलती और निगलती है, वह ही उदान है। तदनन्तर जैसे कर्मकाण्ड में उपांशुग्रह और अन्तर्याम ग्रह परस्पर उपकार्य और उपकारक माने जाते हैं, ठीक उसी प्रकार

१. 'स पञ्चधाऽऽत्मानं विभज्य' में 'स' की व्याख्या मैक्समूलर ने, रामतीर्थ की व्याख्या [पुरुष या वैश्वानर] के विपरीत प्रजापति करने का प्रयत्न किया है, लेकिन वह उचित नहीं प्रतीत होती। यहाँ सन्दर्भसङ्गत पुरुष ही है।

उपांशुग्रह[१] [अर्थात् प्राण] और अन्तर्यामग्रह [अर्थात् अपान] एक दूसरे को उपकृत करते रहते हैं। इन दोनों के मध्य में चमकती हुई उष्णता उत्पन्न हुई। यह उष्णता [ही] पुरुष है। और जो पुरुष है, वह अग्नि वैश्वानर [स्वरूप] है। [यह बात] अन्यत्र भी कही गई है—यह जो पुरुष के भीतर स्थित अग्नि है, वह वैश्वानर है। जिसके द्वारा खाया गया अन्न पचाया जाता है, जिसके द्वारा खाया जाता है, उसी का यह शब्द [घोष] होता है, जिसे [सभी लोग] कान बन्द करके सुन [सक]ते हैं। जब कोई [व्यक्ति] ऊपर जाने की स्थिति में होता है, वह इस शब्द को नहीं सुन पाता। वह [पुरुष अथवा वैश्वानर] पाँच प्रकार से अपना विभाजन करके [बुद्धिरूपा] गुहा (गुप्तस्थान) में स्थित है। [वे पाँच प्रकार ये हैं—] मनोमय, प्राणशरीर, प्रकाशस्वरूप, सत्यसङ्कल्प और आकाशात्मा। उसने हमारे हृदय के भीतर से [अपने को] कृतकृत्य अर्थात् कृतार्थ नहीं माना। [उसने सोचा कि मैं] अर्थों अर्थात् विभिन्न ऐन्द्रिक विषयों का सेवन करूँ। इसलिए वह इन इन्द्रियों का भेदन करके निकला और पाँच रश्मियों [अर्थात् ज्ञानेन्द्रियों] से विषयों का सेवन करता है। बुद्धि और ये इन्द्रियाँ ही इसकी रश्मियाँ हैं। कर्मन्द्रियाँ इसके घोड़े हैं। रथ शरीर है। मन सारथि अर्थात् नियन्ता है। इसकी चाबुक प्रकृतिमयी है। इसके द्वारा प्रेरित होकर यह शरीर उसी प्रकार परिभ्रमण करता रहता है, जैसे कुम्भकार के द्वारा घुमाया गया चाक घूमता रहता है। उसी ने इस शरीर को चेतनायुक्तरूप में प्रतिष्ठापित किया है और वही इसका प्रेरक है ।।६।।

यदिदं स्वसृष्टदेहाद्यनुप्रवेशेनास्य संसारित्वमुक्तं तन्नायं स्वतः संसारधर्मवान् किन्तूपाधिवशात्तथा भाति, तत उपाधेर्विविच्य तत्स्वरूप-मन्वेषणीयमात्मनः संसारित्वभ्रमनिवृत्तय इति दर्शयितुमुक्तं हेय-

१. 'उपांशु' और 'अन्तर्याम' ये दो यज्ञानुष्ठानों में प्रयुक्त होने वाले ग्रह अर्थात् प्याले हैं। ऐतरेय, शतपथ और तैत्तिरीय ब्राह्मणों में भी इनकी व्याख्या प्राणादि के सन्दर्भ में की गई है। ऐतरेय के अनुसार प्राण और अपान ही उपांशु और अन्तर्याम संज्ञक ग्रह हैं—'प्राणापानौ उपांश्वन्तर्यामौ' (ऐत० ब्रा० २.२१) । तैत्ति० ब्रा० (१.५.४.१) में भी इसी प्रकार का कथन है—'प्राणापानाभ्यामेवोपांश्वन्तर्यामौ निरमिमीत।' शतपथ ब्राह्मण के अनुसार प्राण उपांशु है, व्यान उपांशु का सवन है, और उदान अन्तर्याम है।

स्वरूपानवगमे तद्धानासम्भवादित्यभिप्रेत्यायमेवाऽऽत्मा मुञ्जादिषीकावद्देहादिसङ्घाताद्विविच्यावधारणीय इत्याह—

स वा एष आत्मेहोशन्ति कवयः।

यमित्यध्याहारः। यमुशन्ति कमनीयतया जानन्ति कवयो मेधाविनः परमप्रेमास्पदतया प्रत्यग्रूपेण जानन्ति स वै स एवैष आत्मा न तु संसार्येवेत्यर्थः।

ननु संसारिताया अस्योक्तत्वात्कथं न संसारीति तत्राऽऽह—

सितासितैः कर्मफलैरनभिभूत इव प्रतिशरीरेषु चरति।

सितशब्देनोज्ज्वलवाचिना स्पृहणीयतोच्यते। असितशब्देन मलिनवाचिना प्रतिकूलवेदनीयतोच्यते। तथा च सितासितैः सुखदुःखैः कर्मफलैरनभिभूतोऽसंस्पृष्टः। इवशब्दोऽवधारणार्थः। प्रतिशब्दो व्यवहितक्रियया सम्बध्यते कर्मफलैरनभिभूत एव शरीरेषु प्रतिचरतीत्यन्वयः। प्रतिशरीरेषु शरीरेषु शरीरेष्विति वा। यद्वा प्रति प्रातिलोम्येनाविषयत्वेन शरीरेषु चरतीत्यर्थः। अतो नायं स्वरूपतः संसारी किन्त्वलक्तकादिसन्निहितो लोहितात्मनेव स्फटिकः सङ्घातोपाधिसन्निहितः संसार्यात्मना भासत इति भावः।

अव्यक्तत्वात्सौक्ष्म्याददृश्यत्वादग्राह्यत्वान्निर्ममत्वाच्चानवस्थोऽसति कर्ताऽकर्तैवावस्थः।

उक्तेऽर्थे हेतुमाह—व्यक्तं विषयरूपं दृश्यं देहाद्यज्ञानपर्यन्तं तद्विपरीतत्वमव्यक्तत्वं तस्मात्। न हि संसार्यव्यक्तो भवति व्यक्तविकारानुबन्धित्वात्तस्य। अतोऽव्यक्तत्वान्न संसारीत्यर्थः। कुतोऽव्यक्तत्वं चिदात्मनोऽहमिति व्यक्ततयोपलभ्यमानत्वादित्यत आह—**सौक्ष्म्यादिति**। अनाधेयातिशयत्वं सौक्ष्म्यमुच्यते, न हि चैतन्यस्वरूपेऽमूर्तेऽनवयवे कश्चिदतिशय आधीयत आकाश इव कारकैः। यत्र पुनः कारकव्यापारापन्नोऽतिशयस्तद्व्यक्तमिति प्रसिद्धं यथा घटादि निष्पाद्यं प्रकाश्यं चेति तस्मादस्य तद्वैलक्षण्यात्सौक्ष्म्यादव्यक्तत्वमिति भावः। तदेवोक्तलक्षणं

सौक्ष्म्यं साधयति—**अदृश्यत्वादग्राह्यत्वाच्चेति**। ज्ञानकर्मेन्द्रियाविषयत्वा-दित्यर्थः। चतुर्विधक्रियाफलविलक्षणत्वादिति भावः। हेत्वन्तरमाह—**निर्ममत्वाच्चेति**। चकारान्निरहङ्कारत्वमपि समुच्चीयते। यत्राहंता भवति तत्संसृष्टे ममता भवति, अस्य तु सुखाद्युपलब्ध्यायतने शरीरेऽनुगतस्यापि तत्राहङ्कारमत्वयोरभावान्न संसारितेत्यर्थः।

नन्ववस्थात्रयसम्बन्धिनः कथमहङ्कारममकारयोरभावस्तत्राऽऽह—**अनवस्थ इति**। अवस्थात्रयरहितोऽवस्थासाक्षित्वात्। न हि दृश्यधर्मो द्रष्टर्युपरज्यत इत्यर्थः। अथवा ननु शरीरेषु चरतः कथं तत्राहंममताभाव इति तत्राऽऽह—**अनवस्थ इति**। न विद्यतेऽवस्थाऽवस्थानं यस्य सोऽनवस्थः। निरवयवस्यामूर्तादिलक्षणस्याव्यावृत्ताननुगतस्य न क्वाप्यव-स्थितिरुपपद्यत इति भावः। ननु धर्माधर्माभ्यां शरीरादिकर्तुः कथमित्थ-मसंसारित्वं वर्ण्यत इत्यत आह। **असतीति**। अव्याकृतशब्दितमज्ञान-मसदित्युच्यते। अकर्तैवासत्यवस्थोऽवस्थितः कर्तेत्यन्वयः। वस्तुतोऽ-कर्तैव सन्नज्ञानावेशात्कर्तेवावभासत इत्यर्थः।

एवमध्यारोपापवादाभ्यां विचार्य निर्णीतमात्मनः स्वरूपं व्यपदिशति—

स वा एष शुद्धः स्थिरोऽचलश्चालेप्योऽ-
व्यग्रो निस्पृहः प्रेक्षकवदवस्थितः स्वस्थश्च ।

सवितरि दिवान्धपरिकल्पितान्धकारवदज्ञानस्यापि वस्तुत्वाभावा-दयमात्मा शुद्धो मिथ्याज्ञानाद्यशुद्धिसंसर्गरहितः सर्वस्याऽऽगमापाय-साक्षित्वात्स्थिर आगमापायशून्यो व्यापकत्वादचलः स्वतः क्रियाशून्यः। चकारादनन्यप्रेर्योऽपीत्यर्थः। अत एवालेप्यो धर्माधर्मतत्फललेपानर्हः। न ह्यक्रियोऽकर्ता कर्मतत्फलभाग्भवतीत्यर्थः। अव्यग्रोऽसम्भ्रमो यतो निस्पृहः परिपूर्णपरमानन्दरूपत्वात्। स्पृहणीयाभावात्स्पृहाभावे सत्यव्यग्र इत्यर्थः। अत एव प्रेक्षकवदुदासीन इवावस्थितः। कुत्रावस्थित इति तदाह। स्वस्थः स्वे स्वरूपेऽवस्थितो नान्याधार इत्यर्थः। "स एवाधस्तात्स उपरिष्टात्स

पश्चात्स पुरस्तात्स दक्षिणतः स उत्तरतः स एवेदं सर्वम्'' (छान्दो०, अ० ७) इति श्रुत्यन्तरात्। चकारः सर्वविशेषणसमुच्चयार्थः।

उपसंहरति—

[१]ऋतभुग्गुणमयेन पटेनाऽऽत्मानमन्तर्धायावस्थिता इत्यवस्थिता इति ।।७।।

।। इति मैत्र्युपनिषदि द्वितीयः प्रपाठकः ।।२।।

एवंविध एवाऽऽत्मा गुणमयेन पटेन त्रिगुणाविद्यामयेनाऽऽवरणेनाऽऽत्मानं नित्यशुद्धत्वादिरूपमन्तर्धायर्तभुगवस्थित इत्यन्वयः। कर्मफलभोक्ता संसारीव भासमानो वर्तत इत्यर्थः। इतिशब्दः प्रतिवचनसमाप्तिद्योतनार्थः। अभ्यासोऽध्यायसमाप्त्यर्थः।।७।।

।। इति श्रीरामतीर्थविरचितायां मैत्रीशाखोपनिषद्दीपिकायां द्वितीयः प्रपाठकः ।।२।।

वह आत्मा ही है, जिसकी कामना यहाँ बुद्धिमान् व्यक्ति करते हैं। वह शुक्ल और कृष्ण अर्थात् अच्छे और बुरे कर्मों से अप्रभावित रहकर प्रत्येक शरीर में सञ्चरण करती है। वह अव्यक्त, सूक्ष्म, अदृश्य, अग्राह्य और ममत्वरहित होने के कारण [तीनों] अवस्थाओं अथवा अवस्थान से रहित है। इस असत् अर्थात् अज्ञान से आवृत संसार में वह वास्तविक रूप से अकर्ता होने पर भी, कर्ता के समान प्रतीत भर होती है। वह आत्मा शुद्ध, स्थिर, अचल, निर्लेप, अव्यग्र, निःस्पृह और स्वस्थ [अपने में ही स्थित] रहकर द्रष्टा के समान अवस्थित है। सत्य का भोग करती हुई वह [त्रि] गुणात्मक वस्त्र से अपने को आच्छादित करके स्थित है ।।७।।

।। इस प्रकार द्वितीय प्रपाठक सम्पन्न हुआ ।।२।।

---

१. ऋतभुक्—अविद्या से आच्छादित होने के कारण ही वह ऋत अर्थात् कर्मफल का भोक्ता या संसारी के समान भासमान होती है।

अथ तृतीयः प्रपाठकः

नित्यशुद्ध एवाऽऽत्मा त्रिगुणोपाधिप्रविष्ट ऋतभुक्संसारीत्युक्तमुपश्रुत्यैतदसम्भावयन्तो वालखिल्याः पप्रच्छुरित्याह—

ते होचुर्भगवन्! यद्येवमस्याऽऽत्मनो महिमानं सूचयसीत्यन्यो वा परः।

ते वालखिल्या ह किल ऊचुः। किम्। हे भगवन् यद्येवमस्याऽऽत्मनो महिमानं त्वं सूचयसि नित्यशुद्ध इत्यादिकं तर्ह्येवंविधस्यर्तभुक्त्वासम्भवादन्यो वाऽस्मात्परो विलक्षणः। वाशब्दः सम्भावनायाम्।

तमेव प्रश्नपूर्वकं विशदयति—

कोऽयमात्माख्यो योऽयं सितासितैः कर्मफलैरभिभूयमानः सदसद्योनिमापद्यता[1] इत्यवाञ्च्योर्ध्वा वा गतिर्द्वन्द्वैरभिभूयमानः परिभ्रमति ।।१।।

जीवाख्य इत्यर्थः। योऽयं प्रसिद्धोऽहमस्मीति सितादिकर्मफलैरभिभूयमानो लिप्यमानः सद्योनिर्ब्राह्मणादियोनिरसद्योनिः श्वशूकरादियोनिस्तामापद्यत आत्मत्वेनाभिपद्यत इत्येवं प्रकारेणावाञ्च्याऽवाच्यूर्ध्वा वा तत्तज्जन्मकर्मानुरूपा गतिः फलप्राप्तिर्यतोऽतो द्वन्द्वैः शीतोष्णमानापमानसुखदुःखादिभिरभिभूयमानः परिभ्रमतीति प्रसिद्धं शास्त्रानुभवसारिणामित्यर्थः। अत एकस्य विरुद्धधर्मसंसर्गविरोधादन्यो वा कस्मात्संसार्यात्मा न भवेदिति मन्यामह इत्यभिप्रायः।।१।।

वे [वालखिल्य] बोले—'भगवन्! यदि इस प्रकार आप आत्मा की महिमा का प्रतिपादन करते हैं, तो यह दूसरी कौन-सी आत्मा है, जो शुभाशुभ

---

१. 'आपद्यता इति' [आपद्यते + इति] सन्धि की यह प्रक्रिया मैत्रायणी शाखा के अनुसार है।

कर्म-फलों से अभिभूत होती हुई अच्छी-बुरी योनियों मे पड़ती रहती है? [कभी] वह ऊपर जाती है और कभी नीचे जाती है, [सुख-दुःख इत्यादि] द्वन्द्वों से अभिभूत होकर [विविध योनियों में] परिभ्रमण करती रहती है।।१।।

यद्येकस्य विरुद्धधर्मसंसर्गविरोधादृतभुगन्यः स्यादिति मन्यध्वे तर्ह्यस्त्यन्य ऋतभुक्संसारी यो द्वन्द्वैरभिभूयत इति तावद्गृह्णीतेत्युत्तरमाह प्रजापतिः—

अस्ति खल्वन्योऽपरो भूतात्माख्यो योऽयं सितासितैः कर्मफलैरभिभूयमानः सदसद्योनिमापद्यता इत्यवाञ्च्योर्ध्वा-वा गतिर्द्वन्द्वैरभिभूयमानः परिभ्रमतीत्यस्योपव्याख्यानम्।

योऽयं सितासितैरित्यादिपरिभ्रमतीत्यन्तेनोक्तः स नित्यशुद्धत्वादि-लक्षणादात्मनोऽपरोऽन्योऽस्ति कोऽसौ भूतात्मा भूताभेदेनोपलभ्यमान इत्यर्थः। कोऽयं भूतात्मेति तत्राऽऽह—तस्योपव्याख्यानम्। तस्य भूतात्मनः स्पष्टव्याख्यानं प्रपञ्चनं शृणुतेति शेषः।

पञ्चतन्मात्रा भूतशब्देनोच्यन्तेऽथ पञ्चमहाभूतानि भूत-शब्देनोच्यन्तेऽथ तेषां यत्समुदयं तच्छरीरमित्युक्तमथ यो ह खलु वाव शरीर इत्युक्तं स भूतात्मेत्युक्तम्।

शब्दस्पर्शरूपरसगन्धाः सूक्ष्माः पञ्चतन्मात्राख्या अव्याकृताख्याद-विद्याशबलितादात्मनः सकाशात्क्रमेण जाता भूतशब्देनापञ्चीकृतपञ्चमहा-भूतशब्देनोच्यन्ते वेदान्तेषु। अथानन्तरमेतान्येव परस्परानुप्रवेशेन पञ्ची-कृतानि गुणगुणिभावेन परिणम्य स्थितानि पञ्चमहाभूतानि भूतशब्देनोच्यन्त इत्यर्थः। अथैवं सति तेषामुभयविधभूतानां यत्समुदयं यः समुदायः परिणामविशेषस्तच्छरीरमित्युक्तं वेदान्तेष्विति योज्यम्। प्राणेन्द्रियान्तः-करणसहितसूक्ष्मभूतसमुदायो लिङ्गशरीरं पञ्चीकृतपञ्चमहाभूतसमुदायः स्थूलं शरीरमित्युक्तमिति विभागः। एवंभूतशब्दार्थं सकार्यमुक्त्वाऽऽत्म-शब्दार्थमाह—**अथेति**। अथैवं सम्पन्ने शरीरद्वयात्मना भूतजाते तस्मिञ्शरीरे यो ह खलु वाव य एव ह स्फुटं खलु निश्चये वावाहं ममेति

रथित्वेन व्यवहर्तेत्युक्तं पूर्वं स भूतात्मेत्युक्तं वेदान्तेष्वित्यर्थः। तथा च वेदान्ताः—"तस्माद्वा एतस्मादात्मन आकाशः सम्भूतः" इत्यादिना सृष्टिमुक्त्वा "तत्सृष्ट्वा तदेवानुप्राविशत्। तदनुप्रविश्य सच्च त्यच्चाभवत्" (तैत्ति०उ०) इत्यादिकाः। तथा "तत्तेजोऽसृजत" इत्यादिना भूतसूक्ष्मसृष्टिं प्रक्रम्य "सेयं देवतैक्षत हन्ताहमिमास्तिस्रो देवता अनेन जीवेनाऽऽत्मनाऽनुप्रविश्य नामरूपे व्याकरवाणि तासां त्रिवृतं त्रिवृतमेकैकां करवाणि" (छान्दो०, अ० ६) इति। तथा "आत्मा वा इदमेक एवाग्र आसीन्नान्यत्किञ्चन मिषत्स ईक्षत लोकान्नु सृजा इति स इमाँल्लोकान-सृजत" इत्युपक्रम्य शेषे "स एतमेव सीमानं विदार्यैतया द्वारा प्रापद्यत" (ऐत० उ०) इति। एवं तत्र तत्र "स एष इह प्रविष्ट आ नखाग्रेभ्यः" इत्यादिश्रुतयः सन्ति शतशः। इहापि पुरस्तादेतदुक्तम् "प्रजापतिर्वा एकोऽग्रेऽतिष्ठत्" इत्यारभ्य "स वायुरिवाऽऽत्मानं कृत्वाऽभ्यन्तरं प्राविशत्" इति। एतदेव पुनः स्पष्टीकरिष्यते। तथा च चिदात्मैव भूतसङ्घातमनुप्रविष्टो भूताभेदेन गृह्यमाण उपाधिप्रदानत्वाद्भूतात्मेति चिदात्मनो भेदेन व्यपदिश्यते चिदात्मा चोपाधिभ्यो विविच्य वेदान्तेष्वात्मा ब्रह्म चिन्मात्रं प्रज्ञानघन इत्यादिशब्दैर्भूतात्मनो भेदेन व्यपदिश्यते तदेवमस्त्यस्यैवाऽऽत्मन औपाधिको भेद इति संसार्यसंसारिभेद-व्यवहारोऽनाद्यविद्यानिबन्धन उपपद्यत इति प्रकरणार्थः।

इदानीं चिदात्मन एव भूतात्मत्वं चिदात्मस्वभावानुपमर्देनेति व्युत्पादयति—

अथामृतोऽस्याऽऽत्मा बिन्दुरिव पुष्करा इति स वा एषोऽभिभूतः प्राकृतैर्गुणैरिति ।

अथैवमप्यस्य भूतात्मनोऽप्यमृतोऽविकारः कूटस्थ आत्मा स्वरूपं पुष्करे पद्मपत्रे बिन्दुरिव नीरबिन्दुरिव तत्संश्लेषरहितोऽपि स वा एष आत्मा प्राकृतैर्गुणैः प्रकृतिविकारैः साभासमायाविकाररूपदेहद्वयलक्षणैरभि-मानगृहीतैरभिभूतस्तिरस्कृतस्वभावावभास इत्यर्थः।

अथोऽभिभूतत्वात्सम्मूढत्वं प्रयातः सम्मूढत्वात्।

यत एवम्—अथो अतः कारणात्। सन्धिश्छान्दसः। तदेवाऽऽह—अभिभूतत्वात्प्राकृतैर्गुणैरेकीभूतत्वात्सम्मूढत्वमत्यन्ताविवेकित्वं प्रयातः प्राप्तवान्। तत्रेदं लिङ्गमुच्यते सम्मूढत्वादेव होतोर्भगवन्तं नापश्यदिति सम्बन्धः। न पश्यतीत्येतत्। स्वतःसिद्धालुप्तज्ञानैश्वर्यादिशक्तिसम्पन्नतयोपलक्षितचिदात्मा भगवांस्तं न पश्यतीति। सम्मूढत्वमस्यावगम्यत इत्यर्थः।

तस्य दूरस्थत्वाददर्शनं नास्य सम्मूढत्वादिति शङ्कां वारयति—

आत्मस्थं प्रभुं भगवन्तं कारयितारं नापश्यद्गुणौघैरुह्यमानः कलुषीकृतश्चास्थिरश्चञ्चलो लुप्यमानः सस्पृहो व्यग्रश्चाभिमानित्वं प्रयाता इत्यहंसो ममेदमित्येवं मन्यमानो निबध्नात्यात्मनाऽऽत्मानम्।

स्वात्मनि सत्तास्फूर्तिरूपेण स्थितमित्यर्थः। कथमयं स्वात्मस्थ इत्यत आह—**प्रभुमिति**। प्रकर्षेण भवत्यस्मादिति प्रभुभूतात्मन उपादानमधिष्ठानं चेत्यर्थः। अत एव कारयितारं नियन्तारं कारणाधीनं हि कार्यमिति न्यायात्कारणत्वादेव नियन्तेत्यर्थः। तथा च श्रुत्यन्तरम् "एष ह्येव साधु कर्म कारयति तं यमेभ्यो लोकेभ्य उन्निनीषत एष उ एवासाधु कर्म कारयति तं यमधो निनीषते" (कौषी०, अ० ३) इति। किञ्च गुणौघैः प्राकृतिकैर्देहेन्द्रियविषयलक्षणैरुह्यमान इतस्ततश्चाल्यमानः कलुषीकृतश्च नानावासनाकषायरञ्जितश्चेत्यर्थः। अत एव वासनाभिः प्रेर्यमाणतयाऽस्थिरः कथञ्चिदुत्पद्यमानेऽपि विवेकविज्ञाने स्थैर्यहीनः। अतश्चञ्चलः शुभविषयैकप्रवृत्तिनिष्ठारहित इत्यर्थः। किञ्च लुप्यमानश्चाञ्चल्यवशाद्विवेकज्ञानधर्मसञ्चयैर्लुप्यमानोऽत एव सस्पृहोऽप्राप्तेऽशक्यसम्पाद्येऽपि स्पृहावानत एव व्यग्रो हीनः सुखभोगक्षणमलभमानश्चेति यावत्। सर्वस्यापि विशेषणजातस्य मूलमिदमुच्यते—अभिमानित्वं प्रयात इति। इति शब्द इत्थमर्थे। कथमित्येतदाह—**अहमिति**। अहं मनुष्यः कर्ता भोक्ता। स उ इति च्छेदः। उशब्दोऽप्यर्थे। सोऽपि परोऽप्यस्ति मादृशो मम मित्रं शत्रुरुदासीनो वा। इदमिति देहवाह्यं परिकल्प्य तच्च ममेति शोभनाध्यासपुरःसरमात्मीयतयाऽभिमन्यतेऽर्थादशोभनाध्यासान्न ममेति च। एवं मन्यमानोऽभिमन्यमान आत्मना स्वेनैवाऽऽत्मानं निबध्नाति।

बन्धनमात्रे दृष्टान्तमाह—

जालेनेव खचरः कृतस्यानु फलैरभिभूयमानः सदसद्योनिमापद्यता इत्यवाङ्योर्ध्वा वा गतिर्द्वन्द्वैरभिभूयमानः परिभ्रमति ।

पक्षीवेत्यर्थः। अथवा खचरः कोशकारो वृक्षकोटराकाशे चरणात् । स यथाऽऽत्मनैव कोशं कृत्वा तेनाऽऽत्मानं निबध्नाति तद्वदित्यर्थः। एवं कुर्वन् कृतस्य कर्मणः शुभाशुभलक्षणस्यानु पश्चादवश्यम्भाविफलैः सुखदुःखैरभिभूयमानः परवशीक्रियमाणः पुनः सदसद्योनिमापद्यत इत्यादि व्याख्यातम्।

पुनरप्यस्य विशेषजिज्ञासया पृच्छन्ति—

कतम एष इति तान् होवाचेति ।।२।।

उत्तरमुत्थापयति—**तान् होवाचेति** ।।२।।

यह जो दूसरा तत्त्व है, [उसका नाम है] भूतात्मा। वह अर्थात् भूतात्मा संज्ञक तत्त्व शुभाशुभ कर्म-फलों से अभिभूत होता हुआ अच्छी-बुरी योनियों मे पड़ता रहता है। [कभी] वह ऊपर जाता है और [कभी] नीचे। [द्वन्द्वादि-से] अभिभूत होता हुआ वह परिभ्रमण करता रहता है। इसकी स्पष्ट व्याख्या [यों] है—'भूत' शब्द से पञ्चतन्मात्राओं का कथन किया जाता है और पञ्चमहाभूत [भी] भूत शब्द से कहे जाते हैं। उन पञ्चमहाभूतों का जो समुदाय है, उसे ही शरीर कहा गया है। शरीर को ही [इस प्रकार वास्तव में] भूतात्मा कहा गया है। इस शरीर की आत्मा अमृत है। [इसकी स्थिति ऐसी है] जैसे कमल पर स्थित [पानी की] बूँद। यह प्रकृतिजन्य गुणों से अभिभूत है और अभिभूत होने के कारण यह सम्मूढता अर्थात् विवेकराहित्य की स्थिति में पहुँच गया है। सम्मूढ होने के कारण आत्मा में स्थित, प्रभु, भगवान् [ऐश्वर्य सम्पन्न] और [सब कुछ] कराने वाले को भी नहीं देख पाया। गुण समूहों से ले जाया जाता हुआ यह कलुषग्रस्त कर दिया गया है और अस्थिर, चञ्चल, लुप्त होता हुआ, कामनाओं से युक्त, बेचैन और अभिमान की स्थिति में पहुँच गया है। [यह] 'मैं वह हूँ,' 'यह मेरा है' इस प्रकार से मानता हुआ अथवा समझता हुआ, स्वयं ही अपने को ऐसे बाँध लेता है, जैसे आकाश में उड़नेवाला पक्षी [बहेलिये के] जाल में [अपनी मूर्खता से] फँस जाता है। किये हुए कर्म के बाद में होनेवाले परिणामों अथवा फलों से अभिभूत होता

हुआ अच्छी-बुरी योनियों में पड़ता रहता है। कभी वह ऊपर जाता है और कभी नीचे। [सुख-दुःख और गर्मी-सर्दी इत्यादि] द्वन्द्वों से अभिभूत होता हुआ [विविध योनियों में] परिभ्रमण करता रहता है। यह कौन है?' उन [वालखिल्यों] से उन्होंने कहा—॥२॥

भूतात्मनश्चिदात्मनश्च वस्तुतो यद्यभेदस्तर्हि कथं भूतात्मनि संसरति तदभिन्नश्चिदात्मा न संसारी भवेदिति पृष्टो दृष्टान्तेन व्यवस्थामुपपादयिष्यन्नुक्तावात्मानौ परामृशति—

अथान्यत्राप्युक्तं यः कर्ता सोऽयं वै भूतात्मा करणैः कारयिताऽन्तःपुरुषः ।

अथैवमेवान्यत्रापि शाखान्तरेऽप्युक्तं किं यः कर्ताऽस्मिञ्शरीरे सोऽयं वै भूतात्मा यस्तु करणैः सन्निधिसत्तामात्रेण स्वप्रेरितैः करणैः कारयिता सोऽन्तःपुरुषश्चिदात्मेति, एतदन्यत्राप्युक्तमित्यर्थः।

अन्तःपुरुषव्याप्तस्य भूतात्मनो नानात्वापत्तिं सदृष्टान्तामाहान्तरपुरुषस्य स्वतोभेदशङ्काव्यावृत्तये—

अथ यथाऽग्निनाऽयस्पिण्डोऽन्यो वाऽभिभूतः कर्तृभिर्हन्यमानो नानात्वमुपैत्येवं वाव खल्वसौ भूतात्माऽन्तःपुरुषेणाभिभूतो गुणैर्हन्यमानो नानात्वमुपैति।

अथेदमुच्यते यथाऽग्निना प्रसिद्धेनाभिभूतो व्याप्तोऽयःपिण्डोऽन्यो वा काष्ठादिपिण्डः सन्तप्तः कर्तृभिर्लोहकारादिभिर्हन्यमानस्ताड्यमानो नानात्वं विस्फुलिङ्गभावेनोपैति नानादिक्ष्वनेकधा विप्रसृतो भवतीत्यर्थः। एवं वावैमेवोक्तदृष्टान्तवत्खल्वसौ भूतात्माऽन्तःपुरुषेणाभिभूतो व्याप्तो गुणैर्देहिन्द्रियान्तःकरणैर्गुणात्मकमायाकार्यैर्हन्यमानोऽवच्छिद्यमानो नानात्वमुपैति तत्तद्भूतसङ्घातभेदेन भिद्यत इत्यर्थः।

नानाभावमेव वर्णयति—

[1]चतुर्जालं चतुर्दशविधं चतुरशीतिधा परिणतं भूतगणमेतद्वै नानात्वस्य रूपम्।

---

१. कुछ हस्तलेखों में 'चतुर्जालम्' से पहले 'त्रिगुणम्' पद का समावेश भी है।

चत्वारि जालानि परिच्छेदकानि यस्मिंस्तत्तथा। जरायुजाण्डज-स्वेदजोद्भिज्जरूपैश्चतुर्भिर्जालैरवच्छिन्नमित्यर्थः। चतुर्दशविधं भूरादिचतुर्दश-भोगस्थानप्रकारमित्यर्थः। पुनर्जरायुजादीनामवान्तरजातिभेदेन चतुरशीतिधा तावल्लक्षं तावतोऽप्यधिकं वा भेदेन परिणतमुपचितमित्यर्थः। किं तत्। भूतगणं भूतानां गणो यस्मिस्तद्भूतगणं पञ्चमहाभूतसंहननं यदेवंविधमेतद्वै नानात्वस्य भेदस्य रूपं स्वरूपमित्यर्थः।

उक्तस्य चराचरलक्षणस्य स्वतश्चेतनत्वशङ्कां व्यावर्तयंश्चिदात्मनोऽस्माद्भेदं सूचयति—

तानि ह वा एतानि गुणानि पुरुषेणेरितानि चक्रमिव मृत्पचेनेति ।

तानि जरायुजादिभेदेन चतुर्विधानि भूरादिभेदेन चतुर्दशविधानि च ह वा एतानि चतुरशीत्यादिप्रकाराणि गुण्यन्ते पुनः पुनरावर्तन्त इति गुणानि पुरुषेणान्तःस्थेनेरितानि मृत्पचेन कुलालेनेरितं चक्रमिव भ्रमन्तीति शेषः।

इदानीं भूतात्मानुगतस्यापि चिदात्मनो भूतात्मगतावस्थादोष-संस्पर्शाभावं दृष्टान्तेनोपपादयन् संसारित्वासंसारित्वव्यवस्थामाह—

अथ यथाऽयस्पिण्डे हन्यमाने नाग्निरभिभूयत्येवं नाभिभूयत्यसौ पुरुषोऽभिभूयत्ययं [१]भूतात्मोपसंश्लिष्टत्वादिति ।।३।।

अभिभूयत्यभिभूयते न हन्यत इत्यर्थः। न ह्यौष्ण्यप्रकाशस्वभाव-स्याग्नेः स्वतोऽवस्थाभेदो वक्रवर्तुलस्थूलसूक्ष्मत्ववादिलक्षणोऽयःपिण्डाद्यु-पाधिपरामर्शमन्तरेण निरूपणपथमवतरति। एवमेवासौ पुरुष आन्तरश्चिदात्मा नाभिभूयति नाभिभूयते भूतात्मगतावस्थाभिर्भेदविपर्यास-लक्षणैर्न संस्पृश्यते, अत्राप्युपाधिपरामर्शमन्तरेण भेदविपर्यासयो-रनिरूपणात्, अयं तु भूतात्माऽयःपिण्डादिभेदेनाऽऽकारवत्तया गृह्य-

१. **भूतात्मा**—मनुस्मृति [१२.१२] के अनुसार जो कर्म करता है, उसे ही विद्वान् भूतात्मा कहते हैं—'यः करोति तु कर्माणि स भूतात्मोच्यते बुधैः।' जो इस भूतात्मा का कारयिता है—वह क्षेत्रज्ञ है—'योऽस्यात्मनः कारयिता तं क्षेत्रज्ञं प्रचक्षते' [वहीं]।

माणाग्न्याभासवद्भूतसङ्घातोपसंश्लिष्टत्वात्तदात्माभिमानितयाऽनुगतत्वादिभि-भूयत्यभिभूयते तदवस्थाभिरवस्थावान् भवतीत्यर्थ:।।३।।

[इस विषय में] अन्यत्र भी कहा गया है—जो कर्ता है, वही यह भूतात्मा है। और जो इन्द्रियों से काम करानेवाला है वह अन्त:पुरुष अर्थात् चिदात्मा है। जैसे अग्नि में तपाया गया लोहे का पिण्ड लुहारों के द्वारा [हथौड़े से] पीटा जाकर अनेक आकारों को प्राप्त कर लेता है—उसी प्रकार यह भूतात्मा भी अन्तःपुरुष से अभिभूत होता हुआ और गुणों के द्वारा किये गये आघातों के कारण अनेकत्व को प्राप्त कर लेता है। [पञ्च] महाभूतों का यह सङ्घात चार जालों [-जरायुज, अण्डज, स्वेदज और उद्भिज्ज-रूप-] से आवृत, [पृथिवी इत्यादि] चौदह [भोगस्थानों के कारण उतने ही] प्रकार का और चौरासी [अथवा ८४ लाख] योनियों में परिणत होता रहता है। यही अनेकता का रूप है। पुरुष के द्वारा प्रेरित होने पर ये सभी रूप [ऐसे घूमते रहते हैं] जैसे कुम्हार के द्वारा घुमाया गया चाक घूमता रहता है। जैसे लोहे के पिण्ड पर हथौड़े से प्रहार होते समय अग्नि अप्रभावित रहती है, इसी प्रकार भूतात्मा के अभिभूत होने पर यह पुरुष भी अभिभूत नहीं होता। [भूतसङ्घात से] संश्लिष्ट होने के कारण [केवल] यह भूतात्मा ही अभिभूत हो जाता है ।।३।।

यस्मादेवं देहाभिमाननिबन्धनमात्मन: संसारित्वं तस्माद्देह-स्वभावालोचनया देहाभिमानत्याग: कार्योऽसंसारित्वायेति विवक्षन् देहस्य बीभत्सागोचरतामाह—

अथान्यत्राप्युक्तं [१]शरीरमिदं मैथुनादेवोद्भूतं संवृद्ध्युपेतं निरयेऽथ मूत्रद्वारेण निष्क्रान्तमस्थिभिश्चितं मांसेनानुलिप्तं चर्मणाऽवनद्धं विण्मूत्रपित्तकफमज्जामेदोवसाभिरन्यैश्चाऽऽमयैर्बहुभि: परिपूर्णं कोश इववसुना ।।४।।

१. मानव की उत्पत्ति के विषय में यह धारणा जो ऊपर व्यक्त की गई है, यह एक शास्त्रविशेष की विचार-प्रक्रिया के अनुरूप है। यह धारणा वास्तव में मन्त्र संहितोत्तरकाल की है, अन्यथा माता के गर्भ को वैदिक साहित्य में कहीं 'नरकतुल्य' नहीं कहा गया है।

प्रथमं मैथुनादेवोद्भूतं शुक्रशोणितबिन्दुरूपं क्रमेण निरये निरयतुल्ये मातुरुदरे संवृद्ध्युपेतमङ्गप्रत्यङ्गकेशनखलोमप्रकारैः परिव्यूढम्। अथ नवमे दशमे वा ततोऽप्यधिके वा मासे सति मूत्रद्वारेण योनिरन्ध्रेण निष्क्रान्तमेवंविधमिदं शरीरं प्रसिद्धमित्यर्थः। अवनद्धं पिहितम्। अन्यैश्चाऽऽमयैरुदरशूलापस्मारादिभिर्बहुभिरसंख्यातैः। कोशो भाण्डागारम्। वसु धनम्। प्रसिद्धार्थमन्यत्। निरयरूपेऽस्मिञ्शरीरे विवेकिनाऽभिमानो न कार्य इत्यभिप्रायः।।४।।

और अन्यत्र भी कहा गया है—यह शरीर मैथुन क्रिया से उत्पन्न है, नरकतुल्य स्थान पर विकसित हुआ है, मूत्र-द्वार से बाहर निकला है, हड्डियों से इसका ढाँचा बना है, माँस का पलस्तर इस पर चढ़ा हुआ है, चमड़े से यह मढ़ा हुआ है, मल-मूत्र-पित्त-कफ-मज्जा-मेद [चर्बी] और नस-नाड़ियों तथा अन्य बहुत से रोगों से परिपूर्ण है—[इस प्रकार यह] धन-भाण्डार के समान है।।४।।

मनुस्मृति [६.७६.७७] में भी, एक स्थान पर कुछ इसी का समर्थन सा किया गया है—

अस्थिस्थूणं स्नायुयुतं मांसशोणितलेपनम् ।
चर्मावनद्धं दुर्गन्धिपूर्णं मूत्रपुरीषयोः।
जराशोकसमाविष्टं रोगायतनमातुरम्।
रजस्वलमनित्यञ्च भूतावासमिमं त्यजेत् ।।

इस प्रकार के कथनों का प्रयोजन देहासक्ति का निराकरण भर है। स्व०पं० श्रीपाद दामोदर सातवलेकर ने अपने वेद-भाष्यों में मानव-शरीर की इस स्थिति का प्रत्याख्यान किया है। उनके अनुसार यह शरीर गन्दगी का भण्डार न होकर वास्तव में देव-मन्दिर है, जिसकी सृष्टि परमात्मा ने विशेष प्रयोजन से की है और परमात्मा की सृष्टि [जिसे 'अमृतस्य पुत्राः' जैसे वचनों से स्पष्ट किया गया है—] को गन्दगी का भण्डार कहना स्वयं परमात्मा का अपमान करना है। इस प्रकार के अंश इस उपनिषत् की शास्त्रविशेष जन्य निष्ठा व्यक्त करते हैं।

एवं स्थूलशरीरे वैराग्याय तत्स्वभावमुक्त्वा सूक्ष्मेऽपि शरीरे वैराग्याय तत्स्वभावमुपन्यस्यति—

अथान्यत्राप्युक्तं सम्मोहो भयं विषादो निद्रा तन्द्री प्रमादो जरा शोकः क्षुत्पिपासा कार्पण्यं क्रोधो नास्तिक्यमज्ञानं मात्सर्यं नैष्कारुण्यं मूढत्वं निर्व्रीडत्वं निराकृतित्वमुद्धतत्वमसमत्वमिति तामसानि।

सम्मोहो विपर्ययः। तन्द्र्यालस्यम्। प्रमादोऽवश्यकर्तव्येष्ववधानशून्यता। जरा देहधर्मोऽप्यन्तःकरणेन जीर्णोऽहमित्यभिमानात्तद्धर्मान्तरानुक्रान्ता। कार्पण्यं कृपणत्वं सत्यां सम्पत्तौ कदर्यता।

"आत्मानं धर्मकृत्यं च पुत्रदारांश्च पीडयन्।
देवतातिथिभृत्यांश्च स कदर्य इति स्मृतः"।।

इति स्मृतौ कदर्यलक्षणमुक्तं स एवेह कृपणस्तस्य भावः कार्पण्यमित्यर्थः। नास्तिक्यमामुष्मिके श्रेयसि निरये वा नास्तीति बुद्धिर्वेदाद्यनादरश्च। अज्ञानमपेक्षितार्थास्फूर्तिः। परर्द्ध्यसहिष्णुत्वं मात्सर्यम्। नैष्कारुण्यं नैष्ठुर्यम्। मूढत्वमविवेकित्वं विवेकराहित्यमिति यावत्। अतो न मोहेन पौनरुक्त्यम्। निर्व्रीडत्वमकार्यकरणेऽनपत्रपत्वम्। निराकृतित्वमनवस्थितस्वभावत्वम्। उद्धतत्वं साहसेषु निःशङ्कत्वम्। असमत्वं विषमबुद्धित्वम्। एतानि तामसानि तमोगुणोद्रेककृतानीत्यर्थः। अन्यत्प्रसिद्धार्थम्।

राजसान्याह—

अन्तस्तृष्णा स्नेहो रागो लोभो हिंसा रतिर्द्विष्टिर्व्यावृतत्वमीर्ष्याऽकाममस्थिरत्वं चलत्वं व्यग्रत्वं जिगीषाऽर्थोपार्जनं मित्रानुग्रहणं परिग्रहावलम्बोऽनिष्टेष्विन्द्रियार्थेषु द्विष्टिरिष्टेष्वभिष्वङ्गः [१]शुक्तस्वरोऽन्नतमस्त्विति राजसान्येतैः परिपूर्ण एतैरभिभूता इत्ययं भूतात्मा तस्मान्नानारूपाण्याप्नोतीत्याप्नोतीति[२] ।।५।।

।। इति मैत्र्युपनिषदि तृतीयः प्रपाठकः ।।३।।

---

१. शुक्तस्वरोन्नतमः—शुक्तस्वरः + उन्नतमः यह भी मैत्रायणी शाखा में प्राप्त दोहरी सन्धिप्रक्रिया का उदाहरण है।

२. 'आप्नोति' पद की द्विरुक्ति प्रपाठक-समाप्ति का द्योतक है।

अप्राप्येऽप्यर्थेऽभिलाषोऽन्तस्तृष्णा। अतस्तृष्णेति पाठेऽतः परं राजसान्युच्यन्त इति योज्यम्। स्नेहः पुत्रदारादिषु ममत्वाभिनिवेशः। रागस्तेष्वासक्तिरात्मत्वाभिमानः। लोभो लब्धेषु विषयेष्वलंबुद्ध्यभावः। हिंसा परपीडा। द्विष्टिर्द्वेषः। व्यावृतत्वं व्यावृताभिप्रायत्वं गूढाभिसन्धितेत्यर्थः। ईर्ष्या निरर्थकस्पर्धा। काम्यत इति कामः फलं तद्रहितं यथा स्यात्तथाऽस्थिरत्वं चाञ्चल्यं निरर्थकप्रवृत्तिमत्त्वमित्यर्थः। यद्वाऽऽकाममाकामत्वमासमन्तात्कामवत्त्वमसम्पूर्णकामत्वमित्यर्थः। अत एवास्थिरत्वमेकस्मिन् विषये स्थैर्यरहितत्वम्। चलत्वं चलचित्तत्व-मगाम्भीर्यमिति यावत्। व्यग्रत्वं व्यसनिता। धनविद्यादिभिः पराञ्जेतुमिच्छा जिगीषा। अर्थस्य पशुधनक्षेत्रादेरुपार्जनं येन केनचनोपायेन सम्पादनम्। तदर्थं मित्राणामुपकारिणामनुग्रहणं दानमानसत्कारैरनुसरणम्। परिग्रहा-वलम्बो गृहाश्रमोत्साहः। उत्तरं वाक्यद्वयं स्पष्टार्थम्। अभिष्वङ्गः प्रीत्यतिशयः। शुक्तस्वरोऽव्यक्तस्वरस्तद्वत्त्वमिति यावत्। अन्नतमो बह्वन्नः ख्यात्याद्युद्देशेनान्नदानपरत्वमित्यर्थः। तुशब्दः पूर्वोक्तात्तामसाद्व्यवच्छेदार्थः। इत्येवंविधानि राजसानीत्यर्थः। एतैरित्यादिः स्पष्टार्थः। यस्मादेवं तामसै राजसैश्च धर्मैरभिव्याप्तोऽयं भूतात्मा तस्माद्वासनावासिततया पुनः पुनर्नानारूपाण्याप्नोतीति। अभ्यासः प्रपाठकसमाप्तिद्योतनार्थः।।५।।

।। इति श्रीरामतीर्थविरचितायां मैत्रीशाखोपनिषद्दीपिकायां

तृतीयः प्रपाठकः।।३।।

सम्मोह (भ्रम), भय, विषाद, निद्रा, तन्द्रा (आलस्य), प्रमाद (लापरवाही), वृद्धावस्था, शोक, भूख, प्यास, कृपणता (कंजूसी), क्रोध, नास्तिकता, अज्ञान, ईर्ष्या (डाह), करुणाहीनता, मूढता, निर्लज्जता, दुष्टता, औद्धत्य (धृष्टता या ढिठाई) और असमानता—ये तमोगुणजन्य (विकृतियाँ) हैं। इसलिए तृष्णा, स्नेह, राग (आसक्ति), लोभ, हिंसा, कामभावना, द्वेष करना, छिपकर षड्यन्त्र रचना, ईर्ष्या (अकारण स्पर्धा), निष्प्रयोजन कार्य करना (अकाम), अस्थिरता, चञ्चलता, बेचैनी (व्यग्रता), जीतने की इच्छा (दूसरे को) जीतने की

इच्छा, आवश्यकता से अधिक धन का उपार्जन, मित्रों को अनुगृहीत करना, परिजनों को सहारा देना और उनसे सहारा लेना, इन्द्रियों के अप्रिय विषयों में द्वेषभाव, इन्द्रियों के प्रिय विषयों में आसक्ति, रूक्षवचन और महत्त्वाकाक्षी होना ये रजोगुण जन्य हैं। यह भूतात्मा इसीलिए कहलाती है; क्योंकि यह इन तामसी और राजसी तत्त्वों से परिपूर्ण और अभिभूत है। इसीलिए यह अनेक रूपों को प्राप्त करती हैं, प्राप्त करती है।।५।।

।। इस प्रकार तृतीय प्रपाठक सम्पन्न हुआ ।।

●

अथ चतुर्थः प्रपाठकः

पूर्वस्मिन् प्रपाठक एकस्यैव चिदात्मनो भूतात्मोपाध्यविवेकेन संसारित्वं तद्गतावस्थाभिरवस्थावत्त्वं नानात्वं चेत्येवमादिदोषसंसर्गो न स्वतः स्वतस्तु निर्धर्मको नित्यशुद्ध एवेति प्रतिपादितम्। तदेतदवधार्य भूतात्मभावोपमर्देन शुद्धात्मस्वभावावाप्त्युपायं जिज्ञासवो वालखिल्याः पृच्छन्तीत्याख्यायिकामेवानुसरन्ती श्रुतिर्मोक्षसाधनं तत्त्वज्ञानमन्तरङ्गबहिरङ्ग-साधनोपेतमुपदेष्टुं प्रवर्तते। ज्ञातव्ये हि विषये निर्धारिते तज्ज्ञानोपाय-जिज्ञासावसर इति सङ्गतिमभिप्रेत्य तदर्थं गुरूपसत्तिं विदधाति—

ते ह खलु वावोर्ध्वरेतसोऽतिविस्मिता अभिसमेत्योचुर्भगव-न्नमस्तेऽस्त्वनुशाधि त्वमस्माकं गतिरन्या न विद्यता इति[1]।

हशब्द ऐतिह्यार्थः। खलुशब्दो वाक्यालङ्कारार्थः। वावशब्दोऽव-धारणार्थः। ऊर्ध्वरेतसः पूर्वोक्ता वालखिल्या ऋषयः। ते ह विस्मिता अवधारणस्यात्रान्वयः। किमिदमद्भुतमिव नित्यशुद्धश्चिदात्माऽस्मत्प्रत्य-गात्मा सन्नपि परोक्ष इव शुद्धोऽप्यशुद्ध इवाक्रियोऽपि सक्रिय इवेति विस्मिता एव सन्तः प्रजापतिं गुरुमित्यध्याहारः। अभिसमेत्याऽऽभिमुख्येन सम्यग्विधिपूर्वकमेत्योचुरुक्तवन्तः। हे भगवंस्ते तुभ्यं नमो नमनमिदमस्तु त्वमनुशाधि शनैः शिक्षयास्माकमस्मानित्यर्थः। अथवाऽस्मानिति पदम-ध्याहर्तव्यम्। अन्यान् प्रार्थयध्वमिति चेन्नैवं वाच्यमित्यभिप्रेत्योचुरस्माकं त्वच्छिष्याणां गतिर्गन्तव्यं स्थानमन्या त्वदन्या न विद्यतेऽतस्त्वामेव पृच्छाम इत्यर्थः।

यदर्थमुपसन्नास्तमर्थं पृच्छन्तीत्याह—

अस्य को विधिर्भूतात्मनो येनेदं हित्वाऽऽत्मन्नेव सायुज्यमुपैति तान् होवाचेति ।।१।।

---

१. 'विद्यता इति' विद्यते + इति की सन्धि मैत्रायणीशाखीय सन्धिप्रक्रिया के अनुसार है।

अस्य प्रत्यक्षानुभवसिद्धस्य भूतात्मनो भूतसङ्घातमात्मत्वेनोपगतस्य को विधिर्विधानं कः प्रकारो येन विधिनोपायभूतेनेदं भूतात्मत्वं हित्वा विहायाऽऽत्मन्नात्मनि चिदानन्दसतस्वरूप एव पूर्णात्मनि सायुज्यं सयुग्भावं भूतात्मत्वविलापनेनोपैति निरस्तोपाधितया स्वस्वरूपेऽवतिष्ठते स को विधिस्तं विधिं नो ब्रूहीत्युक्तवन्त इत्यर्थः। तान् होवाचेत्युक्तार्थः।।१।।

वे ऊर्ध्वरिता अर्थात् अखण्ड ब्रह्मचारी ऋषि वालखिल्य [क्रतु प्रजापति के उपर्युक्त व्याख्यान से] अत्यन्त आश्चर्यचकित हुए और उन्होंने [उनके] सम्मुख एक साथ जाकर कहा—'भगवन्! आपको नमस्कार है। इसके अनन्तर भी आप हमें ज्ञान प्रदान कीजिए। हमारी पहुँच आप तक ही है। [हमारे लिए] अन्य मार्ग नहीं है। इस भूतात्मा का ऐसा कौन-सा विधान है, जिससे यह अपने भूतात्मभाव को छोड़कर अपने चिदानन्दस्वरूप के साथ सायुज्य प्राप्त करता है? उन ऋषियों से उन्होंने कहा—।।१।।

एवं पृष्टः प्रजापतिः प्रथमं वैराग्यदार्ढ्याय भूतात्मनः स्वरूप-मुपन्यस्यति यस्मिन्नासक्तः संश्चिदात्मा स्वं रूपं परमं पदं न जानाति तदिदं विचिन्त्यतां तावदिति—

अथान्यत्राप्युक्तं महानदीषूर्मय इवानिवर्तकमस्य यत्पुराकृतम्।

अस्य भूतात्मनो यत्पुराकृतं तदनिवर्तकमित्यन्वयः। नास्ति निवर्तकमस्येत्यनिवर्तकम्। पुराकृतं पुण्यापुण्यरूपं कर्म महानदाषूर्मय इव पुनः पुनरविच्छेदेन जायमानं यतो भोगेन क्षीयमाणमपि पुनः पुनः पुंसां क्रियमाणत्वान्नोद्वर्तेतातो ब्रह्मज्ञानादन्यन्निवर्तकमस्य नास्तीत्यर्थः। तथा च श्रुती—"स हीदमन्नं पुनः पुनर्जनयते" "स हीदमन्नं धिया धिया जनयते कर्मभिर्यद्ध्येतन्न कुर्यात्क्षीयेत ह" इति। "भिद्यते हृदयग्रन्थिः" "नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय" इति च।

सत्कर्म वाऽऽत्मज्ञानं वा सम्पाद्योत्तरे वयसि कर्मक्षयं करिष्यामीत्याशा न कार्येत्याह—

समुद्रवेलेव दुर्निवार्यमस्य मृत्योरागमनम्।

अस्य भूतात्मनो मृत्योरागमनं मरणप्राप्तिः समुद्रस्योत्सर्पतो वेलेव बेलाधावनमिवानिच्छतोऽपि दुर्निवार्यमस्य मृत्योरागमनमित्यर्थः।

यावज्जीवति तावत्यपि काले नेच्छया पुरुषार्थसाधनक्षममित्याह—

सदसत्फलमयैः पाशैः पङ्गुरिव बद्धं बन्धनस्थस्येवास्वातन्त्र्यं यमविषयस्थस्येव बहुभयावस्थम्।

तत्तत्कर्मोपदर्शितानेकसुखदुःखभोगवासनामयैः पाशैर्बद्धं निगडितं सत्पङ्गुरिव गमने सत्साधनप्रवृत्तावक्षममित्यर्थः। तत्र हेतुमाह— यतो बन्धनस्थस्य बध्यतेऽस्मिन्निति बन्धनं बन्धनागारं तत्स्थस्येवास्वातन्त्र्यमस्य भवत्यतः पङ्गुरिवाकिञ्चित्करं भूतात्मस्वरूपमित्यर्थः। अतोऽत्र विश्वासो न कार्य इत्यर्थः। इतोऽपि न विश्वासः कार्यो यतो यमस्य दण्डयितुर्विषये गोचरेऽवस्थितस्य यथा बहुविधं भयं तथा बहुभयाविष्टाऽवस्था यस्य तत्तथोक्तं सर्वस्मादपि शङ्कितभयमित्यर्थः।

भूतसङ्घातमभिमन्यमानस्य विवेकोद्गमोऽपि दुर्लभ इत्याह—

मदिरोन्मत्त इव मोहमदिरोन्मत्तं पाप्मना गृहीत इव भ्राम्यमाणं महोरगदष्ट इव विषयदष्टं महान्धकारमिव रागान्धम्,

मोहोऽविवेकः स्तब्धता। पाप्मना पापग्रहेण गृहीत इव भ्राम्यमाणं सदैवावशमित्यर्थः। यद्वा ग्रहगृहीत इव पाप्मना पापेन भ्राम्यमाणमिति योजना। विषयदष्टं वासनारूपेण विषयैराविष्टमित्यर्थः। महानन्धकारो यस्मिंस्तन्महान्धकारं निशीथं तद्वद्रागो विषयासक्तिः सोऽन्धकार इव हिताहितप्राप्तिपरिहारोपायावरणं तेनान्धमावृतमित्यर्थः।

इदानीमस्मिन् सत्त्वबुद्धिरपि न कार्येत्याह—

इन्द्रजालमिव मायामयम्।

मायाविनिर्मितहस्त्यादिवद्दृष्टनष्टस्वरूपत्वान्मायामयमित्यर्थः।

तत्त्वज्ञानबाध्यत्वादपि नास्मिन् सत्त्वमवधेयमित्याह—

स्वप्न इव मिथ्यादर्शनं कदलीगर्भ इवासारम्।

मिथ्यादर्शनं बाध्यदर्शनमित्यर्थः। विमतं बाध्यज्ञानप्रतिभासं कादाचित्कत्वात्स्वप्नदृष्टवदित्यनुमानमुक्तं भवति। कदलीगर्भस्तदन्तः-शलाका तद्वदिदमसारमल्पोपघातमप्यसहमानमित्यर्थः।

प्रतिक्षणपरिणामादप्यविश्वास्यमित्याह—

नट इव क्षणवेषम्।

यद्वा नानाजात्यभिव्यञ्जकक्रमभाव्यनेकाकारपरिग्रहान्नट इव दुर्लक्ष्यमित्यर्थः।

अस्मिन् सौकुमार्यसौन्दर्यादिबुद्धिरपि न कार्येत्याह—

चित्रभित्तिरिव मिथ्यामनोरममित्यथोक्तम् ।

मांसशोणितादिभिर्बीभत्सितत्वान्न मनोरममित्यर्थः।

तदुक्तं मनुना—

"अस्थिस्थूणं स्नायुबद्धं मांसशोणितलेपनम् ।
चर्मावनद्धं दुर्गन्धिपूर्णं मूत्रपुरीषयोः।।
जराशोकसमाविष्टं रोगायतनमातुरम्।
रजस्वलमसन्निष्ठं भूतावासमिमं त्यजेत्" ।। इति।।

(अ० ६ श्लो० ७६-७७)

इत्यथैवमुक्तेऽर्थे। उक्तं श्लोकरूपं वचनमिति शेषः।

शब्दस्पर्शादयो ह्यर्था मर्त्येऽनर्था इवाऽऽस्थिताः।

शब्दस्पर्शादयो हि विषया अनर्था अपि मर्त्ये मरणधर्मिणि भूतात्मन्यर्था इव स्पृहणीया इवाऽऽस्थिता अङ्गीकृता न त्वेते स्पृहणीया इति योजना।

कुत इत्यत आह—

येषां सक्तस्तु भूतात्मा न स्मरेत्परमं पदम्।।२।।

भूतात्मा येषां सक्तो येष्वासक्तस्तु परमं पदं वैष्णवं धाम न स्मरेन्नानुसन्दधीतेत्यर्थः।

एवंविधं भूतात्मनः स्वरूपं ब्रह्मादिस्तम्बपर्यन्तं समालोच्य तस्मिन्नभिमानस्त्याज्यः श्रेयोऽर्थिनेत्यभिप्रायः।।२।।

और अन्यत्र भी कहा गया है—जैसे बड़ी-बड़ी नदियों में [उठी] लहरें वापस पीछे नहीं लौटतीं, ठीक उसी तरह इस भूतात्मा के द्वारा पहले किये गये कार्य भी वापस नहीं लौटते। [भोग से यद्यपि वे क्षीण होते रहते हैं, लेकिन लोग बार-बार उन्हीं को करते रहते हैं, इसलिए ब्रह्मानन्द-प्राप्ति के बिना वे समाप्त नहीं होते] और समुद्र-तट के समान मृत्यु के आगमन को भी नहीं रोका जा सकता। [यह जीवन] अच्छे और बुरे [कार्यों के तदनुरूप] फलों से युक्त पाशों [जालों] से लगँड़े व्यक्ति की तरह बँधा है, कैदी व्यक्ति की तरह इसे स्वतन्त्रता प्राप्त नहीं है, यमपुरी में रह रहे व्यक्ति की तरह यह बहुत भयग्रस्त रहता है, मोह-मदिरा से यह मद्यप की तरह उन्माद की स्थिति में पहुँच गया है, पापी के द्वारा पकड़े गये व्यक्ति की तरह यह घुमाया जा रहा है, विषय [वासनाओं] ने इसे उसी प्रकार से डस लिया है, जैसे किसी को महासर्प डस लेता है, गहरे अँधेरे [में पड़े व्यक्ति] के समान यह राग-रंग में अन्धा हो गया है, जादू के खेल की तरह यह मायामय है, स्वप्न के सदृश इसका दिखाई देना झूठा ही है, जैसे कदली का अंकुर थोड़ी-सी भी वर्षा नहीं सहन कर पाता, ठीक उसी प्रकार यह थोड़ा-सा भी आघात नहीं सह पाता। जैसे नट [अभिनय के समय केवल] थोड़ी देर के लिए [अभिनेय विषय के अनुरूप] वेषभूषा धारण करता है, उसी प्रकार इसका स्वरूप भी है। चित्राङ्कित दीवार के सदृश झुठे ही मन को लुभानेवाला है। इस विषय में कहा गया है—

शब्द, स्पर्श, [रूप रस, एवं गन्ध]—प्रभृति विषय मरणधर्मा प्राणी में अनर्थ की तरह ही स्थित हैं। उनमें आसक्त भूतात्मा परमपद[१] अर्थात् परमेश्वर का स्मरण नहीं करता है ।।२।।

---

१. रामतीर्थ ने 'परमपद' का अर्थ वैष्णवधाम किया है। स्मरण का अभिप्राय उनके अनुसार अनुसन्धान करना है।

तदेवं वैराग्याय भूतात्मनः स्वरूपमुपवर्ण्येदानीमस्य त्यागोपायं पृष्टमुपदिशति—

अयं वाव खल्वस्य प्रतिविधिर्भूतात्मनो यद्वेदविद्याधिगमः।

अस्य भूतात्मनोऽयं वावायमेव खलु प्रतिविधिः प्रतिविधानं प्रतिक्रिया भूतात्मत्वप्रहाणोपायः। कोऽयम्। यद्योऽयं वेदविद्याधिगमः। वेदद्वारा विद्याया आत्मतत्त्वविषयाया अधिगमः। सम्यक्प्राप्तिरित्यर्थः।

कथं विद्याधिगमो वेदादित्यपेक्षायां विविदिषन्ति यज्ञेनेत्यादि-श्रुत्यन्तरविनियोगानुरोधेन स्ववर्णाश्रमविहितधर्मानुष्ठानप्रभावकृतस्वान्त-शुद्धिं विना न ज्ञानाधिगम इत्यभिप्रायेणाऽऽदौ बहिरङ्गाणि कर्माणि विदधाति—

स्वधर्मस्यानुचरणम्।

स्वो धर्मः स्वधर्म आवश्यकं कर्म तस्यानुचरणमनुक्रमेणानुष्ठानम्।

एतदेव स्पष्टयति—

[१]स्वाश्रमेष्वेवानुक्रमणं स्वधर्मस्य वा एतद्व्रतं [२]स्तम्बशाखेवा-पराण्यनेनोर्ध्वभाग्भवत्यन्यथाऽवाङित्येष स्वधर्मोऽभिहितो यो वेदेषु न स्वधर्मातिक्रमेणाऽऽश्रमी भवति।

यस्य वर्णस्य यावन्त आश्रमा विहितास्तेष्वाश्रमेष्वेव विहितानां कर्मणां तेन तेन वर्णेनानुक्रमणमनुष्ठानमिति यदेतद्वै प्रसिद्धं स्वधर्मस्य व्रतं निष्ठा। अपराणि काम्यादीनि कर्माणि स्तम्बशाखेव तृणशलाकेव दृढानीत्यर्थः। एतदुक्तं भवति येन यच्छक्यं कर्तुं तन्न तस्य हितसाधनं किं तु यस्य वर्णस्य यस्मिन्नाश्रमे यो धर्मो विहितः स तस्य हितसाधनं

१. रामतीर्थ की टीका के अनुसार अपने वर्णाश्रम धर्मगत नियमों का पालन करने से अन्तःकरण की शुद्धि होती है, जिसके अभाव में आत्मज्ञान नहीं होता।

२. 'स्तम्बशाखेवापराणि' अंश से काम्यकर्मों को बन्धनकारक बतलाकर उनका सेवन न करने के लिए कहा गया है। मुमुक्षु को काम्यकर्मों का अनुष्ठान नहीं करना चाहिए।

तेन सोऽनुष्ठेयः काम्यादि तु मुमुक्षुणा हेयमिति। अनेनोक्तप्रकारस्वधर्मानुष्ठानेन। ऊर्ध्वभाक्, संसारमण्डलादुपरि यदसंसारि ब्रह्म तदूर्ध्वमुच्यते—

"ऊर्ध्वमूलो अवाङ्शाख एषोऽश्वत्थः सनातनः।
तदेव शुक्रं तद्ब्रह्म तदेवामृतमुच्यते।
तस्मिल्लोकाः श्रिताः सर्वे तदु नात्येति कश्चन"।।

इति श्रुत्यन्तरात्। (कठो० ६)

तदूर्ध्वं ब्रह्म भजत इत्यूर्ध्वभाक् ब्रह्मज्ञानवान् भवतीत्यर्थः। अन्यथा स्वधर्मातिक्रमणे काम्यकर्मनिष्ठायां वाऽवा-ङित्यधो नरकादिस्थानमर्वाचीनानेकानित्यपुरुषार्थं वा भजेतेत्यर्थः। संसार-मण्डलान्न व्यावर्तत इत्यभिप्रायः। उपसंहरति—एष स्वधर्मो यो वेदेष्वभिहितो वर्णाश्रमनिबन्धनो न काम्यादि स्वधर्म इत्यर्थः। यद्यपि काम्याद्यपि कर्म कामिनः स्वाभिलषितसाधनत्वात्स्वो धर्मो भवति तथाऽपि न तत्स्वरूपाविर्भावहेतुरिति न मुख्यं तस्य स्वधर्मत्वम्। स्ववर्णाश्रममात्राधिकारकस्तु धर्मश्चित्तशुद्ध्यादिपरम्परया स्वस्वरूपाविर्भावहेतुरिति मुख्य इति भावः। उक्तमेवार्थं व्यतिरेकमुखेन द्रढयति—न स्वधर्मातिक्रमेणाऽऽश्रमी भवति। कश्चन तत्तदाश्रमलिङ्गधारणमात्रादाश्रमी न भवति, तस्य स्वरूपतोऽपुरुषार्थत्वात्पुरुषार्थहेतुत्वाच्चेति भावः।

ननु किमित्येवमाश्रमधर्मेष्वतियत्नः क्रियते तपसैव ब्रह्मविद्योदयसम्भवात्। 'तपसा विन्दते महत्' इति वचनादिति चेत्सत्यम्। तदप्याश्रमधर्माविरोध्येव साधनं न तद्विरुद्धमपीत्याशयेनाऽऽह—

आश्रमेष्वेवानवस्थस्तपस्वी वेत्युच्यत इत्येतदयुक्तम्।

आश्रमेष्वनवस्थ एवानाश्रमस्थ एव तपस्वी वा धार्मिको वेत्याद्युच्यते यत्तदेतदयुक्तमिति योजना।

ननु तर्हि तत्र तत्राऽऽत्मज्ञानसाधनेषु 'तपसा ब्रह्म विजिज्ञासस्व' इत्यादि तपोविधानमनर्थकं स्वधर्मानुष्ठानादेवाऽऽत्मज्ञानसिद्धेरित्याशङ्कायामाह—

नातपस्कस्याऽऽत्मज्ञानेऽधिगमः कर्मसिद्धिर्वेति।

अतपस्कस्य वैधकायशोषणरहितस्याऽऽत्मज्ञाने नाधिगमो नाधिगमनमात्मज्ञानं न प्राप्नोतीत्यर्थः। न केवलमेतावत्किं तु कर्मसिद्धिर्वा कर्मफललाभो वा तस्य स्यादित्यर्थः।

अस्मिन्नर्थे सम्मतिमिव श्लोकमुदाहरति—

एवं ह्याह—

तपसा प्राप्यते सत्त्वं सत्त्वात्सम्प्राप्यते मनः।
मनसः प्राप्यते ह्यात्मा यमाप्त्वा न निवर्तत ।।३।। इति।

तपसा स्वधर्माचरणेन तदविरोधिवैष्णवादिनिष्कामव्रत-विशेषाचरणलक्षणेन च सत्त्वं सत्त्वगुणप्रधानं चित्तं प्राप्यते, विशुद्धसत्त्वता लभ्यत इत्यर्थः। तस्मात्सत्त्वान्मनः सम्प्राप्यते। मनुतेऽनेनेति मनो विवेकविज्ञानम्। तस्मान्मनसो मननादात्मा पूर्णं तत्त्वं परं ब्रह्म हि निश्चितं प्राप्यते। आत्मतत्त्वसाक्षात्कार एवाऽऽत्मप्राप्तिर्नान्या तस्याऽऽप्तिर्नित्याप्त-स्वरूपत्वात्। अत आत्मसाक्षात्कारो भवतीत्यर्थः। कोऽयमात्मेत्यत आह—यमाप्त्वा प्राप्य साक्षात्कृत्य न निवर्तते पुनः संसारमण्डले भूतात्मभावाय नाऽऽवर्तते मुच्यत इत्यर्थः ।।३।।

इस [आत्मा] को भूतात्मास्वरूप से हटाने की विधि [यह] है—वेदविद्या के द्वारा [आत्मविषयक तत्त्वज्ञान की] सम्यक् प्राप्ति, अपने धर्म के अनुरूप आचरण तथा अपने आश्रम अथवा अपने धर्म के नियमों का अनुपालन करना। यह व्रत है। अन्य [कर्म] तृणनिर्मित रस्सी की तरह हैं [जो साधक] को बन्धन में डालते हैं। इस व्रत का पालन करने से [व्यक्ति–साधनारत जन-] ऊपर के लोकों का अधिकारी बनता है अर्थात् ब्रह्मज्ञान सम्पन्न हो जाता है। इसके विपरीत आचरण से नीचे के लोकों में जाता है। जो वेदों में बतलाया गया है, वह स्वधर्म है। अपने धर्म का उल्लङ्घन करने से कोई उस आश्रम में नहीं रह पाता अर्थात् उससे च्युत हो जाता है। जो आश्रम के नियमों का ही पालन नहीं करता, उसका तपस्वी कहलाना कैसे उचित हो सकता है? जो तपस्या नहीं करता, उसे न आत्मज्ञान की प्राप्ति

होती है और न कर्मानुष्ठानों में सफलता ही मिलती है। इसी प्रकार से कहा गया है—तपस्या से सत्त्व [गुण] की प्राप्ति होती है, सत्त्व गुण से मनो [बल] मिलता है, मनो [बल] से आत्म [ज्ञान] की उपलब्धि होती है [अर्थात् आत्मसाक्षात्कार] का अनुभव होता है। इस आत्मा [अथवा उसका ज्ञान] पाकर [साधक] पुनः भूतात्मभाव की स्थिति में नहीं लौटता।

इदानीमुक्तं साधनजातं राशित्रयमिव सम्पाद्योपायोपेयभावेनाऽऽत्मसाक्षात्कारे समुच्चयेन विधत्ते—

अस्ति ब्रह्मेति ब्रह्मविद्याविदब्रवीद्ब्रह्मद्वारमिदमित्येवैतदाह यस्तपसाऽपहतपाप्मा ॐ ब्रह्मणो महिमेत्येवैतदाह यः सुयुक्तोऽजस्त्रं चिन्तयति।

यो ब्रह्मविद्याविद्ब्रह्मविषयां विद्यां श्रवणमननलक्षणां वेत्ति सोऽस्ति ब्रह्माखण्डसच्चिदानन्दात्मकं ब्रह्मास्तीत्यब्रवीत्। प्रमाणयुक्तिजन्यं ब्रह्मज्ञानं ब्रह्मप्राप्तिसाधनमित्युक्तवानित्यर्थः। तथा च श्रुत्यन्तरम्—'अस्तीति ब्रुवतोऽन्यत्र कथं तदुपलभ्यते। अस्तीत्येवोपलब्धव्यः' (कठो० ६) इति। यस्तपसा पूर्वोक्तलक्षणेनापहतपाप्मा विशुद्धसत्त्वः, स त्वेतदिदं तपो यथाव्याख्यातरूपं ब्रह्मद्वारमेव ब्रह्मप्राप्तिद्वारमारादुपकारकं भवतीत्याहेति मध्यग्रन्थयोजना। यः पुनः सुयुक्तः सुतरामध्यात्मयोगनिरत ओमित्यजस्त्रं चिन्तयति स एतच्चिन्तनालम्बनमोङ्काररूपं ब्रह्मणो महिमा माहात्म्यमाविर्भूतं ब्रह्मैवैतदित्याहेति योजना। सर्वमर्थजातं वाचकशब्दसम्भिन्नत्वात्तस्मिन्नवगम्यमानं ततो न पृथगस्ति। वाचकशब्दभेदाश्च 'तद्यथा शङ्कुना सर्वाणि पर्णानि सन्तृण्णान्येवमोङ्कारेण सर्वा वाक् सन्तृण्णा ओङ्कार एवेदं सर्वम्' (छान्दो०, अ० २) इति श्रुतेरोङ्कारान्नातिरिच्यन्ते। स चोङ्कारोऽपि स्फुरणावगुण्ठितत्वान्न ततोऽन्योऽस्ति। स्फुरणं च सर्वस्य नामरूपात्मकस्य ब्रह्मैव 'आत्मैवास्य ज्योतिः' इति श्रुतेरात्मा च ब्रह्म 'अयमात्मा ब्रह्म' इति श्रुतेः। तथा च प्रणवेन ब्रह्मात्मानुसन्धानं ब्रह्मणः साक्षात्साक्षात्कारहेतुरिति प्रणवार्थानुसन्धाननिष्ठोऽब्रवीदित्युक्तं भवति।

एवं त्रिधा विभक्तं साधनमिदानीं समुच्चित्य विधत्ते—

तस्माद्विद्यया तपसा[१] चिन्तया चोपलभ्यते ब्रह्म।

अत्र त्रयाणामेषामेकस्मिन् पुरुषे यौगपद्यासम्भवादवश्यंभाविनि क्रमेऽग्निहोत्रयवागूपाकवदर्थक्रमो द्रष्टव्यः। तथाच प्रथमं तपस्ततो ब्रह्मविद्या श्रवणादिलक्षणा ततः प्रणवैकनिष्ठतेति क्रमेण साधनत्रयवान् ब्रह्मोपलभेतेत्यर्थः।

इदानीमुक्तसाधनत्रयातिशयवतः परमफलकथनपूर्वकं साधनत्रयविधेः प्राशस्त्याय ब्रह्मविदं स्तौति—

स ब्रह्मणः पर एता भवत्यधिदैवत्वं देवेभ्यश्चेत्यक्षय्यमपरिमित-मनामयं सुखमश्नुते य एवं विद्वाननेन त्रिकेण ब्रह्मोपास्ते ।

स एवं ध्यायन् विद्वान् ब्रह्मणोऽपरस्य हिरण्यगर्भाख्यस्य शब्दब्रह्मणो वा परः परस्तात्परं ब्रह्मैता गन्ता भवति परं ब्रह्मैव भवतीत्यर्थः। इदं मुख्यफलकथनम्। 'ब्रह्म वेद ब्रह्मैव भवति' इत्यादि च श्रुत्यन्तरम्। तत्किं हिरण्यगर्भोऽन्योऽस्ति यस्मात्परमयमेतीत्याशङ्क्य न हि न हि सोऽप्य-यमेवेत्याह—**अधिदैवत्वमिति।** देवेभ्यश्च देवेभ्योऽप्यध्युपरि यद्दैवत्वं सर्वदेवाधिपतित्वं तदप्ययमेता भवतीति योजना। अश्नुत इति वक्ष्यमाणेन वाऽन्वयः। इतिशब्दः प्रदर्शनार्थः। देवाश्चायमेव भवतीत्येवंविधमस्य माहात्म्यमित्यर्थः। किञ्चाक्षय्यमविनाशि। अपरिमितमिति विशेषणम-विनाशित्वसाधनम्। यत्परिमितं देशतः कालतः स्वरूपतो वा परिच्छिन्नं तद्विनाशि दृष्टं यथा घटादि। इदं तु तद्विपरीतत्वादक्षयमित्यर्थः। सांसारिकसुखवदस्य सातिशयत्वपारतन्त्र्यदुःखसम्भेदशङ्काव्यावृत्तये विशेषणमनामयमिति। एवम्भूतं यत्सुखं तदश्नुते प्राप्नोति भुङ्क्त इति वा। क इत्यपेक्षायामाह—य एवं विद्वाननेन त्रिकेण ब्रह्मोपास्ते स इत्यर्थः।

---

१. रामतीर्थ के अनुसार विद्या, तपस् और विचार में सर्वप्रथम तप को रखना चाहिए। तप से साधक को ब्रह्मविद्या अर्थात् श्रवण, मनन और निदिध्यासन की प्राप्ति होती है। उसका अभ्यास करने से प्रणव मन्त्र में एकाग्रनिष्ठा होती है और तदनन्तर इन तीनों साधनों से साधक ब्रह्मभाव की उपलब्धि करता है।

पुनरपि फलान्तरमिव ब्रह्मसाक्षात्कारनान्तरीयकामुपाधिनिवृत्तिमुपन्यस्यति—

अथ यैः परिपूर्णोऽभिभूतोऽयं रथितश्च तैर्वैव मुक्तस्त्वात्मन्नेवसायुज्यमुपैति ।।४।।

अथास्यामवस्थायामयं परिपूर्णः पूर्णात्मा सन्नात्मन्नेवाऽऽत्मभूते ब्रह्मण्येव सायुज्यमुपैतीति सम्बन्धः। सायुज्योपगमनप्रकारमाहावशिष्टैः पदैः। यैर्भूतपरिणामैर्देहेन्द्रियादिलक्षणैरयं विद्वान् पूर्वं परिभूत आत्मसात्कृतो रथितश्च रथं प्रापितो रथित्वं च प्रापित इति यावत्। तैर्नैव तैर्भूतपरिणामैः। वा एवेति च्छेदः। वाशब्दोऽप्यर्थे तैरपि मुक्त एवेत्यन्वयः। तुशब्दः पुनर्बन्धशङ्काव्यावृत्त्यर्थः। आत्मन्नेवेत्यादि व्याख्यातम् ।।४।।

ॐ। जो [श्रवण, मनन इत्यादि विधियों के अनुसार] ब्रह्म के ज्ञाता हैं, उनका कथन है कि [अखण्ड और सच्चिदानन्दस्वरूप] ब्रह्म है। तपस्या से जिसके पाप नष्ट हो गये हैं, उसे ब्रह्म [-प्राप्ति] के द्वार पर [स्थित] ही कहा गया है। जो भलीभाँति योग [-साधना] में संलग्न होकर निरन्तर [आत्मज्ञान की दिशा में] विचार करता रहता है, वह ओङ्कारस्वरूप ब्रह्म की महिमा ही है—ऐसा कहा जाता है। इसलिए [यह निश्चित समझना चाहिए कि] विद्या, तपस्या और विचार करते रहने से ब्रह्म की प्राप्ति होती है। [इस प्रकार ध्यान करते हुए तत्त्वज्ञानी] ब्रह्म के परे अर्थात् हिरण्यगर्भ नामक अथवा शब्दब्रह्म के उस पार पहुँचकर ब्रह्मभाव को पा लेता है और समस्त देवों से देवों का आधिपत्य पा लेता है। जो इस त्रिक अर्थात् विद्या, तप और विचार के द्वारा ब्रह्म की उपासना करता है, वह अक्षय, अपरिमित और रोगरहित सुख को प्राप्त करता है। [इस अवस्था में पहुँचने पर वह साधक] परिपूर्ण अर्थात् पूर्णात्मा होकर ब्रह्म में सायुज्य भाव को प्राप्त करता है। [लेकिन इससे पूर्व वह जिस भूतात्म भाव से] अभिभूत है [और जिसके कारण उसे इस शरीर रूप] रथ की प्राप्ति हुई है, उससे मुक्त हो जाता है।

एवमात्मनात्मनोस्तत्त्वमात्मतत्त्वब्रह्मज्ञानं च ससाधनमुपश्रुत्य किं कृतवन्तो वालखिल्या इत्यपेक्षायां तद्वृत्तमनुवदन्ती श्रुतिर्लब्धविद्यैः शिष्यैर्गुरौ कर्तव्यमुपदिशति—

ते होचुर्भगवन्नभिवाद्यसीत्यभिवाद्यसीति।

पुनर्वचनमादरार्थम्। अभिवाद्यभिवदनशील आभिमुख्येन श्रोतॄणामनुभवपर्यन्तं तत्त्ववदनस्वभावोऽसि कृपयैव सर्वोपदेष्टाऽसि नास्मद्गुणापेक्षयेत्यर्थः।

एवं गुरुमभिपूज्य किं कृतवन्त इत्यपेक्षायां गुरूपदिष्टसर्वार्थावधारणोक्त्या तं प्रसादयन्तः पुनः किञ्चिन्मनोगतं पृच्छन्ति ध्येयस्वरूपविप्रतिपत्तिनिरासेन मनःसमाधानार्थमित्याह—

निहितमस्माभिरेतद्यथावदुक्तं मनसीत्यथोत्तरं प्रश्नमनुब्रूहीति।

हे भगवन् यदुक्तं भवतैतदस्माभिर्मनसि स्वचित्ते यथावदानुपूर्व्येण निहितं धृतम्। अत्रास्माकं नास्ति संशय इत्यर्थः। अथेदानीमुत्तरमितः परमस्माभिः करिष्यमाणं प्रश्नमनुब्रूह्यनुसृत्योत्तरं ब्रूहि कथयेत्यूचुरिति पूर्वेणान्वयः।

कः प्रश्नः स पृच्छ्यतामित्युक्ता आहुः—

अग्निर्वायुरादित्यः कालो यः प्राणोऽन्नं ब्रह्मा रुद्रो विष्णुरित्येकेऽन्यमभिध्यान्त्येकेऽन्यं श्रेयः कतमो यः सोऽस्माकं ब्रूहीति तान् होवाचेति ॥५॥

एके ध्यायिनोऽन्यमभिध्यायन्ति। अन्यमन्यमिति वीप्सा द्रष्टव्या। एकेऽग्न्यादीनामेकैकमभिध्यायन्तीत्यर्थः। एकेऽन्यं परं ब्रह्म परमात्मेत्युच्यमानमर्थं ध्यायन्तीत्यर्थः। अत्र कतमः पक्षः श्रेयः श्रेष्ठः श्रेयस्कर इति वा। यः पक्षस्तवाभिमतः श्रेयस्त्वेन स एवास्माकं श्रेयान्। तमस्माकं त्वं ब्रूहीत्यपृच्छन्निति योजना। यद्वा स त्वं विजानन्यः श्रेष्ठः पक्षस्तमस्माकं ब्रूहीति योजना। तान् होवाचेति श्रुतिवचनमुक्तार्थम् ॥५॥

वे [वालखिल्य ऋषि] बोले—'भगवन्! आप पुनः पुनः अभिवादन के योग्य हैं—प्रणम्य हैं। आपने जो कुछ कहा, उसे हमने [भलीभाँति] यथावत् अपने मन में रख लिया है। अब आप इसके बाद के प्रश्न का समाधान कीजिए। [प्रश्न यह है कि] अग्नि, वायु, आदित्य, काल, यम, प्राण, अन्न, ब्रह्मा, रुद्र

[और] विष्णु—इन [देवों] में से कुछ लोग एक का ध्यान करते हैं, और अन्य लोग दूसरे का। इनमें से किसका ध्यान [करना] कल्याणकारी है?—यह आप हमें बतलाइये।' उन [ऋषियों] से [प्रजापति- ने] कहा।।५।।

श्रेयोर्थिभिरग्न्यादयो वा प्रत्येकं पृथग्ध्येयाः परिपूर्णं ब्रह्म वा ध्येयमिति पृष्टः प्रजापतिः सर्वत्र ब्रह्मैव पररूपेण चोपास्यं श्रेयोर्थिभिर्नाग्न्यादिस्वरूपमेवोपास्यं तदुपासनाया अल्पफलत्वादित्यभिप्रेत्याग्न्यादीनामपि न ब्रह्मणोऽर्थान्तरत्वमस्तीति प्रतिपादयन्नुपासनाव्यवस्थामुपदिशतीत्याह—

ब्रह्मणो वावैता अग्र्यास्तनवः परस्यामृतस्याशरीरस्य तस्यैव लोके प्रतिमोदतीह यो यस्यानुषक्त इत्येवं ह्याह।

एता अग्न्यादिलक्षणा ब्रह्मणो वाव ब्रह्मण एवाग्र्याः श्रेष्ठास्तनवो मूर्तयः। ब्रह्मैवाग्न्यादिरूपेण विभाव्यतेऽतस्तेषु ब्रह्मबुद्ध्योपासनं युक्तमिति भावः। किंलक्षणस्य ब्रह्मण इत्युच्यते परस्य। सर्वकारणस्य सर्वाधिष्ठानभूतस्येति यावत्। अत एवामृतस्य नित्यस्य। अशरीरस्याऽऽविर्भावतिरोभावधर्मवर्जितस्य ब्रह्मण एतास्तनव इति पूर्वेण सम्बन्धः। एवं चेद्यस्यैतास्तनवस्तदेव ब्रह्मोपास्यतामलं तद्दृष्ट्याऽन्योपासनयेत्यत आह—**तस्यैवेति**। योऽर्थो देवो वाऽन्यो वा यस्य पुंसोऽनुषक्तोऽनुरागविषयीकृतस्तस्यैवेह लोके प्रतिमोदति प्रतिमोदते प्रतिमोदनं करोति सर्व इत्येवं लोकप्रसिद्धं ह्याहेत्यक्षरयोजना। यो यस्यानुरागयोग्योऽनुरज्यमानो वा तमेव लोकाः प्रीणयन्त्यनुसरन्तीति च प्रसिद्धं लोके। तथा च परस्य ब्रह्मणोऽगोचरत्वान्निराकारत्वात्तस्मिन् साक्षान्मनोनिरोधं कर्तुमशक्नुवतां प्रथममग्न्यादिदेवतास्वेव यथारुचि ब्रह्मदृष्ट्योपासनं श्रुतिषूपदिश्यत इत्यभिप्रायः। यद्वा तस्यैव ब्रह्मण इह लोके प्रतिमा मूर्तिरुदत्युदेत्यग्न्यादिरूपेण। तथा च योऽग्न्यादिर्यस्योपासकस्यानुषक्तः स तदेव ब्रह्म प्रतिमारूपमुपासीतेत्येवं ह्याहेति योजना।

अग्न्यादीनां देवानां ब्रह्माग्न्यतनुत्वमुक्तं साधयति—

ब्रह्म खल्विदं वाव सर्वम् ।

इदं सर्वं ब्रह्म वाव ब्रह्मैव खल्वित्यन्वयः। तथा च श्रुत्यन्तरम्—'सर्वं खल्विदं ब्रह्म तज्जलानिति शान्त उपासीत' (छान्दो०, अ० ३) इति। अस्यार्थः—सर्वमिदमध्यात्ममधिदैवमधिभूतं वाऽशेषं जगद्ब्रह्मैव खलु नात्र संशयः कार्यः। कुत इत्यपेक्षायां हेतुमाह—**तज्जलानितीति**। तस्माज्जायत इति तज्जं तस्मिँल्लीयत इति तल्लं तेनानिति चेष्टत इति तदनम्। अम्लोपश्छान्दसः। इतिशब्दो हेत्वर्थः। तस्माद् ब्रह्मणो जातत्वात्तस्मिन्नेव लीयमानत्वात्तदाश्रयजीवनत्वाच्च तदेवेदं ब्रह्म यथा मृत्सुवर्णाद्युत्पत्ति-स्थितिलया घटकुण्डलादयो मृत्सुवर्णाद्यात्मकास्तथेमे तस्मात्तथेति।

यद्यप्येवं सर्वमेव ब्रह्मणः शरीरं तथाऽपि यत्स्वस्मादुत्कृष्टत्वेनाभिमतं तदुपास्यम्। देवा हि मनुष्याणामुत्कृष्टत्वेनाभिमता अन्नादयश्च जीवन-हेतुत्वात्तथाभिमानयोग्या इत्यतस्ते ब्रह्मणोऽग्र्यास्तनव इति ब्रह्मदृष्ट्योपास्या इत्याह—

या वास्या अग्र्यास्तनवस्ता अभिध्यायेदर्चयेन्निह्नुयाच्चातस्ताभिः सहैवोपर्युपरि लोकेषु चरत्यथ कृत्स्नक्षय एकत्वमेति पुरुषस्य पुरुषस्य ।।६।।

।। इति मैत्र्युपनिषदि चतुर्थः प्रपाठकः ।।४।।

याः काश्चिद्वास्या वासयोग्या आश्रयार्हा ब्रह्मणोऽग्र्यास्तनवोऽग्र्याः श्रेष्ठा अभिध्यायेत्। यद्वाऽस्य ब्रह्मणो या वा याः काश्चिदग्र्यास्तनव इति योजना। अस्मिन् पक्षे दैर्घ्यविसन्धी छान्दसौ। ता ब्रह्मबुद्ध्याऽभिध्यायेत्। अर्चयेत्पुष्पोपहारादिना पूजयेत्प्रतिमासु वा हृदये वा। निह्नुयाच्च तत्तदुपास्यदेवतात्माभिमानेनाध्यात्मपरिच्छेदाभिमानं स्वाभाविकं देवताया आत्मभावापादनेन हित्वा पृथगग्न्यादिदेवतात्वं च निह्नुयात्परित्यजेत्। चशब्दो ध्यानार्चननिह्नवानां समुच्चयार्थः। तथा च श्रुत्यन्तरम्—"तं यथा यथोपासते तदेव भवति" इति "देवो भूत्वा देवानप्येति" इति च। यत एवं देवतात्मभावनया ब्रह्मतनुभूता देवता उपास्तेऽतस्ताभिर्ब्रह्मतनु-रूपदेवताभिः सहैव तदैकात्म्यं प्राप्येति यावत्। उपर्युपरि लोकेषु जनतपः सत्यलोकेषु चरति। उपासनातारतम्याल्लोकफलविकल्पः। तत्र तत्रोपासना-फलानि तत्तद्देवतात्मना भुङ्क्त इत्यर्थः। यद्ययं देवतात्ममात्रदृष्टिस्तदा

भोगान्ते पुनरिहाऽऽवर्तते "अप्रतीकालम्बनान्नयतीति बादरायणः" इति न्यायात्। अथ यदि ब्रह्मण्यहंग्रहोपासकस्तदा कृत्स्नक्षये कृत्स्नस्य सर्वदेवतात्मनः सत्यलोकस्थस्य हिरण्यगर्भस्य क्षयेऽवसाने सम्पूर्णब्रह्मरूपः सन् पुरुषस्य पूर्णस्य परब्रह्मण एकत्वं सायुज्यमेति गच्छति क्रममुक्तिमुपैतीत्यर्थः। अभ्यासः प्रपाठकसमाप्त्यर्थः। अत्रेयं व्यवस्था। कार्यकारणोपाधिद्वयविलापनेन प्रत्यगेकरसतया ब्रह्म ध्यायत इहैव साक्षान्मुक्तिः। प्रारब्धफलशेषभोगाय देहस्थितावपि स मुक्त एव। यः पुनः कार्यकारणब्रह्मोपासकः स ब्रह्मण्यहंग्रहाद् ब्रह्मलोकेऽर्चिरादिमार्गेण गत्वा तत्रोपासनफलभोगावसाने तत्रोत्पन्नसम्यक्तत्त्वज्ञानान्मुक्तिमुपैष्यतीत्यस्य क्रम-मुक्तिः। ये पुनः प्रतीकोपासका अन्नं ब्रह्म प्राणो ब्रह्माऽऽदित्यो ब्रह्म मनो ब्रह्मेत्येवं दृष्टयस्तेषां 'न प्रतीके न हि सः' इति न्यायेन ब्रह्मक्रतोरभावात्ते यथोपासनं ब्रह्मलोकादर्वाक्तनेषु लोकेषु फलमनुभूय पुनरावर्तन्ते ब्रह्मलोकं गता अपि केचित्पञ्चाग्निदर्शनादिनिष्ठा इति ।।६।।

।। इति श्रीरामतीर्थविरचितायां मैत्रीशाखोपनिषद्दीपिकायां चतुर्थः प्रपाठकः ।।४।।

ये अग्नि इत्यादि देवता वास्तव में उस परब्रह्म, जो सबका परम [कारण अर्थात् सर्वाधिष्ठाता], अमृत [नित्य] और अशरीरी [अर्थात् जन्म-मरण से मुक्त] है, उसके के ही श्रेष्ठ आकार अथवा स्वरूप हैं। जो [साधक] जिस देवता से भक्तिपूर्वक जुड़ा है, वह उसी के लोक में आनन्द प्राप्त करता है—इसी प्रकार से कहा गया है। [आध्यात्मिक आधिदैविक और आधिभौतिक रूपसे स्थित] यह समस्त [जगत्] ब्रह्ममय ही है। और ब्रह्म के जो श्रेष्ठ रूप [उपर्युक्त नामों से बतलाये गये] हैं, [साधक को चाहिए कि वह] उनका [ब्रह्मभाव से] ध्यान और अर्चन करे तथा उन्हें [मन में] छिपाकर रखे। इसके कारण [साधक] उन-उन देवों के साथ ही क्रमशः [जन, तप और सत्य संज्ञक] ऊपर से ऊपर के लोकों में विचरण करता है। तदनन्तर समस्त [कर्मों के] क्षीण हो जाने पर वह परब्रह्म के साथ [सायुज्य स्वरूपा] एकता को प्राप्त कर लेता है ।।६।।

।। इस प्रकार चतुर्थ प्रपाठक सम्पन्न हुआ ।।४।।

●

अथ पञ्चमः प्रपाठकः

तदेवं ससाधनां ब्रह्मविद्यामुपदिश्येदानीमुक्तवक्ष्यमाणसर्वोपासनाङ्गभूतान्नमस्कारमन्त्रानाह—

अथ यथेयं कौत्सायनी स्तुतिः—

कुत्सायनेन दृष्टा कौत्सायनीयं वक्ष्यमाणा स्तुतिः स्तुतिरूपो मन्त्रगण आरभ्यते। अथशब्द आरम्भार्थः। यथोपलब्धा तथाऽऽरभ्यत इत्यर्थः।

त्वं ब्रह्मा त्वं च वै विष्णुस्त्वं रुद्रस्त्वं प्रजापतिः।
त्वमग्निर्वरुणो वायुस्त्वमिन्द्रस्त्वं निशाकरः ।।

ब्रह्मा हिरण्यगर्भः। प्रजापतिर्विराट् ।

त्वमन्नस्त्वं यमस्त्वं पृथिवी त्वं विश्वं खमथाच्युतः ।
स्वार्थे स्वाभाविकेऽर्थे च बहुधा संस्थितिस्त्वयि ।।

अद्यत उपजीव्यते सर्वैरिति वाऽत्ति सर्वं स्वात्मन्युपसंहरतीति वाऽन्नमन्नवदाचरतीत्यन्नः। तथा च श्रुत्यन्तरम्—"अद्यतेऽत्ति च भूतानि तस्मादन्नं तदुच्यते" (तैत्ति० उ०) इति। विश्वं चराचरम् । अथ च सर्वात्मकत्वेऽपि त्वमच्युतोऽप्रच्युतनिजस्वभावः कूटस्थ एवेत्यर्थः। स्वार्थः पुरुषार्थो धर्मादिचतुष्टयरूपः स्वाभाविकः प्राकृतिकः स्वस्वप्रकृत्यनुसार्यर्थस्तयोरुभयोर्निमित्तं लोकस्य त्वयि ब्रह्मणीश्वरे बहुधा संस्थितिर्नानामार्गेण त्वन्निष्ठता भवतीत्यर्थः। अथवा स्वार्थे स्वाभाविकेऽर्थे च लोकस्य या संस्थितिः प्रवृत्त्यादिनिष्ठा सा त्वय्यायतेत्यर्थः।

विश्वेश्वर नमस्तुभ्यं विश्वात्मा विश्वकर्मकृत् ।
विश्वभुग्विश्वमायुस्त्वं विश्वक्रीडारतिप्रभुः[१] ।।

---

१. रामतीर्थ के अनुसार क्रीडा वह प्रीति है, जिसमें बाह्य उपकरणों की आवश्यकता रहती है तथा रति आन्तरिक प्रेमानुभूति है।

विश्वस्येष्ट इति विश्वेश्वरस्तस्य सम्बुद्धिः। तर्हि विश्वमन्यदिति शशङ्कायामाह—

त्वमेव विश्वमित्यर्थः। यतो विश्वकर्मकृत्क्रियते तत्कर्म विश्वाख्यं कर्म कार्य करोतीति विश्वकर्मकृत्। विश्वोत्पादानत्वाद्विश्वात्मेत्यर्थः। यद्वा विश्वेश्वरत्वे हेतुर्विश्वात्मेति। विश्वस्याऽऽत्मा स्वरूपं तत्रापि हेतुर्विश्वकर्मकृदिति। अतः कारणत्वात्स्वकार्यं विश्वं व्याप्य तन्नियमयन्नवस्थितो विश्वेश्वर इत्यर्थः। भोक्तारो जीवा अन्ये भविष्यन्तीति शङ्कां वारयति—**विश्वभुगिति**। यो विश्वस्य भोक्ता प्रसिद्धः सोऽपि त्वमेवेत्यर्थः। किञ्च त्वमेव विश्वमायुः सर्वस्य सर्वमायुर्जीवनं प्राणरूपेण वा सर्वायुः। तथा च श्रुत्यन्तरम्—'यावद्ध्यस्मिञ्शरीरे प्राणो वसति तावदायुः'' (कौषी०, अ० ३) इति। किं बहुना त्वमेव विश्वक्रीडारत्योः प्रभुः। बाह्योपकरणा प्रीतिः क्रीडा तन्निरपेक्षाऽऽन्तरप्रीति रतिस्तयोस्त्वमेव स्वतन्त्रः समर्थ इत्यर्थः।

नमः शान्तात्मने तुभ्यं नमो गुह्यतमाय च ।
अचिन्त्यायाप्रमेयाय अनादिनिधनाय चेति ।।१।।

शान्तात्मने कूटस्थस्वरूपाय गुह्यतमाय वाचामगोचरायाचिन्त्यायान्तरिन्द्रियाविषयायाप्रमेयाय बाह्येन्द्रियाविषयायानादिनिधनाय नित्यसद्रूपायेत्यर्थः। चकारात्स्वयम्प्रकाशाय चेत्यर्थः। इति शब्दो मन्त्रसमाप्त्यर्थः।।१।।

ऋषि कुत्सायन के द्रारा साक्षात्कृत यह देवस्तुति जिस रूप में ड प्राप्त होती है, उसी रूप में यहाँ प्रस्तुत है—

तुम्हीं ब्रह्मा हो, तुम्हीं विष्णु हो, तुम्हीं रुद्र हो, तुम्हीं प्रजापति हो। अग्नि, वरुण और वायु [संज्ञक देव] तुम हो तथा तुम्हीं इन्द्र और चन्द्रमा हो। तुम्हीं मनु हो, तुम्हीं यम हो, तुम्हीं पृथिवी हो, तुम्हीं विश्व हो और तुम्हीं अच्युत हो। [पुरुषार्थचतुष्टय रूप] स्वार्थ में और अपनी-अपनी प्रकृति के अनुसार [इस लोक की] विभिन्न प्रकार में सत्ता है। [अथवा स्वार्थ और स्वाभाविक कार्यों में जो लोक की प्रवृत्ति है, वह तुम्हारे अधीन ही है]।

हे विश्वेश्वर! तुम्हें नमस्कार है। [तुम] विश्वात्मा [और] समस्त कर्मों के अनुष्ठाता हो। [तुम] विश्व के भोक्ता हो, विश्व भी [तुम्हीं] हो, तुम्हीं आयु हो। [अधिक क्या कहें इस] विश्व की क्रीडा अर्थात् लीला और आनन्द तुम्हीं हो। शान्त स्वरूपवाले तुम्हें नमस्कार है। अत्यन्त गुप्तस्वरूपवाले तुम्हें नमस्कार है। अचिन्त्य, अप्रमेय, अनादि और अनन्त स्वरूपवाले हे प्रभो! तुम्हें नमस्कार[1] है।।१।।

मन्त्राणामारम्भे त्वं ब्रह्मा त्वं च वै विष्णुरित्यादिना ब्रह्मादिदेवतात्मत्वं प्रत्यग्ब्रह्मणे उक्तं तत्र ब्रह्मादीनां तत्त्वान्तरत्वात्कथमित्थं स्तुतिरिति शङ्कानिरासायोत्तरा श्रुतिः प्रववृते। तत्रैक एव यथोक्तश्चिदात्मा स्वमायागुणैस्तदवस्थाभेदैश्चानेकोऽनेकविशेषोऽनेकविधक्रियाप्रवर्तको न तत्त्वभेदः क्वाप्यस्तीति दर्शयन्ती श्रुतिर्ब्रह्मादित्रिमूर्तिभावेनास्याऽऽत्मन उपासनं विधातुं प्रथमं मूर्तित्रयव्यपदेशनिमित्तमाह—

तमो[2] वा इदमग्र आसीदेकम्।

इदं ब्रह्मविष्णुरुद्रादिकमग्रे सृष्ट्युपक्रमात्प्राक्तमो वै तम एव तमोगुणप्रधानमायामात्रमेवाऽऽसीदेकमेकीभूतमनभिव्यक्तनामरूपखण्डतमोमात्रमासीदित्यर्थः। एतेनासत्कारणवादोऽसत्कार्यवादश्च व्युदस्तः। इदं तम इति सामानाधिकरण्योक्तेरग्र आसीदिति सत्त्वोक्तेश्च।

तत्किं सांख्याभिमतं प्रधानं नेत्याह—

तत्परे[3] स्यात्तत्परेणेरितं विषमत्वं प्रयात्येतद्रूपं वै रजस्तद्रजः खल्वीरितं विषमत्वं प्रयात्येतद्वै सत्त्वस्य रूपम्।

---

१. उपर्युक्त मन्त्र वास्तव में नमस्कार मन्त्र हैं, क्योंकि ये सभी प्रकार की उपासना के अंग हैं।

२. रामतीर्थ की टीका के अनुसार यहाँ सृष्टि से पहले सब कुछ तमोगुण-मायामात्र बतलाया गया है। वह एकीभूत, अनभिव्यक्त नाम रूपवाला था। टीकाकार की टिप्पणी है कि इस प्रकार यहाँ असत्कारणवाद और असत्कार्यवाद दोनों का खण्डन किया गया है।

३. कुछ हस्तलेखों में ''तत् परे स्यात्'' के स्थान पर 'तत् परेस्थात्' पाठ है, जो अधिक उपयुक्त प्रतीत होता है। मैक्समूमुलर ने भी इसी पाठ को मानकर अनुवाद किया है।

तत्तमः परे कार्यकारणत्वातीते तत्कल्पनाधिष्ठाने चिदात्मनि स्याद्भवतीति यावत्। अचेतनस्य तस्य स्वातन्त्र्यानुपपत्तेरित्यर्थः। एवं जगतः प्रागवस्थां चेतनपराधीनामुक्त्वा तत्प्रवृत्तेरपि तदधीनतामाह— **तत्परेणेति**। तत्कारणं प्रविलीनकार्यावस्थं तमः परेण चिदात्मनाऽधिष्ठान-भूतेनेरितं प्रेरितं तच्चैतन्याभासव्याप्त्योपचितं बीजमिव सलिलादि-व्याप्त्येत्यर्थः। विषमत्वं पूर्वावस्थाप्रच्युतिरूपमुच्छूनमिव बीजं साम्याव-स्थात्यागेन तद्विलक्षणत्वं प्रयाति कार्योन्मुखं भवतीत्यर्थः। यद्यपि मायाव्याकृताविद्यादिशब्दवाच्यस्य कारणस्य नित्यैव चैतन्यव्याप्तिर्नित्यमेव तत्राध्यस्तत्वात्तथाऽपि सुषुप्तस्य स्वप्नादिवृत्त्युद्भववदबुद्धिपूर्विकैव कादाचित्की विद्याकर्मपूर्वप्रज्ञानुसारिणी चिदाभासव्याप्तिर्भवतीति न सृष्ट्यादिसांतत्यशङ्कावकाश इति गमयितव्यम् । यदिदं परेरितस्य तमसो विषमत्वगमनमेतद्रूपं वै प्रसिद्धं रजो रजोगुणाख्यं कारणमित्यर्थः। तत्खलु रजः पूर्ववत्परेणेरितं सद्विषमत्वं प्रयाति। यदिदं रजसो विषमत्वगमनमेतद्वै सत्त्वस्य सत्त्वगुणप्रधानकारणस्य रूपं प्रकारभेद इत्यर्थः।

एवं गुणवैषम्यं सनिमित्तं कारणव्यापारमुक्त्वा तस्य कार्याकार-परिणामप्रकारमाह—

तत्सत्त्वमेवेरितं रसः[१] सम्प्रास्त्रवत्,

तत्परेणाऽऽत्मना पूर्ववदीरितं सत्त्वमेव न तमोरजसी तयोर्वक्ष्यमाणार्थाभि-व्यञ्जकत्वासामर्थ्यात् । रसः सारश्चिदानन्दप्रकाशः "रसो वै सः। रसं ह्येवायं लब्ध्वाऽऽनन्दी भवति" (तैत्ति० उ०) इति श्रुत्यन्तरात्। स सम्प्रास्त्रवत्सम्यक्प्राकट्येनास्त्रवत्। सत्त्वमेव चिदात्मनो विशेषाकारा-भिव्यक्तियोग्याकारतया प्रसृतं सच्चिदात्माकारमेव विप्रसृतमित्यर्थः।

अयमेव हि तत्र तत्र बुद्धिरिति च महानिति चाहमवभास्य इति च द्रष्टेति चाऽऽख्यायते नान्य इत्यभिप्रेत्याऽऽह—

सोंऽशोऽयं यश्चेतामात्रः प्रतिपुरुषः

---

१. 'रस' शब्द चिदानन्द प्रकाश का अभिव्यञ्जक है।

सोऽयमंशोंऽश इवांशश्चिदात्मनो विशेषावस्थाऽऽकाशस्येव दारुसुषिराद्यवस्था न तु निरवयवस्य परमार्थतोंऽशोऽस्ति। कोऽसौ यश्चेतामात्रश्चेता चेतना साक्षिचैतन्यं तया मीयतेऽवभास्यत इति चेतामात्रः स्वप्रकाशसाक्षिमात्रेणानुभाव्य इत्यर्थः। यतः प्रतिपुरुषः प्रतिबिम्बो नानोदपात्रेष्विव सूर्यादिर्नानाविधार्थाकारबुद्धिवृत्तिषु विभाव्यमानत्वात्प्रतिपुरुष इत्यर्थः।

लौकिकप्रतिबिम्बवदचैतन्यं वारयति—

क्षेत्रज्ञः[१]

क्षेत्रं शरीरं धर्माधर्मबीजप्ररोहभूमित्वात्तदापादतलमस्तकमहमिति जानातीति क्षेत्रज्ञो जीव इत्यर्थः। तदुक्तं भगवता श्रीकृष्णेन—

"इदं शरीरं कौन्तेय क्षेत्रमित्यभिधीयते।
एतद्यो वेत्ति तं प्राहुः क्षेत्रज्ञ इति तद्विदः" ।। इति।

तत्सद्भावं साधयति—

सङ्कल्पाध्यवसायाभिमानलिङ्गः [२]प्रजापतिर्विश्वेत्यस्य प्रागुक्ता एतास्तनवः।

सङ्कल्प इदं मया कर्तव्यमित्येवमाकारो मनसो विकारः। अध्यवसायः कर्तव्यविषयस्वरूपसाधनफलानां यथावदवधारणरूपा बुद्धिवृत्तिः। अभिमानोऽहमस्मिन् समर्थ इत्याद्यहङ्कारः। एतेषामचेतने मृतशरीरेऽदर्शनाज्जीवच्छरीरे च दर्शनादेतानि लिङ्गानि शरीरातिरिक्ततया सद्भावप्रमापकाणि यस्य स सङ्कल्पाध्यवसायाभिमानर्लिङ्गः। एतैर्लिङ्गै-

---

१. 'क्षेत्रज्ञ' शब्द जीव का उपलक्षक है, क्योंकि वह शरीर रूप क्षेत्र का ज्ञाता है। शरीर को क्षेत्र इसलिए कहा जाता है, क्योंकि उसमें धर्म और अधर्म के बीज अङ्कुरित होते हैं। गीता में भी यह अत्यन्त स्पष्ट रूप से निरूपित है—

इदं शरीरं कौन्तेय क्षेत्रमित्यभिधीयते।
यतद्यो वेत्ति तं प्राहुः क्षेत्रज्ञ इति तद्विदः ।। (१३.५)

२. 'प्रजापतिर्विश्व' की व्याख्या करते हुए टीकाकार ने प्रजापति तो बतलाया है समष्टि वैराजपिण्ड अर्थात् समष्टि देह के अधिष्ठातृ देव को और विश्व बतलाया है व्यष्टिपिण्डाभिमानी देवता को।

देहादिविलक्षणोऽस्तीति सम्भाव्यमान इत्यर्थः। प्रजापतिः समष्टिवैराज-पिण्डाभिमानी देवः। विश्वा व्यष्टिपिण्डाभिमानिनी देवता। इत्येवमाद्या एताः प्रागुक्ता अस्यैव क्षेत्रज्ञस्य सत्त्वपरिणामप्रतिबिम्बितस्य चिदात्मन-स्तनवः। चिदात्मैव तत्तन्मूर्तिभेदेषु तत्तदात्मना विभाव्यमानोऽवतिष्ठते, नास्मात्तत्त्वान्तरभूतं किञ्चिदित्यर्थः। तथा च श्रुत्यन्तरम्—"नान्योऽतोऽस्ति द्रष्टा नान्योऽतोऽस्ति मन्ता नान्योऽतोऽस्ति श्रोता नान्योऽतोऽस्ति विज्ञातैष त आत्माऽन्तर्याम्यमृतः" (बृहदा० अ० ५) इति। एतदुक्तं भवति किं कारणं ब्रह्मेति। ब्रह्मवादिनां ब्रह्मणः सहकारिभूतजगत्कारणविमर्शे "ते ध्यानयोगानुगता अपश्यन् देवात्मशक्तिं स्वगुणैर्निगूढाम्" इति त्रिगुणात्मिका मायाख्या शक्तिरवधृता श्वेताश्वतराणां मन्त्रोपनिषदि। सा च ब्रह्मणः सर्वकारणत्वनिर्वोढ्री शक्तिस्तेनाधिष्ठीयमाना गुणत्रयविभागेन यदा विकृता भवति तदा तदधिष्ठाताऽपि तत्सत्तास्फुर्तिप्रदत्वेन तदनुगतो विकृत इव भवति। तत्र च यथाविकारव्यपदेशं सोऽपि व्यपदिश्यते। तत्रापि त्रिगुणात्मकेन कारणेनेश्वरान्तर्याम्यादिशब्दैर्व्यपदिश्यमानः सत्त्वादीनामेकैक-प्राधान्येन ब्रह्मादिसंज्ञाभाग्भवति। तदा तत्राऽऽविर्भूतगुणविशेषवत्तया स उपास्यो व्यपदिश्यते गुणकार्यस्थूलसूक्ष्मशरीरोपाध्यविशेषेण तदभिमानेन वा व्यवह्रियमाणो जीवः क्षेत्रज्ञः संसारी देवो मनुष्यस्तिर्यक्स्थावर इति च व्यपदेशभाग्भवति। अत्र सर्वत्र सत्त्वगुणपरिणाम एव चिदात्मनो विशेषाभिव्यक्तिर्नान्यत्र। सत्त्वस्य च रजस्तमःसम्पर्कविशेषाविशेषाभ्यां चिदात्माविर्भावविशेषतारतम्याज्ज्ञानक्रियाशक्त्यैश्वर्यतारतम्येन सर्वज्ञमूढा-मूढत्वादितारतम्यावभास इति।

एतमेवाभिप्रायं विशदयति—

अथ यो ह खलु वावास्य तामसोंऽशोऽसौ स ब्रह्मचारिणो योऽयं रुद्रोऽथ यो ह खलु वावास्य राजसोंऽशोऽसौ स ब्रह्मचारिणो योऽयं ब्रह्माऽथ यो ह खलु वावास्य सात्त्विकोंऽशोऽसौ स ब्रह्मचारिणो योऽयं विष्णुः स वा एष एकस्त्रिधा भूतोऽष्टधैकादशधा द्वादशधाऽपरि-

मितधा वोद्भूत उद्भूतत्वाद्भूतं भूतेषु चरति प्रविष्टः स भूतानामधिपतिर्बभूवेत्यसा आत्माऽन्तर्बहिश्चान्तर्बहिश्च ।।२।।

।। इति मैत्र्युपनिषदि पञ्चमः प्रपाठकः ।।५।।

अथैवंप्रकारे व्यवस्थिते सत्यस्याऽऽत्मनो यो ह खल्वित्थं वावैव य एवेति सम्बन्धः। तामसस्तमःप्रधानोंऽशस्तम उपाधिको विशेषोऽसौ स हे ब्रह्मचारिणः। कोऽसौ योऽयं रुद्रः प्रसिद्ध इत्यर्थः। एवमुत्तरयोरपि पर्याययोर्व्याख्या। स वा एष एकः स वै पूर्वमुपपादित एष इदानीमुपाध्यधिष्ठातृत्वेनोक्त एक एव रुद्रब्रह्मविष्ण्वात्मना त्रिधाभूतः कारणोपाधिमधिष्ठाय त्रिधाभूत इत्यर्थः। अष्टधा पञ्चविधप्राणादित्यौ सनक्षत्रश्चन्द्रश्चेति त्रयः पञ्च भूतानि चेत्यष्टधेत्यर्थः। एकादशेन्द्रियभेद एकादशधा। तत्रैव मनोबुद्ध्योर्भेदे सति द्वादशधा। तत्तदिन्द्रियवृत्तीनाम-नन्तत्वात्तद्भेदेनापरिमितधा। वाशब्दो विकल्पार्थः। अध्यात्मं वाऽधिभूतं वाऽधिदैवं वा यद्यत्किञ्चिदस्ति तत्सर्वमवभासयंस्तत्तदात्मना नानाविध उद्भूतोऽभिव्यक्त उद्भूतत्वादेव भूतं भूतसंज्ञ आत्मा भवतीत्यर्थः। ''महद्भूतमनन्तमपारम्'' (बृहदा० अ० २) इति श्रुतेः ''एको विष्णुर्मह-द्भूतम्'' इति स्मृतेश्च। यतो भूतेषु प्रविष्टो भूतावभासकतया भूतनियन्तृतया चानुगतश्चरति गच्छति भूतानि व्याप्नोत्यत उद्भूतत्वाद्भूतमिति योजना। अत एव भूतवशितया भूतानामधिपतिर्बभूवाधिष्ठाय पालयिताऽभवद्व्यवहार-दृष्ट्येत्यर्थः। उपसंहारार्थ उत्तरो भागः। इत्येवमुक्तप्रकारेणासावात्मा यथा-व्याख्यातोऽन्तःसाक्षिप्रमातृकर्त्रादिरूपेण बहिश्चेश्वरकालदेवतादिरूपेण विभाव्यते नान्य इत्यर्थः। अभ्यास आदरार्थः प्रपाठकसमाप्त्यर्थो वा ।।२।।

।। इति श्रीरामतीर्थविरचितायां मैत्र्युपनिषद्दीपिकायां पञ्चमः प्रपाठकः ।।५।।

[सृष्टि से] पहले यह [समस्त जगत्] केवल अन्धकार [रूप] था। वह [अन्धकार] परमतत्त्व अर्थात् चिदात्मा में स्थित था। परमात्मा के द्वारा प्रेरित होकर वह विषमता को प्राप्त करता है, अर्थात् कार्योन्मुख होता है। यही रजस् स्वरूप अर्थात् कारण है। [परमात्मा के द्वारा] रजोगुण को जब

प्रेरित किया जाता है, तो वह विषमता को प्राप्त करता है—यह सत्त्वगुणप्रधान कारण का रूप अर्थात् प्रकारभेद है। वह सत्त्व प्रेरित होने पर रसरूप में प्रवाहित होता है—अर्थात् सच्चिदानन्दस्वरूप प्राप्त करता है। प्रत्येक पुरुष [व्यक्ति] में यह जो चैतन्य मात्र है, वही यह अंश है, जो क्षेत्रज्ञ है, जिसकी पहचान [१]सङ्कल्प-अध्यवसाय[२] और अभिमान[३] लक्षणों से होती है और जो विश्व प्रजापति [संज्ञक] है। पहले कहे गये [देवता इत्यादि] इसी के शरीर अथवा आकार हैं। हे ब्रह्मचारियों [वालखिल्य ऋषियों] इस आत्मा का जो तमोगुण प्रधान अंश है, वही यह रुद्र है, उसका रजोगुणात्म अंश ब्रह्मा है और जो उसका सत्त्वगुणात्मक अंश है, वही यह विष्णु है। इस प्रकार यह [पहले] जो एक था, वह [बाद में क्रमशः] तीन, आठ, ग्यारह और बारह[४] तथा [आगे] अपरिमित रूपों में आविर्भूत होता चला गया। उद्भूत होने के कारण ही यह भूत [कहलाता] है, भूतों में सञ्चरण करता है उनमें प्रविष्ट है, और [इसलिए] वह भूतों का अधिपति है। इस प्रकार यह आत्मा अन्दर और बाहर सर्वत्र अवस्थित है! ।।२।।

।। इस प्रकार पञ्चम प्रपाठक सम्पन्न हुआ ।।५।।

●

---

१. रामतीर्थ के अनुसार सङ्कल्प एक प्रकार का मानसिक विकार अथवा कार्य है, जिसका स्वरूप 'यह मुझे करना चाहिए'—इत्यादि प्रकार का होता है।

२. अध्यवसाय बुद्धि की वृत्ति है जो करणीय विषय के स्वरूप, साधन और फलों की यथोचित अवधारणा करती है।

३. अभिमान का अभिप्राय अहंकार है। ये सङ्कल्प, अध्यवसाय और अभिमान अचेतन (मृत) शरीर में नहीं दिखलायी देते, जीवित शरीर में ही दिखलाई देते हैं— इससे स्पष्ट होता है कि ये शरीर के धर्म नहीं हो सकते।

४. आठ, ग्यारह, और बारह संख्याएँ क्रमशः वसुओं, रुद्रों और आदित्यों की उपलक्षक हैं। रामतीर्थ के अनुसार अष्टधा का अभिप्राय है पाँच प्राण, आदित्य, नक्षत्र सहित चन्द्रमा तथा पाँच महाभूत। इसी प्रकार ११ संख्या से वे ११ इन्द्रियों तथा १२ से उन्हीं इन्द्रियों के साथ मन और बुद्धि को ग्रहण करते हैं।

अथ षष्ठः प्रपाठकः

योऽन्तर्बहिः सर्वजनेषु नित्यं चरत्यशान्तेषु सुशान्तरूपः ।
प्राणात्मनाऽन्तर्बहिरंशुमालिरूपेण तस्मै सततं नमोऽस्तु ।।१।।

नमो गुरुभ्यः सर्वेभ्यो येषां चरणसंस्मृतिः।
सदौपनिषदे शुद्धे तत्त्वेऽर्पयति मे धियम् ।।२।।

एवमियता ग्रन्थसन्दर्भेण चिदात्मैक एव प्रत्यग्ब्रह्मरूपेण विज्ञेयः स एव ब्रह्मादिरूपेणानेकविशेषावरस्थो ध्येयश्चेति मुमुक्ष्वपेक्षितोऽर्थः सर्वो दर्शितो मुक्तिश्च चिदात्मसायुज्यप्राप्तिरभिहिता। इदानीमस्यैव चिदात्मनोऽनेकधोपास्यात्वायानेकमहिमानमाविष्कुर्वती श्रुतिर्मन्दमध्यमाधिकारिविषयास्तदुपासनाः सालम्बना अनेकप्रकारा विधातुं प्रववृत उत्तरेण प्रपाठकेन तत्त्वज्ञाननिष्ठापेक्षितानि साधनान्यपि कानिचिद्विधातुम्। अस्य च खिलत्वान्नातीवात्र सङ्गतयोऽपेक्ष्यन्ते तथाऽपि यथामति सङ्गतिमूहमाना अक्षराणि व्याख्यास्यामः। तत्राध्यात्माधिभूतदेहब्रह्माण्डोपाधिभ्यां चिदात्मनः क्रियाशक्तिप्रधानलिङ्गानुगतचिदाभासाभेदेन प्राण आदित्यश्चेति द्विधा भेदं प्रकल्प्य तेनाऽऽत्मनोपासनं विधातुमाह—

द्विधा वा एष आत्मानं बिभर्त्ययं यः प्राणो यश्चासा आदित्यः।

एष पूर्वप्रकृत आत्मा वै प्रसिद्धः सर्वश्रुतिषु द्विधा द्विप्रकारेणाऽऽत्मानं स्वं रूपं बिभर्ति धत्ते पालयति वा। प्रकारभेदमेव विशदयति—यः प्राणो देहे पञ्चधाऽऽत्मानं विभज्य स्थितोऽस्तीयमेका विधा यश्चासौ ब्रह्माण्डकरण्डमध्ये जगदवभासकतयाऽवस्थितोऽस्त्यादित्यः सोऽयमपरा विधेत्यर्थः।

अध्यात्मं प्राणात्मनाऽधिदैवमादित्यात्मना च ब्रह्मरूपश्चिदात्मा ध्येय इत्युपासनोत्पत्तिविधिं सूचयन्नाह—

अथ द्वौ वा एता अस्य पन्थाना अन्तर्बहिश्चाहोरात्रेणैतौ व्यावर्तेते।

अथेदमुच्यतेऽस्याऽऽत्मन एतौ द्वौ पन्थानौ विशेषाभिव्यक्तिमार्गौ। कौ। अन्तर्देहाभ्यन्तरं बहिश्च देहादध्यात्मरूपाद्वाह्यो देशश्चेति द्वौ पन्थानावित्यर्थः। एतौ प्राणादित्यावहोरात्रेणाह्ना रात्र्या च व्यावर्तेते विपरिवर्तनं कुर्वाते इत्यर्थः।

अन्तः किंरूपो बहिश्च किंरूपो व्यावर्तते कथं च तद्व्यावर्तन-मित्येतद्विशदयति—

असौ वा आदित्यो बहिरात्माऽन्तरात्मा प्राणोऽतो बहिरात्मक्या गत्याऽन्तरात्मनोऽनुमीयते गतिरित्येवं ह्याह।

असौ प्रसिद्धो वा आदित्यः सूर्यो बहिरात्मा प्राणोऽन्तरात्मा यत एवमतो बहिरात्मन इयं बहिरात्मकी तत्प्रयुक्तेति यावत्। तया बहिरात्मक्या गत्या परिवर्तनेनान्तरात्मनः प्राणस्य गतिरनुमीयत इत्येव-मेवं प्रकारं हि यत आहाऽऽगमज्ञोऽतोऽनयोर्न वास्तवो भेद इति शेषः। अयमाशयः। सूर्यो हि मेरुं प्रदक्षिणीकुर्वन्नहोरात्राभ्यां ब्रह्माण्डान्तः परिवर्तते प्राणोऽपि श्वासरूपेण देहान्तः परिभ्रमति तत्रैकाहोरात्रसूर्यगत्योः प्राणस्यैक-विंशतिसहस्रसंख्याः श्वासा भवन्तीत्यागमशास्त्रसिद्धं प्राणपरिवर्तनमनु-मीयते। यद्वा शतसंवत्सरपरिमितं हि पुरुषायुः "शतायुर्वै पुरुषः शतेन्द्रियः' इति श्रुतिसिद्धेः। तावत्कालं च प्राणः शरीरान्तः सञ्चरति। तत्रैकद्वित्रादिवर्षप्राणसञ्चरणपरिच्छेद आदित्यपरिवर्तनप्रचयाधीन इति तद्गत्या प्राणगतिरनुमीयत इति।

इदानीमन्तरात्मगत्या बहिरात्मगत्यनुमानप्रकारमाह—

अथ यः कश्चिद्विद्वानपहतपाप्माऽक्षाध्यक्षोऽवदातमनास्तन्निष्ठ आवृत्त-चक्षुः सो अन्तरात्मक्या गत्या बहिरात्मनोऽनुमीयते गतिरित्येवं ह्याह।

अथशब्दः पर्यायान्तरारम्भार्थः। यः कश्चिद्विद्वान् प्राणादित्यात्मदर्श्यत एवापहतपाप्माऽध्यात्मापरिच्छेदाभिमानासङ्गरूपपाप्मना रहितोऽत

एवाक्षाध्यक्ष इन्द्रियाध्यक्षस्तेषु स्वतन्त्रो नेन्द्रियपरवश इत्यर्थः। अत एवावदातमना निर्मलचित्तः। तन्निष्ठस्तस्मिन्नुपास्ये निष्ठा तात्पर्यं यस्य स तन्निष्ठः सन्नावृत्तचक्षुर्बाह्यविषयव्यावृत्तेन्द्रियः। स उ इति च्छेदः स एव तेनेति विपरिणेयम्। य एवंविधो विद्वांस्तेनैवान्तरात्मक्या गत्या प्राणगत्या बहिरात्मन आदित्यस्य मतिरनुमीयत इत्येवं ह्याहेति व्याख्यातम्। एतदुक्तं भवति। अध्यात्माधिभूतयोः पिण्डब्रह्माण्डयोः स्वस्वमानेन शतं वर्षाण्यायुष्प्रमाणमित्यस्य समत्वादध्यात्मगतप्राणात्मगत्या शतवर्षान्ते पिण्डपरित्यागलक्षणया बहिरात्मनोऽप्यादित्यस्य ब्रह्माण्डपिण्डपरित्यागरूपा गतिस्तन्मानेन शतवर्षान्ते भवेदित्यनुमीयत इति। अथवा या प्राणात्मनो गतिर्देहधारणलक्षणा प्राणापानव्यापारैः क्रियमाणा तया बाह्यात्मन आदित्यस्य ब्रह्माण्डविधारणरूपोदयास्तमयनिर्वर्त्याहोरात्रव्यापारैः क्रियमाणा गतिरनुमीयते। एतच्च प्राकृतजनबुद्ध्यगोचरत्वाद्विद्वद्दृष्टिगम्यत्वमभिप्रेत्य विद्वान् मध्ये निर्दिष्ट इति द्रष्टव्यम्। एतयोरन्यतरस्य गत्याऽन्यतरस्य गत्यनुमानोपदेशस्तयोरेकगतित्वचिन्तनार्थ इति।

इदानीमनयोः स्थानभेदं गुणभेदं च सिद्धवदनूद्य व्यतिहारं तच्चिन्तनार्थं विधत्ते—

अथ य एषोऽन्तरादित्ये हिरण्मयः पुरुषो यः पश्यतीमाम्,

गुणान्तरविधानारम्भार्थोऽथशब्दः। य एष प्रसिद्धोऽन्तरादित्य आदित्याख्यस्य मण्डलस्य मध्ये हिरण्मयो हिरण्मय इव हिरण्मयो ज्योतिर्मयोऽन्तर्यामी पुरुषः पुरुषाकारादित्यदेवतान्तरनुप्रवेशेन लब्धपुरुषाकार इति यावत्। कोऽसौ हिरण्मयः पुरुषो य इमां पृथिवीं पश्यति। इमामित्युपलक्षणं त्रैलोक्यमवभासयतीत्यर्थः।

अस्य पुरुषस्य हिरण्मयत्वे निमित्तं स्वयमेवाऽऽह—

हिरण्यवस्थात्,

हिरण्ये हिरण्मये तेजःसङ्घातात्मके मण्डलेऽवस्थादवस्थानात्। तदभेदेनावस्थितत्वादित्यर्थः। "वष्टि भागुरिरल्लोपमवाप्योरुपसर्गयोः"

इत्यवोपसर्गेऽवर्णलोपः। पश्यत्यमी हिरण्यवस्थादिति पाठः प्रामादिकः। यदि सत्यस्तदा द्वितीयार्थे प्रथमा विपरिणेया। इमाँल्लोकान् पश्यतीत्यर्थः।

इदानीमस्याध्यात्ममवस्थानमाह—

स एषोऽन्तरे हृत्पुष्कर एवाऽऽश्रितोऽन्नमत्ति ।।१।।

यो हिरण्मयाण्डस्थतया हिरण्मयः पुरुष उक्तः स एषोऽन्तरे देहाभ्यन्तरे यद्धृत्पुष्करं हृदयकमलं तस्मिन् हृत्पुष्कर एवाऽऽश्रितस्तत्रैव प्राकट्यमुपगतः प्राणात्मा सन्नन्नमदनीयमत्ति भुङ्क्ते विषयान् वा शब्दादीनुपभुङ्क्त इत्यर्थः।।१।।

यह [पूर्वोक्त] आत्मा अपने को दो प्रकार से धारण और पालन करती है। [इनमें से एक प्रकार है] प्राण [जो शरीर में पाँच रूपों में अवस्थित हैं] तथा [दूसरा प्रकार है आदित्य [जो इस ब्रह्माण्ड रूपी पिटारे में संसार को प्रकाशित कर रहा है]। आत्मा [की विशेष अभिव्यक्ति] के दो मार्ग हैं—[एक] देह के भीतर और [दूसरा देह के] बाहर [अध्यात्म रूप से अवस्थित]। ये प्राण और आदित्य दिन-रात में परिवर्तित होते रहते हैं। यह आदित्य बाह्य आत्मा है और प्राण अन्तरात्मा है। इसलिए बहिरात्मा की गति से अन्तरात्मा की गति का अनुमान किया जाता है। [अभिप्राय यह है कि सूर्य मेरु पर्वत की प्रदक्षिणा करते हुए दिन-रात में ब्रह्माण्ड के भीतर बदलता रहता है। इसी प्रकार प्राण भी श्वास के रूप में शरीर के भीतर सञ्चार करता रहता है। दिन-रात में सूर्य की गति और प्राण की गति दोनों की संख्या समान बतलाई गई है आगम ग्रन्थों में, वह है इक्कीस हजार] इसे इस प्रकार से कहा गया है—जो कोई, इसको जानते हुए, विनष्ट पापोंवाला, इन्द्रियों पर नियन्त्रण करके उनका स्वामित्व प्राप्त कर लेनेवाला, उज्ज्वल चित्तवृत्तिवाला, उस [उपास्य] के प्रति निष्ठा रखनेवाला, [विषयों की ओर से] आँखों को मोड़ लेनेवाला [विद्वान् व्यक्ति] है, उसके द्वारा अन्तरात्मा की गति से बहिरात्मा का अनुमान[१] कर लिया जाता है। इसे इस प्रकार से

---

१. अन्तरात्मा की गति से बहिरात्मा का अनुमान कैसे किया जाता है, इस विषय में टीकाकार रामतीर्थ ने दो प्रकार बतलाये हैं। पहले के अनुसार, आध्यात्मिक और

कहा गया है—जो यह अन्तःस्थ आदित्य-मण्डल में ज्योतिर्मय [हिरण्मय] अन्तर्यामी पुरुष है, वह हिरण्मय अर्थात् तेजः समूहात्मक मण्डल में अवस्थित होने के कारण इन्हें [पृथिवीप्रभृति लोकों] को देखता रहता है और जो देह के भीतर हृदय-कमल में रहनेवाली प्राणात्मा है वह (शब्दादि) विषयों का उपभोग [वहीं प्रकट होकर] करती रहती है।।१।।

एवमादित्यमण्डलान्तरभिव्यक्तं हिरण्मयत्वादिगुणकं पुरुषमनूद्य तस्य हृदयान्तर्वर्तिप्राणात्मभावं विधायेदानीमुक्तप्राणात्मानमनूद्य तस्याऽऽदित्यात्मभावं विदधाति—

अथ य एषोऽन्तरे हृत्पुष्कर एवाऽऽश्रितोऽन्नमत्ति स एषोऽग्निर्दिवि श्रितः सौरः कालाख्योऽदृश्यः सर्वभूतान्यन्नमत्तीति ।

अन्नमत्तीत्यन्तोऽनुवादभागो व्याख्यातः। स एष एवाग्निरत्ता दिवि द्युलोके श्रित आश्रितः स्थित इत्यर्थः। कोऽयमग्निरित्यत आह—सौरः सूर्यतेजोरूपः। स एव प्राणिनां कलनात्कालाख्यः कालसंज्ञितः। अदृश्यः प्रत्यक्षागोचर एवं सन् सर्वभूतान्येवान्नं तान्यत्ति सर्वभूतानि संहरति। इतिशब्दो व्यतिहारोपदेशसमाप्त्यर्थः।

यत्र पुष्करे स्थितोऽन्नमत्तीत्यध्यात्ममुक्तं दिवि श्रितोऽन्नमत्तीति चाधिदैवं तदुभयस्वरूपजिज्ञासया वालखिल्याः पृच्छन्ति—

कः पुष्करः किम्मयो वेति।

स्पष्टार्थः।

आधिभौतिक पिण्ड और ब्रह्माण्ड की अपने-अपने परिमाण के अनुसार १०० वर्षों की आयु को आधार मानकर इसी के समकक्ष अध्यात्मगत प्राणात्मक गति से १०० वर्षों के अन्त में पिण्ड ड देह का परित्याग मानने से बहिरात्मास्वरूप आदित्य की भी ब्रह्माण्डदेह का परित्याग करने की गति, उस परिमाण से, १०० वर्षों के अन्त में होनी चाहिए। दूसरा प्रकार यह है—जैसे प्राणात्मा की गति है देह को धारण करना तथा प्राणायाम इत्यादि क्रियाओं का करना, ठीक इसी प्रकार बाह्यात्मा आदित्य के द्वारा ब्रह्माण्ड को धारण करना, उदय और अस्त के अनुसार दिन रात का विभाजन—इस प्रकार की गति का अनुमान भी किया जाता है।

उत्तरमाह प्रजापतिः—

इदं वाव तत्पुष्करं योऽयमाकाशोऽस्येमाश्चतस्रो दिशश्चतस्र उपदिशो दलसंस्था आसम् ।

योऽयं प्रसिद्ध आकाश इदं वावेदमेव तत्पुष्करम्। यदध्यात्म-हृत्पुष्करमुक्तं तदिदमेवाधिदैवं प्रसिद्धमाकाशं नानयोः स्वरूप-भेदोऽस्तीत्यर्थः। तथा चाऽऽकाशमेव हृदये ब्रह्माण्डान्तरे च पुष्करमिति स्वरूपप्रश्नस्योत्तरमुक्तम्। किम्मय इति प्रश्नस्योत्तरं वदन् हृदयपुष्करस्याष्ट-दलमयत्वं प्रसिद्धमिति मत्वाऽधिदैवपुष्करदलान्याह—**अस्येति**। अस्याऽऽकाशपुष्करस्येमाः प्रसिद्धाः प्राच्याद्या आग्नेय्याद्याश्चतस्रश्चतस्रो दिशो दलसंस्था दलत्वेन स्थिता आसमासन्नित्यर्थः। तथा च हृदयाकाश-बाह्याकाशयोर्हृदयकमलगताष्टदलानामष्टदिशां चाभेदो ध्येय इति तात्पर्यार्थः।

एवमध्यात्माधिदैवयोः प्राणादित्यपुरुषयोर्भेदेन प्रतीयमानस्थान-गुणक्रियाणामभेददर्शनं विधाय पुनस्तावनूद्य सगायत्रिव्याहृतिप्रणवालम्बनं तयोरुपासनं विदधाति—

अर्वाग्विचरत एतौ प्राणादित्या एता उपासीतो-मित्येतदक्षरेण व्याहृतिभिः सावित्र्या चेति।।२।।

एतौ प्राणादित्यौ यथाव्याख्यातावर्वागदूरे सन्निहितौ विचरतः परिवर्तेते हृदये बाह्याकाशे चेत्यर्थः। एतावुपासीत ध्यायेत्। कथम्। ओमित्येतदक्षरेण। एतेनाक्षरेणेत्येतत्। व्याहृतिभिर्भूर्भुवः स्वरित्येताभि-स्तिसृभिः। सावित्र्या सवितृदेवत्ययर्चा गायत्र्याख्यया चेति। इतिशब्द ओङ्काराद्यालम्बनविध्युपसंहारार्थः।।२।।

जो यह भीतर हृदय-कमल में आश्रित होकर विषयों का सेवन करता रहता है, वह द्युलोक में स्थित अग्नि है, यह सूर्य के तेज से सम्पन्न है, [प्राणियों की गणना करने के कारण] यह काल संज्ञक है, [प्रत्यक्ष रूप से] अदृश्य है, यह सभी भूतों का भक्षण करती है अर्थात् उन्हें अपने में

समेट लेती है। यह कमल कौन-सा है और किससे युक्त है? यह जो आकाश है, वही कमल है। चार दिशाएँ और चार उपदिशाएँ ही इसकी पंखुड़ियाँ हैं। ये प्राण और आदित्य [हृदय और बाह्याकाश में] इसके आस-पास ही विचरण करते रहते हैं। इनकी उपासना [अविनाशी] अक्षर ओङ्कार के द्वारा [भूः, भुवः और स्वः—इन] व्याहृतियों तथा सावित्री [गायत्री संज्ञक] मन्त्र से करनी चाहिए। ।।२।।

इदानीमुपासनालम्बनत्वेनोक्तस्योङ्कारस्य तत्त्वं प्रतिपादयिष्यँस्तत्स्तुतये तदुत्पत्तिप्रकारमाह—

द्वे वाव ब्रह्मणो रूपे मूर्तं चामूर्तं चाथ यन्मूर्तं तदसत्यं यदमूर्तं तत्सत्यं तद्ब्रह्म तज्ज्योतिर्यज्ज्योतिः स आदित्यः स वा एष ओमित्येतदात्माऽभवत्स त्रेधाऽऽत्मानं व्यकुरुतोमिति तिस्रो मात्रा एताभिः सर्वमिदमोतं प्रोतं चैवास्मीत्येवं ह्याहैतद्वा आदित्य ओमित्येवं ध्यायताऽऽत्मानं युञ्जीतेति ।।३।।

ब्रह्मणः परमात्मनो द्वे वाव द्वे एव रूपे रूप्यतेऽधिष्ठानतया ब्रह्माऽऽभ्यामिति रूपे निरूपके इत्यर्थः। के ते इत्यत आह—मूर्तं च मूर्तं सावयवं कार्यममूर्तं तद्विपरीतं च कारणम्। अथानयोर्मध्ये यन्मूर्तं तदसत्यम् ''वाचारम्भणं विकारो नामधेयम्'' इति श्रुतेः। यदमूर्तं तत्सत्यम् ''मृत्तिकेत्येव सत्यम्'' इति (छान्दो० अ० ६) श्रुतेः। यत्सत्यं परमार्थसत्यं सर्वाधिष्ठानं तद्ब्रह्म परिवृढम्।

'सदेव सोम्येदमग्र आसीत्', 'तत्सत्यं स आत्मा' इति श्रुतेः। ब्रह्मशब्दार्थमाह—यद्ब्रह्म तज्ज्योतिः प्रकाशस्वभावं यत्तज्ज्योतिर्ब्रह्माख्यं स आदित्य सूर्यः 'येन सूर्यस्तपति तेजसेद्धः' इति श्रुतेः। स आदित्यो वा एष ब्रह्मप्रकाशात्मक ओमित्येतदात्मोङ्कारस्वरूपोऽभवत्प्रणवात्मनोदित इत्यर्थः। ओङ्कारो ह्यनुज्ञाक्षरं प्रसिद्धम् ''तद्वा एतदनुज्ञाक्षरं यद्धि किञ्चाजानात्योमित्येव तदाह'' (छान्दो० अ०१) इति श्रुतेः। आदित्यश्चानुज्ञां कुर्वन्निव जगतामुदेति 'य एवासौ तपति तमुद्गीथमुपासीतोमिति

ह्येष स्वरन्नेति' इति श्रुतेः। एवं प्रणवीभूतः स आदित्य आत्मानं प्रणवं त्रेधा त्रिप्रकारमकुरुत कृतवान्। ओमिति अ उ म् इति तिस्रो मात्रा अवयवा एताभिः सर्वमिदमोतं प्रोतं चैव। यथा दीर्घतन्तुषु तिर्यक्तन्तवः प्रोतास्तिर्यक्तन्तुषु दीर्घतन्तव ओता वैपरीत्येन वा परस्परं संयोग-विशेषेणैकीभूताः सन्तः पटशब्दवाच्या भवन्त्येवं प्रणवात्मके मय्येवाशेष-स्योतप्रोततयाऽवस्थानादहमेव प्रणवात्मोतं च प्रोतं चास्मि न मत्तोऽन्य-त्किञ्चिदित्येवं ह्याह—स आदित्यो यतस्तस्मादेतद्वा एष वा आदित्य ओमित्योङ्कार एवेत्येवं ध्यायत चिन्तयत हे वालखिल्याः। ध्यान-शब्दार्थमाह—आत्मानं प्राणप्रधानं प्रत्यञ्चमादित्य आदित्यं चाऽऽत्मनि युञ्जीत व्यत्ययो बहुलमिति लकारवचनव्यत्ययेन योजयतैकात्मतां भावयतेत्यर्थः। इतीत्यनुवाकसमाप्त्यर्थः।।३।।

ब्रह्म अर्थात् परमात्मा के दो रूप हैं—मूर्त और अमूर्त [अर्थात् कारण और कार्य]। [इनमें से] जो मूर्त है, वह असत्य है [और] जो अमूर्त है, वह सत्य है। वही ब्रह्म है, वही ज्योति (प्रकाश स्वरूप) है। जो ज्योति है, वह आदित्य है। वह आदित्य ही ओङ्कार स्वरूप में प्रकट हुआ। [ओङ्कार गत अ, उ, म् , रूप में] उसने अपने को तीन प्रकार से विभक्त कर लिया। इन्हीं तीन मात्राओं अथवा अवयवों से सब कुछ ओत-प्रोत[१] है। वह भी जो इसमें है। इसी प्रकार से कहा है—यह आदित्य ओङ्कार ही है, इस प्रकार से ध्यान करते हुए [साधक] अपने को उससे युक्त करे।।३।।

ओङ्कारेणाऽऽत्माभिध्यानविधिं महीकुर्वंस्तत्रैव विशेषान्तरं विधित्सन्नाह—

अथान्यत्राप्युक्तमथ खलु य उद्गीथः स प्रणवो यः प्रणवः स उद्गीथः ।

---

१. ओङ्कार की तीन मात्राओं में सब कुछ कैसे ओतप्रोत है—इस विषय में दीपिकाकार रामतीर्थ ने एक अच्छा उदाहरण दिया है। तदनुसार, जैसे पट-पट तभी कहलाता है, जब उसमें लम्बे धागे चौड़ाई के धागों से परस्पर गुंथे हों, ठीक उसी प्रकार ओङ्कार में सब कुछ अनुस्यूत है।

अथैतदन्यत्र छान्दोग्येऽप्युक्तं प्रणवस्योपासनम् । यद्यपि तत्राङ्गावबद्धमुपासनमिह तु स्वतन्त्रं तथाऽपि स्तुत्यर्थमुदाहरणं न गुणोपसंहारार्थमिति द्रष्टव्यम्। प्रणवोद्गीथयोरेकत्वकथनारम्भार्थोऽथशब्द:। खलुशब्द: कर्मप्रकरणोक्तोद्गीथस्मारणार्थ:। य उद्गीथ: सामगानामुद्गीथभक्त्यवयव ओङ्कार: स बह्वृचानां शस्त्राङ्गभूत: प्रणव:, यश्च बह्वृचानां प्रणव: स उद्गातॄणामुद्गीथ:।

एवं शस्त्रस्तोत्राङ्गतया भिन्नस्थाननिवेशिन्योरोङ्कारव्यक्त्योरभेददृष्टिं विधाय तस्योद्गीथात्मकस्य प्रणवस्याऽऽदित्यात्मना द्रष्टव्यतामाह—

इत्यसौ वा आदित्य उद्गीथ एष प्रणवा[१] इत्येवं ह्याहोद्गीथं प्रणवाख्यं प्रणेतारं भारूपं विगतनिद्रं विजरं विमृत्युं त्रिपदं त्र्यक्षरं पुन: पञ्चधा ज्ञेयं निहितं गुहायामित्येवं ह्याह ।

इत्यसौ वा आदित्य उद्गीथ उद्गीथावयव ओंकार इत्यर्थ:। एष आदित्य एव प्रणव: शस्त्राङ्गभूत ओङ्कार इत्येवं ह्याह छान्दोग्यश्रुतिरित्यर्थ:। एवं स्तुत्या महीकृतमादित्यं पुनर्विशिनष्टि गुणान्तरविशिष्टतया ध्यानाथमुद्गीथमित्यादिना। छन्दोगानामुद्गीथभक्त्यवयवत्वेनोद्गीथं बह्वृचानां शस्त्रान्तर्गतप्रणवाख्यं प्रणेतारं प्रकर्षेण तत्तत्कर्मणां प्रवर्तयितारमत एव प्रणवाख्यमित्यर्थ:। भा: प्रकाशो रूपं स्वरूपं यस्य स भारूपस्तम्। विगता नित्यनिवृत्ता निद्राऽविद्या तमोरूपा यस्मात्तं विगतनिद्रम्। विजरं जरारहितं सदैकरूपमिति यावत्। विमृत्युं विगतमृत्युमविनाशिनम्। त्रीणि पदानि यस्य जाग्रत्स्वप्नसुषुप्ताख्यानि प्राणरूपस्य भूर्भुव: स्वरिति त्रैलोक्याख्यान्यादित्यरूपस्य स त्रिपदस्तं त्रिपदम्। त्रीण्यक्षराणि यस्याकारोकारमकाराख्यानि प्रणवरूपस्य स त्र्यक्षरस्तं त्र्यक्षरम्। पुन: पञ्चधा ज्ञेयं विचिन्त्यं यतो गुहायां देहकुहररूपायां निहितमाश्रितं देहान्तश्चरन्तं प्राणापानादिरूपेण पञ्चधा ज्ञेयमित्यर्थ:। इत्येवं ह्याह गुणविधायिनी श्रुतिरिति शेष:। एवं विशेषितमोमित्यनेनैतदुपासीतेति वक्ष्यमाणेनान्वय:।

---

१. 'प्रणवा इत्येवम् ' तथा 'भूम्यादया एको....' इत्यादिगत सन्धियाँ मैत्रायणी शाखा में उपलब्ध विशेष प्रकार की सन्धि-प्रक्रिया के अनुरूप हैं।

उक्तविशेषणस्याऽऽदित्यात्मनो भारूपत्वं विशेषतो ध्येयमित्यभिप्रेत्य वाच्यवाचकयोः परब्रह्मप्रणवयोः सारभूतोऽयं सवितेति तन्महिमानमाविष्करोति—

ऊर्ध्वमूलं

ऊर्ध्वं विकारातीतं परं ब्रह्म मूलमुपादानम् ।

तदेव मूलं स्वरूपतो निर्दिशति—

त्रिपाद्ब्रह्म शाखा आकाशवाय्वग्न्युदकभूम्यादय एकोऽश्वत्थनामैतद्ब्रह्मैतस्यैतत्तेजो यदसा आदित्यः ।

त्रिपादस्यामृतं दिवीतिमन्त्रभागप्रकाशितं विकारातीतं ब्रह्मास्य वाच्यप्रपञ्चस्याश्वत्थनाम्न ऊर्ध्वं मूलमित्यर्थः। अस्य शाखा आकाशादयो विकाराः। भूम्यादय इत्यादिपदेन चराचरग्रहः। शिष्टं प्रसिद्धार्थम् । एवंलक्षण एको ब्रह्माण्डलक्षणः समष्टिपिण्डोऽश्वत्थनामा श्वःपर्यन्तं स्थास्यतीति विश्वासानर्हत्वादश्वत्थसंज्ञ इत्यर्थः। यदेतदश्वत्थसंज्ञितं जगदेतद्ब्रह्मोपादानत्वान्न ततोऽन्यदित्यर्थः। तथा च काठकश्रुतिः— 'ऊर्ध्वमूलो अवाङ्शाख एषोऽश्वत्थः सनातनः। तदेव शुक्रं तद्ब्रह्म तदेवामृतमुच्यते' इति। एतस्य सर्ववाच्याश्रयतया सर्वात्मकस्य ब्रह्मण एतत्तेजः प्रकाशः सार इत्यर्थः। किमित्युच्यते यदसा आदित्यो योऽसावादित्यः प्रसिद्ध एतद्ब्रह्मणस्तेज इति योजना।

सर्ववाच्याधिष्ठानब्रह्मसारत्वमुक्त्वा सर्ववाचकाधिष्ठानप्रणवसारतां चास्योपदिशति—

ओमित्येतदक्षरस्य चैतत्।

एतत्तेजो यदसा आदित्य इति पूर्वेण योजना। ओङ्कारादित्ययोरुक्तं महिमानमनूद्योपास्यत्वं सिद्धमुपसंहरति—

तस्मादोमित्यनेनैतदुपासीताजस्रमिति।

एतत्प्राणादित्यात्मकं तत्त्वमजस्रमुपासीतेति सम्बन्धः। इतिशब्द उपासनविध्यनुवादसमाप्त्यर्थः।

प्रणवेनोपासनविधिस्तुतये प्रणवमाहात्म्यवादिवाक्यमुदाहरति—

एकोऽस्य सम्बोधयितेत्येवं ह्याह।

अस्य प्रणवस्य एकः श्लोकरूपो मन्त्रः सम्बोधयिता माहात्म्यप्रकाशको विद्यत इत्येवं ह्याह कठश्रुतिरित्यर्थः।

तमेव श्लोकं किञ्चिदक्षरभेदेन पठति—

एतदेवाक्षरं पुण्यमेतदेवाक्षरं परम्।
एतदेवाक्षरं ज्ञात्वा यो यदिच्छति तस्य तत्॥४॥

एतदेवाक्षरं प्रणवाख्यं पुण्यं पुण्यप्रदं पुण्यकर्मसु प्रयुज्यमानमित्यर्थः। एतदेवाक्षरं परं परब्रह्मप्रकाशकं मोक्षदमित्यर्थः। किं बहुनैतदेवाक्षरं ज्ञात्वा ममेष्टदमेतदेव नान्यदिति निश्चित्य तत्परः सन्यो यदिच्छत्यभ्युदयं वा मोक्षं वा फलं तस्य तद्भवत्येवेत्यर्थः॥४॥

और अन्यत्र भी कहा गया है। यह जो उद्गीथ है, वह प्रणव है [और] जो प्रणव है। वह उद्गीथ है। [तात्पर्य यह कि सामगान करनेवालों की उद्गीथभक्ति का अवयव ओङ्कार ही ऋग्वेदियों के शस्त्र का अङ्गभूत प्रणव है अर्थात् सामवेदी जिसे उद्गीथ कहते हैं, ऋग्वेदी उसे ही प्रणव कहते हैं।] यह आदित्य उद्गीथ कहते हैं, यह प्रणव है, उसी प्रकार से कहा गया है—प्रणव संज्ञक उद्गीथ प्रणेता [अर्थात् सन्मार्ग पर ले जानेवाला], प्रकाशस्वरूप, निद्रारहित, वृद्धावस्था से रहित, मृत्युहीन, तीन पदों वाला, तीन अक्षरोंवाला और पुनः पाँच प्रकार से [हृदय] गुहा में निहित है—यह समझना चाहिए। इसी प्रकार से कहा गया है—यह जो अश्वत्थ नामक ब्रह्म है, उसके तीन पाद हैं। उसका मूलभाग, अर्थात् जड़वाला हिस्सा ऊपर के लोकों में है। आकाश, वायु, अग्नि, जल और पृथिवी इत्यादि उसकी शाखाएँ हैं। यह ब्रह्म है। यह जो आदित्य है, वह उसी का तेज है और ओम् अक्षर का भी तेज वही आदित्य है। इसलिए इस [आदित्य] की उपासना निरन्तर ओङ्कार रूप से ही करनी चाहिए। इस ओङ्कार के महत्त्व का ठीक-ठीक ज्ञान करानेवाला [यह मन्त्र] है—

यह ओङ्कार अक्षर अत्यन्त पुण्यप्रद और परब्रह्म का प्रकाशक है।

[अधिक क्या कहें] इस अक्षर के ज्ञान से [साधक की] जो भी इच्छा होती है, वह पूर्ण हो जाती है। ।।४।।

अथान्यत्राप्युक्तं स्वनवत्येषाऽस्य तनूः।

पुनरप्युपास्यस्याऽऽत्मनो गुणान्तरविधानायोत्तरोऽनुवाकः। अथान्यत्राप्युक्तमिति। अस्य प्राणादित्यात्मन एषा तनूस्तनुः स्वनवती शब्दवती।

सा केत्यत आह—

योमिति स्त्रीपुंनपुंसकेति लिङ्गवत्येषाऽथाग्निर्वायुरादित्य इति भास्वत्येषाऽथ ब्रह्मा रुद्रो विष्णुरित्यधिपतिवत्येषाऽथ गार्हपत्यो दक्षिणाग्निराहवनीय इति मुखवत्येषाऽथ ऋग्यजुः सामेति विज्ञानवत्येषा भूर्भुवः स्वरिति लोकवत्येषाऽथ भूतं भव्यं भविष्यदिति कालवत्येषाऽथ प्राणोऽग्निः सूर्य इति प्रतापवत्येषाऽथान्नमापश्चन्द्रमा इत्याप्यायनवत्येषाऽथ बुद्धिर्मनोऽहङ्कार इति चेतनवत्येषाऽथ प्राणोऽपानो व्यान इति प्राणवत्येषेत्यत ओमित्युक्तेनैताःप्रस्तुता अर्चिता अर्पिता भवन्तीत्येवं ह्याहैतद्वै सत्यकाम परं चापरं च ब्रह्म[1] यदोमित्येतदक्षरमिति ।।५।।

ओङ्काररूपा तनुरुदात्तानुदात्तस्वरितरूपत्रैस्वर्येणोच्चार्यमाणा स्वनवतीत्यर्थः। प्रणवावयवेष्वकारादिष्वेकैकं त्रिकं त्रिकमवयवशो विभज्य प्रणवावयविनः स्वनवत्याद्यात्मतामापाद्य तादृक्प्रणवतनुत्वेन प्राणादित्यात्मनस्तत्तद्गुणवैशिष्ट्यं ध्येयमिति प्रकरणार्थः। येषां ये स्वभावसिद्धा धर्मास्तैस्तद्वत्येषेति सुबोधोऽक्षरार्थः। इति यतोऽत ओमित्युक्तेनाक्षरेणैताः प्रस्तुताः स्वनवत्याद्यास्तनवोऽर्चिताः पूजिताः स्तुता अर्पिताः प्राणादित्यात्मनि विशेषणत्वेन समर्पिताः समारोपिता भवन्तीत्येवं ह्याहैतमर्थं प्रश्नश्रुतिरित्यर्थः। तामेव पठति—**एतद्वा इति**। पिप्पलाद

---

१. 'एतद्वै सत्यकाम! परं चापरं ब्रह्म च'—यह अंश प्रश्नोपनिषत् (५.२) से उद्धृत है। इसके वक्ता ऋषि पिप्पलाद हैं और श्रोता शिष्य हैं सत्यकाम शैब्य।

आचार्यः सत्यकामं शिष्यं प्रत्याह हे सत्यकामोमित्येदक्षरमिति यदस्त्येतद्वा एतदेव परं ब्रह्मापरं च ब्रह्मेति विद्धीति। परापरब्रह्मज्ञानोपासनयोरालम्बनमेतदेवाक्षरमित्यर्थः।।५।।

और अन्यत्र भी कहा गया है। इस [आदित्यात्मक और प्राणात्मक अ: ा] की यह ओङ्कारस्वरूप देह नादमयी है। इसके स्त्री, पुरुष, और नपुंसक—ये तीनों लिङ्ग हैं। अग्नि, वायु, और आदित्य रूप में यह [देह] दीप्तिमयी रहती है। ब्रह्मा, रुद्र, और विष्णु के रूप में यह आधिपत्यसम्पन्न है। गार्हपत्य, आहवनीय और दक्षिणाग्नि संज्ञक तीनों अग्नियाँ इसके मुख हैं। ऋक्, यजुष् और साम के रूप में यह शरीर विज्ञानवान् है। भूः [पृथिवी] भुवः [अन्तरिक्ष] और स्वः [स्वर्ग] ये तीनों इसके लोक हैं। भूत, वर्तमान और भविष्य ये तीनों इसके काल हैं। प्राण, अग्नि और सूर्य इन तीन तापों से युक्त होने के कारण यह शरीर प्रतापवान् है। अन्न, जल और चन्द्रमा—इन तीनों से यह शरीर आप्यायित अर्थात् तृप्त तथा सन्तुष्ट है। बुद्धि, मन और अहङ्कार—इन तीनों से युक्त होने के कारण यह शरीर चैतन्यवान् है। प्राण, अपान, और व्यान—इनसे युक्त होने से यह प्राणवान् है। इसलिए 'ओम्' कहने से ये सभी प्रस्तुत, पूजित और अर्पित हो जाते हैं। इस प्रकार से यह बतलाया गया है—हे सत्यकाम यह जो ओङ्कार अक्षर है, वही पर तथा अपर ब्रह्म है। [अर्थात् परापर ब्रह्म के ज्ञान के लिए ओम् अक्षर आलम्बन है] ।।५।।

एतौ प्राणादित्या एता उपासीतोमित्येतदक्षरेण व्याहृतिभिः सावित्र्या चेति यत्सूत्रमुपन्यस्तं तत्र प्रणवापेक्षितो विशेषः सर्व उक्त इदानीं व्याहृत्यपेक्षितो विशेषस्तदुत्पत्त्यादिप्रशंसनेनोपपादनीय इत्युत्तरोऽनुवाक आरभ्यते—

अथाव्याहृतं वा इदमासीत्स सत्यं प्रजापतिस्तपस्तप्त्वाऽनुव्याहरद्भूर्भुवः स्वरित्येषैवास्य प्रजापतेः स्थविष्ठा तनूर्या लोकवतीति स्वरित्यस्याः शिरो नाभिर्भुवो भूः पादा आदित्यश्चक्षुः ।

अथेति व्याहृतिव्याख्यानारम्भार्थः। इदं त्रैलोक्यं पूर्वमव्याहृतमशब्दनिर्दिष्टं वा आसीत् । सत्यं स प्रजापतिरिति सम्बन्धः। सच्च त्यच्चेति सत्यं पञ्चभूतपरिणामात्मकमव्याहृतमासीत् । तदा स प्रजापतिस्त्रैलोक्यशरीरो ब्रह्मा तपस्तप्त्वा प्रागाहितसंस्कारोद्बोधकमालोचनं

कृत्वा भूर्भुवः स्वरित्येवमनुव्याहरदनुक्रमेणोच्चारितवान्। पादनाभिशिरः-प्रदेशानालभ्य भूर्भुवः स्वरिति क्रमेणोच्चारितवानित्यर्थः। एवं स्पष्टोच्चारणे हेतुमाह—एषैव लोकत्रयात्मिकाऽस्य प्रजापतेः स्थविष्ठा स्थूलतमा तनूः शरीरं या लोकवतीति पूर्वानुवाकेऽवोचमित्यध्याहारः। तत्र का व्याहृतिः किमङ्गवाचिकेत्येतद्विभजते स्वरित्यादिना। अस्यास्तन्वाः। एवं व्याहृत्युत्पत्तिं तदर्थं चोपदिश्य प्रकृतस्याऽऽदित्यात्मन उपास्यस्य तत्सम्बन्धं वक्तुं व्याहृतिशरीरप्रजापत्यवयवतां तस्योपदिशति—**आदित्यश्चक्षुरिति**।

सर्वाङ्गेषु चक्षुषः प्राधान्यमुपपादयन्नादित्यं मही करोति—

चक्षुरायत्ता हि पुरुषस्य महती
मात्रा चक्षुषा ह्ययं मात्राश्चरति।

पुरुषस्य व्यवहर्तुर्महत्यपरिमिता मात्रा मीयते ज्ञायत इति मात्रा विषयो मितिरेव वा मात्रा विषयसिद्धिर्हि निश्चितं चक्षुरायत्ता चक्षुरधीना। उक्तमर्थं लोकप्रसिद्ध्योपपादयति। हि यस्मादयं पुरुषश्चक्षुषा मात्रा विषयांश्चरति दूरस्थानपि निम्नोन्नतसमविषमदेशानपि प्रतिपद्यतेऽतश्चक्षुरायत्ता पुरुषस्य महती मात्रेत्यर्थः।

प्रजापतेर्मुख्याङ्गत्वेनाऽऽदित्यं महीकृत्येदानीं साक्षादेव प्रजापत्यात्मतां सम्पादयति—

सत्यं वै चक्षुरक्षिण्यवस्थितो हि पुरुषः सर्वार्थेषु चरति।

वै प्रसिद्धं चक्षुः सत्यं चक्षुर्दृष्टस्य सत्यत्वप्रसिद्धेः प्रजापतिरपि सत्यं सत्पदात्मकत्रैलोक्यशरीरत्वादतश्चक्षुरादित्यः सत्यमित्युक्ते सत्यात्मा प्रजापतिरादित्य इत्युक्तं भवतीति भावः। चक्षुषः सत्यत्वमुपपादयति—**अक्षिणीति**। चरत्यविसंवादितया हि प्रसिद्धमेतदित्यर्थः।

उपसंहरति—

एतस्माद्भूर्भुवः स्वरित्युपासीतानेन हि प्रजापतिर्विश्वात्मा विश्वचक्षुरिवोपासितो भवतीत्येवं ह्याह।

उक्ताद्धेतोरित्यर्थः अनेन हि व्याहृत्यात्मतयाऽऽदित्यात्मोपासनेन विश्वचक्षुः सूर्य इव विश्वात्मा प्रजापतिरुपासितो भवतीत्येवं ह्याह क्वचिच्छ्रुत्यन्तरमिति शेषः।

किमाहेति तदाह—

एषा वै प्रजापतेर्विश्वभृत्तनूः।

एषा वै पूर्वोक्ता सूर्यरूपा प्रजापतेर्ब्रह्मणो विश्वं बिभर्तीति विश्वभृत्तनूः शरीरम्।

कथमस्या विश्वभृत्त्वमिति तदाह—

एतस्यामिदं सर्वमन्तर्हितमस्मिंश्च सर्वस्मिन्नेषाऽन्तर्हितेति।

एतस्यां तनाविदं सर्वं दृश्यमन्तर्हितं गूढम्। आदित्यप्रकाशाच्छादितमेव सर्वमित्यर्थः। तथाऽस्मिंश्च सर्वस्मिन् दृश्ये विषय एषा तनूरन्तर्हिता तत्तदर्थप्रकाशकत्वेन तत्तदात्मतामापन्ना सती प्राकृतैर्जनैः परिपूर्णा न दृश्यत इत्यर्थः। यद्वा प्राणरूपेण सर्वस्मिन्नेषाऽन्तर्हितेत्यर्थः।

व्याहृतिगुणविधिमुपसंहरति—

तस्मादेषोपासीत ।।६।।

एषा व्याहृत्यात्मिका तनूरुक्ता तस्मादेतां तथैवोपासीतेति योजना ।।६।।

और [पहले] यह [सब जगदादि] अव्याहृत अर्थात् नामादि से रहित था। प्रजापति ने तपोनुष्ठानपूर्वक इस अस्तित्वयुक्त जगदादि का 'भूः, भुवः,' और 'स्वः' इन तीन शब्दों से [क्रमशः] कथन किया। इन प्रजापति का सबसे स्थूल शरीर वही है, जो लोकों से युक्त है। इस शरीर का शिर 'स्वः' [स्वर्ग] है, इसकी नाभि 'भुवः' [अन्तरिक्ष] है और 'भूः' इसके चरण हैं। आदित्य इसका नेत्र है। बड़े परिमाण में पुरुष चक्षुओं पर ही निर्भर है अर्थात् आँखों के बिना उसकी गतिविधियाँ बड़ी मात्रा में नहीं हो पातीं।

आँखों से नाप-तौल करके ही यह कदम रखता है। नेत्र ही सत्य [भी] है; क्योंकि आँखों पर निर्भर होकर ही पुरुष समस्त कार्य-व्यवहार करता है। इस कारण 'भू:' भुव:' और 'स्व:'—इनकी उपासना करनी चाहिए। इस उपासना से जैसे विश्वात्मा प्रजापति, जो सम्पूर्ण जगत् का चक्षु है, उसकी ही उपासना हो जाती है। इसी प्रकार से कहा गया है। प्रजापति का यह [सूर्य स्वरूप पूर्वोक्त] शरीर सम्पूर्ण विश्व का भरण-पोषण करने वाला है। इसी में यह सम्पूर्ण जगत् अन्तर्निहित है तथा इस जगत् में प्रजापति का सम्पूर्ण शरीर समाया हुआ है। इसलिए इसकी उपासना करनी चाहिए। ।।६।।

इदानीं पूर्वं प्रतिज्ञातां सावित्रीशरीरतां चास्योपपादयितुमुत्तरानुवाक आरभ्यते—

तत्सवितुर्वरेण्यमित्यसौ वा आदित्यः सविता स वा एवं प्रवरणीय आत्मकामेनेत्याहुर्ब्रह्मवादिनोऽथ भर्गो देवस्य धीमहीति सविता वै देवस्ततो योऽस्य भर्गाख्यस्तं चिन्तयामीत्याहुर्ब्रह्मवादिनोऽथ धियो यो नः प्रचोदयादिति बुद्धयो वै धियस्ता योऽस्माकं प्रचोदयादित्याहुर्ब्रह्मवादिनः।

आदौ मन्त्रप्रतीकान्यादाय व्याचष्टे। तत्सवितुर्वरेण्यमिति प्रथमः पादस्तस्यार्थोऽसौ वा इत्यादिनोच्यते। तत्र सवितुस्तत्स्वरूपं वरेण्य-मित्यन्वये सवितुरिति षष्ठी पुरुषस्य चैतन्यमितिवदविवक्षितस्वार्थेति मत्वा सवितृपदार्थमाह—**असौ वा इति**। असौ वै प्रसिद्धो जगदवभासकत्वेन विभाव्यमानः सविता सवितुरिति मन्त्रपदेनोक्त इत्यर्थः। वरेण्यशब्दार्थ-माह—**स वा इति**। स वै स एव सवितैवं यथोक्तात्मस्वरूपेण प्रवरणीयः प्रकर्षेण तदेकनिष्ठतया प्रार्थनीयस्तदात्मभावना कार्येति यावत्। केनाऽऽत्मकामेन काम्यत इति काम आत्मैव कामः प्राप्यो यस्य स आत्मकामस्तेनाऽऽत्मनः स्वाभाविक स्वरूपाविर्भावकामेनेति यावत्। इत्याहुर्ब्रह्मवादिनो ब्रह्मवदनशीला वेदार्थविद इत्यर्थः। द्वितीयपादप्रती-कारम्भार्थोऽथशब्दः। भर्गो देवस्य धीमहीति प्रतीकग्रहणम्। तत्र देवपद-स्यार्थमाह—सविता वै देवः सवितैव देवशब्दार्थः। स एव द्योतनाद्देव

उच्यते। तत्रापि षष्ठ्यर्थो न विवक्षितः। ततस्तस्माद्द्योतनस्वभावत्वाद्योऽस्य सवितुर्भर्गाख्यो व्याख्यास्यमानभर्गशब्दवाच्य आत्मा तं चिन्तयामीति धीमहीत्यस्यार्थमाहुर्ब्रह्मवादिन इति पूर्ववत्। चिन्तयामीत्येकवचनमर्थतः पर्यायनिर्देशनपरं न तु धीमहीत्युक्तबहुवचनस्यैकवचनान्तत्वेनोहप्रदर्शनार्थम्। 'वयं स्याम पतयो रयीणाम्' इतिवत्कर्त्रैक्येऽपि मन्त्रेषु बहुवचनप्रयोगस्य साधुत्वाच्चक्षुरादिकरणोपाधिभेदेनैकस्मिन्नपि बहुत्वसम्भवाद्वेति द्रष्टव्यम्। अथ तृतीयपादग्रहो धियो यो नः प्रचोदयादिति। धीशब्दार्थः प्रसिद्ध एवेत्याह—**बुद्धयो वै धिय इति**। अन्तःकरणवृत्तय इत्यर्थः। ता बुद्धीरस्माकमस्मदीया यः प्रचोदयात्प्रकृष्टं प्रेरयत्वित्याशिषि लिङ्। इत्याहुरित्युक्तार्थम्। तथा चेत्थं मन्त्रयोजना, यो देवः सविता तस्य सवितुर्देवस्य तद्वरेण्यं भर्गाख्यं वयं धीमहि स नो धियो धीः प्रचोदयादिति।

यदुक्तं मन्त्रव्याख्यानेऽसौ वा आदित्यः सविता सविता वै देवो योऽस्य भर्गाख्य इति च तत्राऽऽदित्यसवितृभर्गशब्दा न स्पष्टार्था इति तान् व्याख्यातुमारभमाणोऽतिगहनार्थत्वाद्भर्गशब्दार्थं तावदाह—

अथ भर्ग इति यो ह वा अमुष्मिन्नादित्ये
निहितस्तारकोऽक्षिणि वैष भर्गाख्यः।

अथ पदविशेषार्थ उच्यते भर्ग इति कोऽर्थोऽयमेव यो ह य एव वै 'य आदित्ये तिष्ठन्' 'यश्चक्षुषि तिष्ठन्' इति च श्रुत्यन्तरप्रसिद्धोऽमुष्मिन्नादित्ये मण्डलात्मनि निहितः सन्निहितस्तथाऽक्षिणि चक्षुर्मण्डले वा यस्तारकः कृष्णतारकोपलक्षितोऽन्तर्यामी देव एष भर्गाख्य इति।

भर्गत्वमस्य कथमित्यपेक्षायां तन्नाम निर्वक्ति—

भाभिर्गतिरस्य हीति भर्गः।

भाभिः किरणैरधिष्ठानधर्मैरस्य गतिर्गमनं विषयव्याप्तिरस्येति व्युत्पत्तेर्भर्ग इत्येकं निर्वचनमित्यर्थः।

निर्वचनान्तरमाह—

भर्जयतीति वैष भर्ग इति रुद्रो ब्रह्मवादिनः।

वाऽथवा भर्जयति जगत्संहरतीति रुद्रो भर्ग इति ब्रह्मवादिन आहुरिति योजना।

इदानीं मकाररेफगकाराणां प्रत्येकनिर्वचनं ब्रुवन्नस्य भर्गाख्यां मही करोति—

अथ भ इति भासयतीमाँल्लोकान् इति रञ्जयतीमानि भूतानि ग इति गच्छन्त्यस्मिन्नागच्छन्त्यस्मादिमाः प्रजास्तस्माद्भरगत्वाद्भर्गः।

भासयति तेजोमण्डलान्तर्गतचित्प्रकाशेनेमान् सर्वानेव लोकानिति भ इत्युच्यत इत्यर्थः। इमानि भूतानि स्थावरजङ्गमात्मकानि प्राणानुगतचिदानन्दात्मना रञ्जयति प्रीणयति सुखासक्तं करोतीति र उच्यत इत्यर्थः। अस्मिन् सर्वकारणात्मनि सुषुप्तिप्रलययोः सर्वा इमाः प्रजा गच्छन्ति लयं प्राप्नुवन्ति तथा प्रबोधसृष्ट्योरस्मादेवाऽऽगच्छन्त्याविर्भवन्तीति ग इत्युच्यत इत्यर्थः। तस्माद्भासनाद्रञ्जनाद्गमनाच्च भरगत्वाद्भर्ग इति सर्वात्मोच्यत इत्यर्थः।

इदानीमादित्यादीनामनिर्वचनं कुर्वंस्तत्पर्यायशब्दानपि कांश्चिन्निर्वक्ति—

शश्वत्सूयमानात्सूर्यः[१] सवनात्सविता[२]ऽऽदानादादित्यः[३] पवनात्पावनोऽथाऽऽपो[४]ऽप्यायनादित्येवं ह्याह।

शश्वत्पुनः पुनः सूयमानात्सवनकरणात्सूर्यः सूर्यो हि प्रातरादिसवनकर्ता प्रसिद्ध इत्यर्थः। सवनादन्नादिनिष्पादनेन प्राणिनां प्रसवनात्सविता। आदानाद्भौमरसानां प्राण्यायुषां वाऽऽदित्यः। पवना-

---

१. **सूर्य**—तं देवा अब्रुवन् सुवीर्यो मर्या मया गोपायत इति, तत् सूर्यस्य सूर्यत्वम्' (तैत्ति०ब्रा० २.२.१०.४)।

२. **सविता**—सविता वै प्रसवानामीशे (ऐत० ब्रा० १.३०), सविता वै देवानां प्रसविता (शत० ब्रा० १.१.३.६)।

३. **आदित्य**—यदसुराणां लोकानादत्त तस्मादादित्यो नाम (तैत्ति० ब्रा० ३.९.२१.२)।

४. **आप्**—तद्यदब्रवीदाभिर्वा अहमिदं सर्वमाप्स्यामि (गोपथ ब्रा०-१.१.२)। निरुक्तकार महर्षि यास्क ने भी इसी व्युत्पत्ति पर बल दिया है—'आपः आप्नोतेः (९.२६)।'

त्पवित्रीकरणात्पावनो वाय्वात्माऽप्येष इत्यर्थः। अथाप्यापो जलमप्ययमित्यर्थः। कुतोऽप्यायनाज्जगदाप्यायनादित्यर्थः। इत्येवं हि नामनिर्वचनान्यभिप्रेत्याऽऽहाऽऽचार्य इत्यर्थः।

एवं मन्त्रपादद्वयोक्तमाधिदैविकं तत्त्वं निरुच्य तृतीयपादोक्तमाध्यात्मिकं तत्त्वं निर्वक्ति—

खल्वात्मनोऽऽत्मा नेताऽमृताख्यश्चेता मन्ता गन्तोत्स्त्रष्टाऽऽनन्दयिता कर्ता वक्ता रसयिता घ्राता द्रष्टा श्रोता स्पृशति च विभुर्विग्रहे सन्निविष्ट इत्येवं ह्याह ।

अमृताख्यः प्राणरूपः। 'प्राणो वा अमृतम्' इति श्रुत्यन्तरात्। अमृताख्यः खलु प्राणरूप आत्मनः कार्यकारणसङ्घातस्य नेता प्राणोपाधिक आत्मा मर्त्यसङ्घातनेतृत्वेन ततो विलक्षणत्वादमृताख्य इत्यर्थः। चित्तवृत्त्युपाधिकश्चेता। मनोवृत्त्युपाधिना मन्ता। पादोपाधिप्रधानो गन्ता। पायूपाधिनोत्स्त्रष्टा। उपस्थोपाधिनाऽऽनन्दयिता। हस्तोपाधिकः कर्ता। वागिन्द्रियोपाधिको वक्ता। रसोपाधिको रसयिता। घ्राणोपाधिर्घ्राता। चक्षुरुपाधिको द्रष्टा। श्रोत्रोपाधिः श्रोता। त्वगिन्द्रियोपाधिः स्पृशति स्प्रष्टा भवतीत्यर्थः। चकाराद्बुद्ध्याऽध्यवसिताहङ्कारेणाभिमन्ता चोच्यते। कोऽयमेवं व्यपदिश्यत इत्यत आह—विभुर्व्यापको विग्रहे देहे सन्निविष्टः सम्यगभिमानितया निविष्टः। स्त्रष्टैवेश्वरो देहमनुप्रविष्टः प्राणान्तःकरणेन्द्रियोपाधिभिर्नानाव्यपदेशभाग्भवति स एकः सर्वबुद्धिप्रेरकः आत्मोपास्य इत्यभिप्रायः। इत्येव ह्याहेति पूर्ववत्।

नन्वेकस्याऽऽत्मनोऽनेकोपाधिकृतः संज्ञाभेद इत्ययुक्तं प्रतीयमानप्रातिस्विककार्यभेदेनाऽऽत्मभेदस्य प्रामाणिकत्वादिति प्रासङ्गिकं चोद्यं परिहर्तुमात्मानात्मतत्त्वं निरूपयति—

अथ यत्र द्वैतीभूतं विज्ञानं तत्र हि शृणोति पश्यति जिघ्रति रसयति चैव स्पर्शयति ।

अथैवं सत्यात्मभेदशङ्का न कार्येति शेषः। यत्र द्वैतीभूतं भेदमापन्नं विज्ञानं चित्प्रकाशस्तत्र हि तस्यामवस्थायां जाग्रदादौ शृणोति पश्यतीत्यादिव्यपदेशभागात्मा भवति न स्वभावत इत्यर्थः।

कथमेतदवगम्यत इति तत्राऽऽह—

सर्वमात्मा जानीतेति

सर्वं सर्वेन्द्रियद्वारं व्यवहारजातमात्मैक एव जानीते स्वात्मैकनिष्ठत्वेन प्रत्यभिजानाति। इति हेतोर्न परमार्थो भेद इत्यर्थः। तथा च श्रुत्यन्तरम्—'आत्मेत्येवोपासीतात्र ह्येते सर्व एकं भवन्ति' इत्युपाध्युपरागपरित्यागेन सर्वोपाध्युपलक्षितमेकमात्मानं निरुपपदेनाऽऽत्मशब्देन निर्दिशति। लोके च यश्चक्षुषा रूपमद्राक्षं सोऽहमिदानीं रसनेन रसमनुभवामीति प्रत्यभिज्ञानुभवः प्रसिद्धोऽतो नाऽऽत्मभेदशङ्केति भावः।

उपाध्यन्वये भेददर्शनं व्यपदेशभेदं चोपपाद्य तद्व्यतिरेके तद्व्यतिरेकमुपपादयति—

यत्राद्वैतीभूतं विज्ञानं कार्यकारणकर्मनिर्मुक्तं
निर्वचनमनौपम्यं निरुपाख्यं किं तदवाच्यम् ।।७।।

यत्र यस्यामवस्थायां सुषुप्त्यादौ सर्वोपाध्युपरमादद्वैतीभूतं विज्ञानं तत्रेत्यध्याहारस्तदा कार्यकारणकर्मभिर्विषयकरणक्रियाभिरवच्छेदकैर्निर्मुक्त-मसंस्पृष्टमत एव निर्वचनं विशेषसंज्ञावचनशून्यमनुपममेवानौपम्यमुपमा-रहितं स्वतो निर्विशेषमित्यर्थः। अत एव निरुपाख्यमप्रमेयमिदं तदित्युल्लेखायोग्यमित्यर्थः। किमेवं निषेधमुखेनोच्यत इदं तदिति कस्मान्नोच्यत इति शङ्कते—**किं तदिति**। अशक्यं तथा वक्तुमित्युत्तर-माह—**अवाच्यमिति**। सर्ववाग्व्यापारोपरमे यदवशिष्यते सर्वोपरमसाक्षि-त्वेन तदद्वैतं विज्ञानं स्वाभाविकमात्मरूपमिति भावः। तथा च बृहदारण्यके—'यत्र हि द्वैतमिव भवति तदितर इतरं पश्यति' इत्यादिना द्वैतदर्शनस्याऽऽभासतामुक्त्वा 'यत्र त्वस्य सर्वमात्मैवाभूत्तत्केन कं पश्येत्' इत्यादिनाऽद्वैतमात्मतत्त्वमुपपादयति श्रुतिः। तस्मादनामरूपक्रियस्याऽत्मनो

नामरूपक्रिया अविद्याकल्पितप्रपञ्चोपाधिनिबन्धना एवेति परमार्थ इति ।।७।।

[अब] 'तत्सवितुर्वरेण्यम् ' [इस अंश से प्रारम्भ होनेवाले मन्त्र की व्याख्या की जा रही है। मन्त्रोक्त] सविता देव यह आदित्य ही है। ब्रह्मवादियों का कथन है कि जो आत्मा की कामना करता है, उसे उसका वरण प्रकृष्ट रूप से करना चाहिए। [अब] 'धियो यो नः प्रचोदयात्' [इस अंश की व्याख्या की जा रही है] 'धी' का अर्थ है बुद्धियाँ । ब्रह्मवादियों का कथन है कि वे [हमको] प्रेरित करें। अब 'भर्गो देवस्य धीमहि' [इस अंश की व्याख्या की जा रही है-] सविता ही देव है। ब्रह्मवादियों ने कहा है [कि] इसलिए जो इसका भर्गनामक भजनीय स्वरूप है, मैं उसका चिन्तन कर रहा हूँ। अब 'भर्ग' [का अभिप्राय स्पष्ट किया जा रहा है-]—'भर्ग' उसे कहते हैं, जो इस आदित्य में निहित है [तथा] आँख में तारक अर्थात् पुतली [की तरह] है। 'भर्ग' शब्द की व्युत्पत्ति है— 'भाभिः गतिः अस्य'— अर्थात् प्रकाश के माध्यम से जिसकी गतिविधियाँ होती हैं। ब्रह्मवादियों का कथन है कि रुद्र का नाम भी भर्ग है, क्योंकि वे भर्जन करते हैं अर्थात् भूनते हैं। [अब 'भर्ग' गत पदांशों की व्याख्या पृथक्-पृथक् की जा रही है-] 'भ' वह [तत्त्व है] जो इन लोकों को प्रकाशित करता है। 'र' वह [तत्त्व] है, जो इन लोकों को रंग देता है। 'ग' [से तात्पर्य है कि] प्रजाएँ इसमें जाती हैं और इससे [बाहर] आती हैं। 'भर्ग' पद इन्हीं 'भ' 'र' और 'ग' इन अंशों से मिलकर बना है। सदैव उत्पादक होने से सूर्य [सूर्य कहलाता] है। प्रेरित करने के कारण वह सविता है। [पृथ्वी से रस-] ग्रहण करने के कारण वह आदित्य [कहलाता] है। उड़ाने के कारण पवन कहलाता है। 'आप' [जल] का नामकरण सबको आप्यायित अर्थात् तृप्त करने के कारण हुआ है। इसी प्रकार से कहा गया है। अमृतसंज्ञक प्राणरूप आत्मा का नेता आत्मा ही है। वही शरीर में प्रविष्ट सर्वव्यापक तत्त्व चेता [चित्तवृत्ति से सम्बद्ध होने पर] चेता, [मन से उपहित होने पर] मनन करनेवाला, गमन करनेराला, आनन्द प्रदान करनेवाला, मल-मूत्रादि अपद्रव्यों को शरीर से] बाहर निकालने वाला आनन्द प्रदान करने वाला, कर्ता, वक्ता, रसास्वादन करानेवाला, सूँघनेवाला, द्रष्टा, श्रोता, स्पर्श करनेवाला है। इसी प्रकार से बतलाया गया है। और जहाँ द्वैतपरक विज्ञान है, वहाँ [वह] सुनता है, देखता है, सूँघता है रसास्वादन करता है और स्पर्श करता है। सबको आत्मा ही समझना चाहिए। जहाँ अद्वैतभाव का विज्ञान है, वहाँ वह कार्य, कारण और कर्म से पूरी तरह मुक्त है, उसकी व्याख्या

नहीं की जा सकती, उसकी कोई उपमा नहीं दी जा सकती है और न ही उसे कोई नाम ही दिया जा सकता है। [फिर प्रश्न उठता है कि] वह क्या है? [इसका उत्तर यही हो सकता है कि वह अवाच्य है अर्थात् उसका कथन शब्दों से नहीं किया जा सकता है[१] ।।७।।

यद्यप्येवं शारीरस्याऽऽत्मनो न भेदः पारमार्थिकस्तथाऽप्याधिदैवादादित्यात्मन ईश्वरादयं भिन्न इति शङ्का वारयन्नस्यैव ब्रह्मादयोऽपि विभूतय इत्येतमेव मही करोति—

एष हि खल्वात्मेशानः[२] शम्भुर्भवो रुद्रः प्रजापतिर्विश्वसृग्घिरण्यगर्भः सत्यं प्राणो हंसः शास्ता विष्णुर्नारा-यणोऽर्कः सविता धाता[३] विधाता सम्राडिन्द्र इन्दुरिति।

---

१. उपर्युक्त अनुच्छेद में भर्ग, सूर्य, आदित्य, पवन और आप शब्दों की निर्वचनमूलक व्याख्याएँ की गई हैं। शब्द के मूल अर्थ तक पहुँचने के लिए यह पद्धति अत्यन्त प्राचीन है, जिसका प्रारम्भ मन्त्र-संहिताओं में ही हो जाता है। ब्राह्मणों और उपनिषदों में इसका पुष्कल पल्लवन दिखाई देता है। वेदाङ्ग-युग में निरुक्त की प्रतिष्ठा एक स्वतन्त्र शास्त्र के रूप में दिखलाई देती है। महर्षि यास्क इस शास्त्र के सर्वश्रेष्ठ और सर्वमान्य मनीषी हैं। उपर्युक्त सूर्यादि शब्दों की कुछ व्युत्पत्तियाँ ब्राह्मण ग्रन्थों में दिखाई देती हैं। जिनका यहाँ उल्लेख तुलनात्मक दृष्टि को प्रशस्त करने के लिए आवश्यक प्रतीत होता है।

२. वैदिक काल से आगे चलकर हिन्दू देव-मण्डल में, जिन विभिन्न देवों का स्वतन्त्ररूप से शैव, वैष्णव, सौर, ब्राह्म, प्राजापत्य इत्यादि सम्प्रदायों के सन्दर्भ में विकास हुआ, उन सबकी यहाँ एकत्र अवस्थिति है। शिव के चार मुख्य नाम यहाँ हैं—ईशान, भव, शम्भु, और रुद्र। इसी प्रकार ब्रह्मा और विष्णु के भी क्रमशः प्रजापति, विश्वसृक्, हिरण्यगर्भ तथा विष्णु, नारायण, शास्ता इत्यादि कई-कई नाम हैं। टीकाकार रामतीर्थ ने इन सभी को श्रुति, स्मृति और पुराणोक्त बतलाया है। उनके अनुसार शिव, ब्रह्मा, विष्णु—ये तीनों प्रमुख देवता आत्मा की क्रमशः तमःप्रधानमायोपाधि, रजः- प्रधानमायोपाधि तथा शुद्धसत्वप्रधानमायोपाधि के उपलक्षक हैं।

३. धाता का अभिप्राय है पृथिव्यादि समस्त तत्त्वों को धारण करनेवाला तथा विधाता से तात्पर्य है पुत्रादि का निर्माता। हिरण्मय अण्ड तेजोमय ब्रह्माण्ड का उपलक्षक है। 'सर्वभूतेभयं दत्त्वा' का तात्पर्य रामतीर्थ के अनुसार संन्यास-ग्रहण है।

य ईशानादिभिः शब्दैर्व्यपदिश्यते श्रुतिस्मृतिपुराणेषु स एष हि खलु यः पूर्वानुवाकान्ते निर्दिष्ट एष नान्य इत्यर्थः। तत्र रुद्रान्तस्तमःप्रधानमायोपाधिकः। हंसान्तो रजःप्रधानमायोपाधिकः। शास्ता विष्णुर्नारायण इति शुद्धसत्त्वप्रधानमायोपाधिकः। जगत्संहारसृष्टिस्थिति-हेतुतयाऽभिव्यक्तविशेषास्तत्तत्संज्ञाभाजो ये जायन्ते ते सर्वेऽप्यय-मात्मेत्यभिप्रायः। अयमेवार्कोऽर्च्यः पूज्यः सर्वकर्मतत्फलाश्रयत्वात्। तथा च श्रुतिः—'एष वा अश्वमेधो य एष तपति तस्य संवत्सर आत्माऽयमग्निरर्कः' (बृहदा० अ० ३) इति। सवितृशब्दो व्याख्यातः। अयमेवाऽऽत्मा पृथिव्यादिरूपेण धाता सर्वस्य धारयिता। विधाता पित्रादिरूपेण पुत्रादीनां निर्माता। सम्राट्सार्वभौमो राजा। इन्द्रः स्वराट्स्वर्गाधिपतिः। इन्दुश्चन्द्रमाः प्रसिद्धः। एते सर्वेऽप्येष एवाऽऽत्मेति।

किं च न केवलमेतावत्—

य एष तपत्यग्निरिवाग्निना पिहितः सहस्राक्षेण हिरण्मयेनाण्डेन।

यस्तपति जगदभितपति सविता सोऽप्येष एवेति योजना। कथं तर्हि स आत्मरूपेण न विभाव्यत इत्यत आह—**अग्निरिवेति**। यथा महता ज्वालाजटिलेनाग्निनाऽग्निर्दीपो मन्दः पिहित आच्छन्नो भवत्येवं सहस्राक्षेणानेकच्छिद्रवता हिरण्मयेन तेजोमयेनाण्डेन मण्डलात्मकेन ब्रह्माण्डेन वा पिहित आच्छादितोऽतो नाऽऽत्मरूपेण दृश्यत इत्यर्थः। तथा च मन्त्रवर्णः—'हिरण्मयेन पात्रेण सत्यस्यापिहितं मुखम्' इति।

यस्मादयमात्मैकोऽप्येकरूपोऽप्युपाधिभिरनेकोऽनेकरूप इव च विभाव्यमान उपाध्यावृतनिजस्वरूपस्तस्मान्मुमुक्षुभिरावरणनिराकरणेन तद्दर्शने यत्न आस्थेय इत्युपदिशति—

एष वाव जिज्ञासितव्योऽन्वेष्टव्यः सर्वभूतेभ्योऽभयं दत्त्वाऽरण्यं गत्वाऽथ बहिः कृत्वेन्द्रियार्थान् स्वाच्छरीरादु[1]पलभेतैनमिति।

---

१. सन्धि—'स्वाच्छरीरात्' में एक विशेष प्रकार की सन्धि दिखलाई दे रही है—'स्वात्+शरीरात्'—यहाँ आगे आनेवाले तालव्य शकार के प्रभाव से तवर्ण

एष एवाध्यात्माधिदैवरूपेण विभाव्यमान आत्मा किंस्वरूप इति जिज्ञासितव्यो ज्ञातुमेष्टव्यः, तत्तत्त्वज्ञानं सम्पादयितुं गुरूपसत्तिः कार्येत्यर्थः। विज्ञानसम्पादनप्रकारमाह—अन्वेष्टव्यो गुरूपदिष्टवाक्यमर्यादा-माश्रित्यान्वेषणेन मननेनावधारणीय इत्यर्थः। तत्र 'वेदान्तविज्ञान-सुनिश्चितार्थाः संन्यासयोगाद्यतयः शुद्धसत्त्वाः' इति श्रुतिमाश्रित्य संन्यासमात्मज्ञानाङ्गमुपदिशति—**सर्वभूतेभ्य इति।** सर्वभूताभयदानं संन्यासः स च कर्मपरित्यागलक्षणस्तं कृत्वेत्यर्थः। संन्यस्य गुरुभ्यः सब्रह्मचारिभ्यश्च श्रवणमनने सम्पाद्यानन्तरमरण्यं विजनं देशं मनःप्रसादकरं गत्वाऽथ तदेन्द्रियार्थान् बाह्यान् दूरतः कृत्वाऽन्तःशरीर एवाऽऽत्मान-मन्विष्य निदिध्यासनं कुर्वन् स्वाच्छरीरात्स्थूलसूक्ष्मलक्षणादेनमात्मानमुप-लभेत साक्षात्कारवान् भवेदित्यर्थः। इतिशब्दः प्रासङ्गिकोपदेशसमाप्त्यर्थः।

इदानीं प्रकृते प्राणादित्ययोरेकत्वे प्रश्नोपनिषद्गतं मन्त्रमुदाहरति—

विश्वरूपं[1] हरिणं जातवेदसं परायणं ज्योतिरेकं तपन्तम्। सहस्र-रश्मिः शतधा वर्तमानः प्राणः प्रजानामुदयत्येष सूर्यः ।।८।।

पूर्वार्धे द्वितीयान्तानि पदानि प्रथमान्तत्वेन विपरिणेयान्युदयतीति क्रियायोगार्थम् । विश्वानि नीलपीतादीनि रूपाणि यस्य स विश्वरूप 'असौ वा आदित्यः पिङ्गल एष शुक्ल एष नील एष पीत एष लोहितः' इति श्रुतेः। हरति सर्वेषां प्राणिनामायूंषि भौमान् वा रसानिति हरिणः। जातं जातं वेत्ति सर्वप्रवृत्तिसाक्षितयेति वा जाते जाते विद्यते सर्वदेहगतोष्मरूपेण

नासिक्य स्वरूप प्राप्त करके, छकार में परिणत हुए शकार के अनुरूप 'ञ्' वर्ण में परिणत हो गया है। पाणिनीय व्याकरण में यह परिवर्तन तभी हो सकता था, जब 'त्' के स्थान पर कोई पञ्चमवर्ण होता। इस प्रकार पाणिनीय प्रक्रिया से सामान्यतः ऐसी सन्धि नहीं होती। मैत्रायणी संहिता में इस प्रकार की सन्धि के कुछ अन्य उदाहरण भी मिलते हैं—निर्वपेत् + श्यामाकम् = निर्वपेञ्श्यामाकम् (२.१.१४) तथा निर्वपेत् +श्रीकामः = निर्वपेञ्श्रीकामः।

१. 'विश्वरूपम्'—इत्यादि मन्त्रगत द्वितीयान्त पदों को प्रथमा विभक्ति में, रामतीर्थ के अनुसार परिणत कर लेना चाहिए। लेकिन हिन्दी अनुवाद में मैंने ऐसा न करके द्वितीया के अनुरूप ही उनकी व्याख्या का प्रयत्न किया है।

सर्वचक्षुरधिष्ठातृत्वेनेति वा जातवेदाः। परमयनं परायणं सर्वभासामाश्रय इति यावत्। ज्योतिरेकं ज्योतिरात्मनैक इत्यर्थः। यद्वा ज्योतिः प्रकाशस्वभाव एकोऽद्वितीयः 'सूर्य एकाकी चरति' इति श्रुतेः। तपति सर्वं सन्तापयति शोषयतीति तपन्। सहस्त्ररश्मिरपरिमितकिरणः। शतधाऽनेकधा प्रति प्राणिनां प्रतिमां प्रतीत्यभिमुखतया वर्तमान एष संदृश्यमानमण्डलस्थः सूर्यः सविता प्रजानां प्राणोऽन्तरात्मोदयत्युद्गच्छत्युदयाचलादिति मन्त्रपदानामर्थः। तथा च मन्त्रवर्णः ''सूर्य आत्मा जगतस्तस्थुषश्च'' इति ।।८।।

यह आत्मा ही ईशान[1], शम्भु, भव, रुद्र, प्रजापति, विश्वसृक्, हिरण्यगर्भ, सत्य, प्राण, हंस, शास्ता, विष्णु, नारायण, अर्क, सविता, वायु, [वाता], विधाता, सम्राट्, इन्द्र [और] चन्द्रमा इत्यादि नामों से जाना जाता है। यह अग्नि के समान तपता है, [यह] अग्नि से आवृत है, हजार नेत्रोंवाले स्वर्णिम [हिरण्मय] अण्ड [से युक्त] है। इस आत्मा को ही जानने की इच्छा करनी चाहिए, इसी की खोज करनी चाहिए। समस्त प्राणियों को भयरहित करके, वन में जाकर, इन्द्रियों से सम्बद्ध विषयों को अपने शरीर [तथा बुद्धि और मन] से बाहर निकाल करके इस आत्म [-ज्ञान] को प्राप्त करना चाहिए।

विश्व अर्थात् अनेक रूपोंवाले, हरिण [सूर्यस्वरूप], जातवेदस् [अग्नि], परायण [परमधाम], ज्योतिष्मान्, अकेले और तपते हुए [इस आत्मतत्त्व के ज्ञान के लिए साधक को सर्वात्मना प्रयत्न करना चाहिए]। यह जो हजारों किरणों से युक्त और सैकड़ों प्रकार से विद्यमान सूर्य उदित हो रहा है, वह [वास्तव में] लोगों का प्राण ही है ।।८।।

तदेवं प्राणादित्यात्मनोऽन्तर्बहिश्च विचरतः प्रजापतेः कार्यब्रह्मणोऽनेकगुणविशिष्टस्याहंग्रहेण प्रत्यगात्मतयोपासनं प्रणवव्याहृतिसावित्र्यनुबन्धमुपदिश्य तन्निष्ठस्योपासकस्योपस्थितान्नभोजने कर्तव्यविशेषमुपदिशति—

तस्माद्वा एष उभयात्मैवंविदात्मन्नेवाभिध्यायत्यात्मन्नेव यजतीति ध्यानं प्रयोगस्थं मनो विद्वद्भिः ष्टुतं मनःपूतिमुच्छिष्टोपहतमित्यनेन तत्पावयेत् ।

एष पूर्वोक्तः प्रत्यगात्मा यस्मादुभयात्मा प्राणादित्यरूपस्तस्माद्वै तस्मादेवैवंवित्पूर्वोक्तप्रकारेण प्राणादित्यात्मविदात्मन्नेवाऽऽत्मनि स्वस्वरूपाभेदेनैवाभिध्यायत्याभिमुख्येन प्रत्यक्तया प्राणादित्यौ ध्यायतीत्यर्थः। ततो यद्यजति पूजयति तन्महिमानमाविष्करोति तदप्यात्मन्नेवेत्यर्थः। इत्येवंप्रकारेण ध्यानं विद्वद्भिः ष्टुतं स्तुतं प्रशस्तमित्यर्थः। किं तद्ध्यानं प्रयोगस्थमुपासनाप्रयोगे स्थितं व्यापृतं मनस्तैलधाराघण्टानादादिवदविच्छेदेन दीर्घकालादरन्तर्यमुपास्ये तत्त्वे निविष्टं मनोरूपं ध्यानमित्यर्थः। एवं ध्यायतः पुंसो यो मनःपूतिर्मनसो दुर्गन्धो दुर्वासनेत्येतत्। तं मनःपूतिमुच्छिष्टोपहतमित्यनेन वक्ष्यमाणेन मन्त्रेण तत्तस्मिन् काले पावयेत्पवित्रयेत्। एतन्मन्त्राभिमन्त्रितान्नप्राशनेन प्राणाग्निहोत्रविधिना च शोधयेदित्यर्थः।

मन्त्रं पठति—उच्छिष्टोच्छिष्टोपहतं यच्च पापेन दत्तं मृतसूतकाद्वा वसोः[१] पवित्रमग्निः सवितुश्च रश्मयः पुनन्त्वन्नं मम दुष्कृतं च यदन्यत्।।

अन्योच्छिष्टं स्वोच्छिष्टं चोच्छिष्टोच्छिष्टमुच्यते तेनोपहतं यद्वोच्छिष्टं चोच्छिष्टोपहतं चेत्युच्छिष्टोच्छिष्टोपहतमन्नं भोज्यम्। पापेन पापात्मना पतितेन दत्तं यच्चान्नं मृतसूतकाद्वोपहतं मृतसूतकिस्पृष्टं तत्स्वामिकं वा यदन्नमित्यर्थः। वसोर्वसुनाम्नो देवस्य पवित्रं पावयितृ। अग्निर्वैश्वानरः सवितुश्च रश्मयो मम मद्भोज्यं तदन्नं पुनन्तु पवित्रयन्तु यदन्यच्च मम दुष्कृतं पापाचरणं तच्च पुनन्त्वित्यर्थः।

अनेन मन्त्रेण स्वभोज्यमन्नमभिमन्त्र्य पश्चात्—

अद्भिः पुरस्तात्परिदधाति।

पुरस्तात्प्राणाहुत्यारम्भात्पूर्वं याः स्मृतिप्राप्ता आपोशनाङ्गभूता आपस्ताभिः परिदधाति प्राणादित्यरूपस्य स्वात्मनः परिधानं वस्त्राच्छादनमिदं क्रियत इति ताश्चिन्तयेदित्यर्थः।

---

१. वसु को शतपथ ब्राह्मण में यज्ञ बतलाया गया है—'यज्ञो वै वसुः, तस्मादाह वसोः पवित्रमसीति' ड शत० ब्रा० १.७.१.९।

अनन्तरकर्तव्यं प्राणाग्निहोत्रं मन्त्रविनियोगेन विधत्ते—

प्राणाय स्वाहाऽपानाय स्वाहा व्यानाय स्वाहा समानाय स्वाहोदानाय स्वाहेति पञ्चभिरभिजुहोति।

प्राणाय स्वाहेत्यादिभिः पञ्चभिर्मन्त्रैर्यथापाठक्रमं भोज्यान्नरूपं सिद्धं द्रव्यमादायाऽऽभिमुख्येनाऽऽस्याग्नौ जुहोति जुहुयादित्यर्थः।

अथावशिष्टं यतवागश्नात्यतोऽद्भिर्भूय एवोपरिष्टात्परिदधात्याचान्तो भूत्वाऽऽत्मेज्यानः प्राणोऽग्निर्विश्वोऽसीति च द्वाभ्यामात्मानमभिध्यायेत् ।

अथ पञ्चप्राणाहुत्यनन्तरमवशिष्टं तृप्तिपर्यन्तमन्नं यतवाङ्मौनी सन्नश्नाति। यदवशिष्टमश्नाति तन्मौनी सन्निति मौनमत्र विधीयते नाशनं तस्य निमित्तान्तरत एव प्राप्तत्वादित्यर्थः। अतोऽवशिष्टसर्वान्नभोजनानन्तरमद्भिरुत्तरापोशनाङ्गभूताभिर्भूय एव पुनरपि पुर्ववदुपरिष्टादुपरिभागे परिदधाति तास्वप्सूपरि परिधानदृष्टिं कुर्यादित्यर्थः। तथा च श्रुत्यन्तरम्— "तस्माद्वा एतदशिष्यन्तः पुरस्ताच्चोपरिष्टाच्चाद्भिः परिदधति" (छान्दो० अ० ५) इति। पश्चादुत्थायाऽऽचान्तो भूत्वा करमुखपादशुद्धिं विधाय विधिवदाचम्य शुद्धो भूत्वाऽऽत्मेज्यान आत्मानमीशान आत्मयजनं कुर्वन्नुपासक इति यावत्। प्राणोऽग्निरित्यादिवक्ष्यमाणाभ्यां मन्त्राभ्यामात्मानमभिध्यायेत्।

मन्त्रद्वयं पठति—

प्राणोऽग्निः परमात्मा वै पञ्चवायुः समाश्रितः।
स प्रीतः प्रीणातु विश्वं विश्वभुक् ।

पञ्चवायुः प्राणापानादिपञ्चवायुरूपः प्राणः प्रणेता शरीरेन्द्रियव्यापारयिता यः स परमात्मा वै परमात्मैवाग्निरन्नस्यात्ता जाठरो देहं समाश्रित इति पूर्वार्धयोजना। यद्वा परमात्मैव देहं समाश्रितः सन् पञ्चवायुः प्राणोऽग्निश्च नान्य इति योजना।

"अहं वैश्वानरो भूत्वा प्राणिनां देहमाश्रितः ।
प्राणापानसमायुक्तः पचाम्यन्नं चतुर्विधम्"।।

इति भगवत्स्मरणात्। स परमात्माऽत्ता प्रीतस्तृप्तः सन् विश्वं भोक्तृवर्गं प्रीणातु प्रीणयतु यतः स विश्वभुग्विश्वं भुनक्ति पालयतीति विश्वभुगिति प्रथममन्त्रार्थः।

विश्वोऽसि [१]वैश्वानरोऽसि विश्वं त्वया धार्यते जायमानम् ।
विशन्तु त्वामाहुतयश्च सर्वाः प्रजास्तत्र यत्र विश्वामृतोऽसि ।। इति।

हे प्राणाग्न्यात्मंस्त्वं विश्वोऽसि सर्वोऽसि वैश्वानरो विश्वनर-नयनादीश्वरस्त्वमसीत्यर्थः। कुतो विश्वात्मत्वं विश्वनियन्तृत्वं चेत्यत आह—विश्वं जायमानं त्वया धार्यते त्वमेव स्वात्मनो विश्वमुत्पाद्य पालयसीत्यर्थः। सर्वा आहुतय आ समन्ताद्धूयन्त इत्याहुतयो हवींषि सर्वाणि त्वां विशन्तु त्वय्याहिता भवन्तु। किञ्च तत्र सर्वाः प्रजा यत्र त्वं विश्वामृतोऽसि विश्वममृतयसि जीवयसीति विश्वामृतस्त्वं यत्र तत्रैव सर्वाः प्रजास्त्वज्जीवना इत्यर्थः। इतिशब्दो मन्त्रसमाप्तिद्योतनार्थः।

इदानीमेवंविधं विद्वद्भोजनं फलवचनेन प्रशंसति—

एवं न विधिना खल्वनेनात्ताऽन्नत्वं पुनरुपैति ।।९।।

एवमुक्तप्रकारेणानेन विधिनाऽत्ता विद्वानपुनरन्नत्वं न खलूपैतीत्यन्वयः। स्वयं सर्वस्यात्ता भवति नान्येनाद्यत इत्यर्थः।।९।।

इस प्रकार यह आत्मा ही [आत्मा और परमात्मा के क्रम से] उभयात्मक है। ऐसे ज्ञान से युक्त [साधक] आत्मा में ही ध्यान करता है, आत्मा में ही यज्ञानुष्ठान करता है—

यही ध्यान है। [इस प्रकार के] प्रकृष्टयोग में स्थित मन की तत्त्व- ज्ञाताओं ने प्रशंसा की है। मन की शुद्धि [चूँकि] उच्छिष्ट से प्रभावित हो जाती है, इस

---

१. वैश्वानर अग्नि के रूप में स्वयं ही अन्न को पचाने की बात भगवान् ने स्वयं ही कही है—

अहं वैश्वानरो भूत्वा प्राणिनां देहमाश्रितः ।
प्राणापानसमायुक्तः पचाम्यन्नं चतुर्विधम् ।।

कारण उसे पवित्र करना चाहिए। [साधक] मन्त्र पढ़ता है [अथवा पढ़े—मेरा जो मन] उच्छिष्ट हो गया है, अथवा उच्छिष्ट वस्तु के प्रभाव से प्रभावित हो गया है, पापग्रस्त हो गया है, अथवा जन्म-मरणजन्य आशौच से अशुद्ध है, उसे वसुधारा अग्नि, सवितृदेव और उनकी किरणें पवित्र करें। मैंने जो अशुद्ध अन्न खाया हो, अन्य जो दुष्कर्म किया हो, उस सब [दोष का निराकरण कर देवगण मुझे पवित्र करें]। जल से पहले ही शुद्ध किये गये अधोवस्त्रों को पहने। निम्नलिखित पाँच मन्त्र पढ़कर [प्राण, अपान, व्यान, समान और उदान-इन पाँच के लिए] होम करे—प्राणाय स्वाहा, अपानाय स्वाहा, व्यानाय स्वाहा, समानाय स्वाहा, उदानाय स्वाहा। वाणी को नियन्त्रित करके अर्थात् मौन व्रत का पालन करते हुए होमावशिष्ट खाद्यप्रदार्थों को खाये। इसके बाद धुले हुए ऊपर के वस्त्र पहने। आचमन करके दो मन्त्रों—'आत्मेज्यानः प्राणः' (प्राण आत्मा में यज्ञानुष्ठानरत हैं) तथा 'अग्निर्विश्वोऽसि'(-अग्नि सब कुछ है, वह तुम हो) से आत्मा का ध्यान करे[1]।

[जो] प्राण है, अग्नि है, परमात्मा है, पञ्चवायु [से युक्त] है, सब में आश्रित है, विश्व का भोक्ता है, वह प्रसन्न होकर सबको प्रसन्न करे।

तुम विश्व हो, वैश्वानर हो, यह उत्पन्न होता हुआ विश्व तुम्हारे द्वारा ही धारण किया जाता है। समस्त आहुतियाँ तुममें वहाँ प्रवेश करें, जहाँ समस्त प्रजा है। विश्व के अमृततत्त्व तुम्हीं हो!

इस प्रकार की विधि से अन्नग्रहण करनेवाला [साधक] पुनः अन्नत्व को प्राप्त नहीं होता, अर्थात् वह स्वयं [किसी का] भक्ष्य नहीं बनता।

पुनरस्यैव विदुषश्चिन्तनीयान्तरं विशेषमाख्यातुमारभते—

अथापरं वेदितव्यमुत्तरो विकारोऽस्याऽऽत्मयज्ञस्य यथाऽन्नमन्नादश्चेत्यस्योपव्याख्यानम् ।

---

१. मैत्रायणी उपनिषत् के उपर्युक्त अनुच्छेद में एक विशेष प्रकार के आत्मयज्ञ का निरूपण है। यज्ञविज्ञान के विकास के सन्दर्भ में इस विवरण का विशेष महत्व है। ऐतिहासिक सन्दर्भ में, यद्यपि इसे आत्मयज्ञ का प्रथम उल्लेख नहीं माना जा सकता; क्योंकि शतपथ ब्राह्मण में भी देवयाजी और आत्मयाजी में से आत्मयाजी को विशेष श्रेयोभाजन बतलाया गया है—'आत्मयाजी श्रेया उन देवयाजी ३ इति। आत्मयाजीति ह ब्रूयात् ड शत० ब्रा० १२.२.६.१३।

अथेत्यर्थान्तरोपक्रमार्थः। अपरं पूर्वोक्तात्कर्ममन्त्ररूपादन्यद्वेदितव्यं चिन्तयितव्यमस्तीत्यर्थः। किं तदित्युच्यते। अस्याऽऽत्मयज्ञस्याऽऽत्मय-जनरूपस्य भोजनस्य सम्बन्ध्युत्तरो विकारो विकरणं श्रेष्ठं विभजनम्। कोऽसौ यथाऽन्नमन्नादनीयमत्ता चेति। विभजनं कथमित्यत आह— **तस्योपव्याख्यानमिति।** तस्योत्तरविकारस्य स्पष्टव्याख्यानं क्रियत इति शेषः। वक्ष्यमाणविभागेनान्नमन्नादं चाऽऽत्मानं चिन्तयेदिति तात्पर्यार्थः।

तत्र किमन्नं किमन्नादमित्येतत्तावत्स्वरूपतो निदिशति—

पुरुषश्चेता प्रधानान्तःस्थः स एव भोक्ता प्राकृतमन्नं भुङ्क्त इति।

प्रकृतिर्जगद्बीजमव्याकृतादिशब्दवाच्यं तस्यान्तर्मध्ये तत्सत्ताप्रदत्वेन स्थितो यश्चेता चेतनः पुरुषः स एव भोक्ता प्राकृतं प्रकृतिकार्यमन्नं भुङ्क्त इत्यर्थात्प्रकृतितद्विकारावन्नमित्यन्नान्नादस्वरूपमुक्तमित्यर्थः।

अर्थादुक्तमन्नस्वरूपं विभजते—

तस्यायं भूतात्मा ह्यन्नमस्य कर्ता प्रधानः।

तस्य पूर्वोक्तस्य भोक्तुरयं भूतात्मा साभासः कार्यकारणसङ्घातरूपोऽन्नं भोज्यं हि प्रसिद्धमस्य भूतात्मनः कर्ता प्रधानः पूर्वोक्तः सोऽपि भोज्य इत्यर्थः।

उक्तार्थसारमुपसंहारव्याजेनाऽऽह—

तस्मात्त्रिगुणं भोज्यं भोक्ता पुरुषोऽन्तःस्थः।

त्रिगुणं प्रधानतत्कार्यरूपं भोज्यं भोक्ता पुरुषः प्रधानान्तःस्थः सर्वत्रेत्यर्थः।

उक्तव्यवस्थायां प्रमाणमाह—

अत्र दृष्टं नाम प्रत्ययम्।

दृष्टं दर्शनं प्रत्यक्षं नाम प्रसिद्धं प्रत्ययं प्रमाणमत्र विद्यत इति शेषः।

उक्तमर्थमुदाहरणेन बुद्धिमारोहयति—

यस्माद्बीजसम्भवा हि पशवस्तस्माद्बीजं भोज्यमनेनैव प्रधानस्य भोज्यत्वं व्याख्यातम् ।

पशवो हि गवाश्वमहिषपुरुषादयः कुटुम्बिकस्य भोज्यत्वेन प्रसिद्धा यस्माद्बीजसम्भवाः स्वबीजभूतान्नरसपरिणामादिसम्भवास्तस्माद्बीजं भोज्योपादानत्वाद्भोज्यं प्रसिद्धमित्यर्थः। बीजस्य भोज्यत्वप्रदर्शन-फलमाह—**अनेनेति**। कार्येषु भोज्यत्वस्य सिद्धत्वात्कारणस्यापि तत्सिद्धं कार्यकारणयोरभेदादित्यर्थः।

प्रमाणेनोपपादितमर्थमुपसंहरति—

तस्माद्भोक्ता पुरुषो भोज्या प्रकृतिस्तत्स्थो भुङ्क्त इति।

व्याख्यातार्थोऽयं ग्रन्थः। एवं प्रकृतेर्भोज्यत्वं प्रसाध्य तत्कार्यस्य भोज्यत्वं प्रपञ्चयति—

प्राकृतमन्नं त्रिगुणभेदपरिणामत्वान्महदाद्यं विशेषान्तं लिङ्गम्[१] ।

यत्प्राकृतं प्रकृतिप्रभवं कार्यरूपमन्नं तत्त्रिगुणभेदपरिणामत्वात्सत्त्वादि-गुणविशेषपरिणामत्वान्महदाद्यं महान्प्रकृतेराद्यो विकारो ज्ञानक्रियाशक्ति-सम्मूर्छितः स आद्यो यस्य तन्महदाद्यम्। विशेषा विकारशब्दवाच्याः पृथिव्यादिमहाभूतलक्षणा अस्मदादिप्रत्यक्षयोग्या अन्तो यस्य तद्वि-शेषान्तम् । तत्कीदृशं लिङ्गं लिङ्ग्यते ज्ञायते चेतनसद्भावोऽनेनेति व्युत्पत्तेरचेतनं भोज्यमित्यर्थः। विषयाणां विशेषाविशेषरूपो विभागः सांख्यैरुक्तः—

---

१. 'महदाद्यं विशेषान्तं लिङ्गम्' वाक्य में उन्हीं तत्त्वों का उल्लेख है, जिन्हें पुरुष और प्रकृति के साथ सांख्यशास्त्र में निरूपित किया गया है। सांख्यकारिका में विषयों के विशेष और अविशेष विभागों का उल्लेख इस प्रकार है—

'तन्मात्राण्यविशेषास्तेभ्यो भूतानि पञ्च पञ्चभ्यः।
एते स्मृता विशेषाः शान्ता घोरा मूढाश्च'।।

"तन्मात्राण्यविशेषास्तेभ्यो भूतानि पञ्च पञ्चभ्यः।
एते स्मृता विशेषाः शान्ता घोराश्च मूढाश्च"।।इति।
(सांख्यकारिका)।

विशेषाविशेषरूपाणां विषयाणां भोज्यत्वं सामान्येनोक्तं प्रत्येकमिन्द्रियार्थेषु योजयति—

अनेनैव चतुर्दशविधस्य मार्गस्य व्याख्या कृता भवति।

बाह्येन्द्रियप्रवृत्तिमार्गो दशविधोऽन्तःकरणवृत्तेश्चातुर्विध्यात्तस्याश्चतुर्विधो मार्ग इति चतुर्दशविधो मार्गस्तस्यापि भोज्यत्वेन व्याख्या कृता भवतीत्यर्थः।

प्रतिपादितार्थं श्लोकेन सङ्गृह्णाति—

सुखदुःखमोहसंज्ञं ह्यन्नभूतमिदं जगत्। न हि
बीजस्य स्वादुपरिग्रहोऽस्तीति यावन्न प्रसूतिः।

सुखदुःखमोहकरत्वात्त्रिगुणात्मकमिदं जगत्सुखादिसंज्ञितमन्नभूतं हि प्रसिद्धमित्यर्थः। बीजस्य यत्स्वादु स्वादनं तस्य परिग्रहस्तावन्न भवति यावत्कार्याकारेण न प्रसूतिः प्रसवः। तस्मात्कार्यं त्रिगुणात्मकं भोज्यं दृष्ट्वा कारणं प्रधानमपि त्रिगुणात्मकं भोज्यमनुमेयमित्यभिप्रायः।

यदुक्तं पूर्वं प्रकृतिकार्यस्य भूतात्मनोऽन्नत्वं तस्याप्यवस्थावत्त्वात्परिणामित्वमस्तीति त्रिगुणात्मकत्वमन्नत्वं च सिद्धमित्याह—

तस्याप्येवं तिसृष्ववस्थास्वन्नत्वं भवति
कौमारं यौवनं जरा परिणामत्वात्तदन्नत्वम्।

अवस्थात्रयमेव विभजते—**कौमारमित्यादिना**। अवस्थात्रयस्य कार्यत्वं साधयति—**परिणामत्वादिति**। तदन्नत्वं तस्य भूतात्मनोऽन्नत्वं सिद्धमित्यर्थः।

कार्यद्वारोक्तं प्रधानभोज्यत्वं प्रपञ्चयति—

एवं प्रधानस्य व्यक्ततां गतस्योपलब्धि-
र्भवति तत्र बुद्ध्यादीनि स्वादुनि भवन्ति।

एवं वक्ष्यमाणेन प्रकारेण प्रधानस्य व्यक्तता गतस्य कार्यतामापन्न-स्योपलब्धिर्भवति। कथं तदाह—तत्र व्यक्तेषु प्रधानकार्येषु यत्स्वादु स्वादनमास्वादनं ग्रहणमिति यावत्तस्मिन् स्वादुनि तन्निमित्तं बुद्ध्यादीनि करणानि भवन्ति प्रवर्तन्ते, बुद्ध्यादिभिः प्रधानकार्यं गृह्यत इत्यर्थः।

बुद्ध्यादिस्वरूपं मध्ये व्यपदिशति—

अध्यवसायसङ्कल्पाभिमाना इत्यथेन्द्रियार्थान् पञ्च स्वादुनि भवन्ति।

निश्चयात्मिका बुद्धिरध्यवसायः सङ्कल्पनव्यापारवदन्तःकरणं मनः सङ्कल्पोऽहङ्कारात्मिकाऽन्तःकरणवृत्तिरभिमान इत्येते बुद्ध्यादिशब्दार्था इत्यर्थः। अथ बुद्ध्याद्युद्भवे जाग्रद्दशायामिति यावत्। इन्द्रियार्थाञ्शब्द-स्पर्शरूपरसगन्धाख्यान् विषयान् प्रति पञ्च ज्ञानेन्द्रियाणि श्रोत्रत्वक्चक्षुर्जिह्वा-घ्राणाख्यानि पूर्ववत्स्वादुनि भवन्त्युक्तान् विषयान् स्वादयितुं करणानि भवन्तीत्यर्थः।

उक्तमर्थं कर्मेन्द्रियेषु मुख्यप्राणे चातिदिशति—

एवं सर्वाणीन्द्रियकर्माणि प्राणकर्माणि।

सर्वाणि वाक्पाणिपादपायूपस्थाख्यानामिन्द्रियाणां कर्माणि प्राणस्य मुख्यस्य कर्माणि प्राणनापाननादीनि वचनादानगमविसर्गानन्दाञ्शरीर-चालनादीन् प्रति स्वादुनि भवन्तीति योजना।

प्रपञ्चितमर्थमुपसंहरति—

एवं व्यक्तमन्नमव्यक्तमन्नमस्य निर्गुणो भोक्ता भोक्तृत्वाच्चैतन्यं प्रसिद्धं तस्य।

एवमुक्तप्रकारेण व्यक्तमन्नं सिद्धं व्यक्तरूपान्नकारणत्वादव्यक्तस्य व्यक्तवदेवाव्यक्तमप्यन्नमनुमेयमित्यर्थः। अस्य व्यक्ताव्यक्तरूपस्यान्नस्य निर्गुणो भोक्ता निर्विकार आत्मा भोक्तेत्यर्थः। अन्तःकरणगतचिदा-भासाविवेकाद्भोक्तेव प्रतीयमानोऽपि न स्वभावतो भोक्ता कूटस्थ एव सदेति

भावः। तस्याऽऽत्मनो भोक्तृत्वादचेतनस्य सर्वस्य कार्यकारणात्मकस्य व्यक्ताव्यक्तवाच्यस्य सन्निधिसत्तामात्रेण स्वचैतन्याभासेन व्याप्तत्वाच्चैतन्यं चेतनत्वं प्रसिद्धं प्रकर्षेण सिद्धं ज्ञातं भवतीत्यर्थः।

इदानीमन्नान्नाद्योरुक्तयोः प्रकृतिपुरुषयोः सोमत्वमग्नित्वं च ध्यायेदिति गुणान्तरमुपदिशति—

यथाऽग्निर्वै देवानामन्नादः सोमोऽन्नमग्निनैवान्नमित्येवंवित् ।

देवानां मध्येऽग्निरन्नादोऽन्नस्यात्ता वै प्रसिद्धो यथा तथा सोमोऽन्नमदनीयं प्रसिद्ध इति योजना। तथा च श्रुत्यन्तरम्—"अथ यत्किञ्चिदमार्द्रं तद्रेतसोऽसृजत तदु सोम एतावद्वा इदं सर्वमन्नं चैवान्नादश्च सोम एवान्नमग्निरन्नादः" (बृहदा० अ० ३) इति। तथा चैवंविद्यदा यद्येनाद्यते सोऽग्निर्यदद्यते स सोम एवेत्यन्नान्नादरूपमग्नीषोमात्मकं जगदित्येवंविदग्निनैवाग्न्यात्मनैव सोमरूपमन्नमत्ति। अतोऽन्नदोषैरग्निवन्न लिप्यत इत्यभिप्रायः। अन्नमित्येवमिति पाठः प्रामादिकः। यद्ययं पाठः सत्यस्तदेत्थं योजना। अग्निरन्नादः सोमोऽन्नमिति यथा प्रसिद्धं श्रुत्यन्तरे तथैवाग्निनैव सोमरूपमन्नमद्यते न मयेत्येवंविदन्नदोषैर्न लिप्यत इति।

आधिभौतिकान्नान्नादयोरुक्तं विशेषमाध्यात्मिकयोरपि तयोर्दर्शयति—

सोमसंज्ञोऽयं भूतात्माऽग्निसंज्ञोऽप्यव्यक्तमुखा इति।

अयं भूतात्मा प्राकृतः केवलः सोमसंज्ञोऽन्नमित्यर्थः। अव्यक्तं प्रधानं मुखं भोक्तृत्वादिप्रवृत्तिद्वारं यस्य स चिदात्माऽव्यक्तमुखस्तेन व्याप्तत्वाद्भूतात्माऽप्यव्यक्तमुखः सन्नाग्निसंज्ञोऽपि भवति। तथा चायमर्थः। चिदाभासव्याप्ततया चिदात्माभेदेनाव्यक्तमुखतया बाह्यविषयभोक्तृत्वेनाग्निसंज्ञोऽप्ययं भूतात्मा चिदात्मापेक्षया सोमसंज्ञोऽन्नमेवेति प्रकृत्यनुगतश्चिदात्माऽत्ताऽग्निः प्राकृतो भूतसङ्घातोऽन्नमिति चिन्तयेदिति।

एवमुक्तविभागे प्रमाणमाह—

वचनात्पुरुषो ह्यव्यक्तमुखेन त्रिगुणं भुङ्क्ता इति।

भुङ्क्त इति वचनादित्यन्वयः।

एवमन्नान्नादविदं प्रशंसन्नस्मिन् दर्शने पुंसः प्रवृत्तिमुपनयति—

यो हैवं वेद संन्यासी योगी चाऽऽत्मयाजी चेति।

यो ह कश्चिदेवमुक्तप्रकारेणान्नान्नादविभागं वेद स इत्यध्याहार्यम्। स संन्यास्यकर्त्रात्मदर्शी न केवलं कर्मत्यागी संन्यासी किन्त्वयमेवेति विद्या स्तूयते। योगी चाष्टाङ्गयोगनिरतोऽप्ययमेव न केवलं गुहासु निविष्टः। आत्मयाज्यात्मसंस्कारार्थं यो यजते स आत्मयाजी। तथा च शातपथी श्रुतिः—"स ह वा आत्मयाजी यो वेदेदं मेऽनेनाङ्गं संस्क्रियत इदं मेऽनेनाङ्गमुपधीयते" इति। आत्मयाजी चायमेव न यज्ञमात्रनिरत इत्यर्थः।

को वा संन्यासी योगी चाऽऽत्मयाजी चेति प्रसिद्धो यदात्मनाऽयं विद्वान् स्तूयत इत्यपेक्षयां तत्स्वरूपमाह—

अथ यद्वन्न कश्चिच्छून्यागारे कामिन्यः प्रविष्टाः स्पृशतीन्द्रियार्थांस्तद्वद्योन स्पृशति प्रविष्टान् संन्यासी योगी चाऽऽत्मयाजी चेति ॥१०॥

अथेदं निदर्शनमुच्यते। शून्यागारे जनशून्यान्तर्भवने प्रविष्टाः कामिन्यः कामिनीः कामातुराः स्त्रीः कश्चिदतिधीरो न स्पृशति यद्वत्किन्तु ताः परिहरत्येव तद्वद्यो विद्वानिन्द्रियार्थान् प्रविष्टान् दैवादागत्योपस्थितान्न स्पृशत्यनुरागेण न स्वीकरोति स एव संन्यासी योगी चाऽऽत्मयाजी चेति व्याख्यातम्। इति शब्दः प्रदर्शनार्थः। विषयनिस्पृहाः संन्यास्यादि-शब्दवाच्या इत्यर्थः।

इसके बाद अन्य तत्त्वों का [विचारपूर्वक] ज्ञान प्राप्त करना चाहिए। यह आत्मयज्ञ का बाद में होने वाला विकार अर्थात् परिणाम है, जैसे अन्न और अन्न को खानेवाला। इसकी स्पष्ट व्याख्या [इस प्रकार] है—पुरुष ही चेता, प्रधान [और] अन्तःस्थ है। वही भोक्ता अर्थात् प्रकृतिजन्य अन्न को ग्रहण करने वाला है। यह भूतात्मा ही उसका अन्न है। इसका कर्ता प्रधान अर्थात् प्रकृति है, इसलिए तीन गुणों का समूह भोज्य [खाद्य] है। भोक्ता

पुरुष अन्तःस्थ है। यहाँ दृष्ट नामक प्रत्यय अर्थात् प्रत्यक्ष प्रमाण है। क्योंकि पशुगण बीज से उत्पन्न होते हैं, इसलिए बीज भोज्य है। इसी से प्रधान के बीज होने की व्याख्या हो गई। इसलिए भोक्ता पुरुष है। प्रकृति भोग्या है। प्रकृति पर स्थिति पुरुष [उसका] भोग करने वाला है। तीन गुणों के भेदों का परिणाम होने के कारण प्रकृतिजन्य अन्न महत् तत्त्व [बुद्धि] से लेकर विशेषतत्त्व तक लिङ्ग अर्थात् ज्ञापक हेतु है [ये चेतन के अस्तित्व का ज्ञान कराते हैं]। इसी से [इन्द्रियों की प्रवृत्ति के] चौदह मार्गों [दस बाह्येन्द्रियों की प्रवृत्ति के मार्गों तथा चार अन्तःकरण की प्रवृत्ति के मार्गों को मिलाकर-] की व्याख्या हो गई। [त्रिगुणात्मक होने के कारण] यह जगत् सुख, दुःख और मोहसंज्ञक है, अतः यह अन्न अर्थात् भोग्य है। बीज जब तक उत्पन्न नहीं होता, तब तक वह आस्वाद के योग्य नहीं होता। उसका भी इसी प्रकार तीन अवस्थाओं में अन्नत्व [भोग्यत्व] होता है। [वे हैं-] बाल्य, यौवन और वृद्धावस्था। वे अन्न इस प्रकार हैं, क्योंकि उनका परिणमन [परिवर्तन] होता रहता है। प्रधान अर्थात् कारणरूपा प्रकृति की उपलब्धि कार्य रूप में प्रकट होने पर [किस प्रकार] होती है। [यह आगे बतला रहे हैं—प्रकृति के अभिव्यक्त कार्यों में आस्वाद का ग्रहण करने में बुद्धि इत्यादि करण प्रवृत्त होते हैं—अर्थात् बुद्धि इत्यादि ही प्रधान के कार्यों को ग्रहण करती हैं। [इनमें से] बुद्धि अध्यवसाय अर्थात् निश्चयात्मिका है। [मन अन्तःकरण है, जो] सङ्कल्प रूप व्यापार से सम्पन्न है, [मन की ही] अहङ्कारात्मिका वृत्ति अभिमान है। ये [सङ्कल्प, अध्यवसाय और अभिमान] शब्द, स्पर्श, रूप, रस, और गन्ध संज्ञक इन्द्रियों के विषयों को [पाँच ज्ञानेन्द्रियों के माध्यम से] ग्रहण कराने में सहायक सिद्ध होते हैं। इसी प्रकार [वाक्, पाणि, पाद, पायु, और उपस्थ—इन] सभी इन्द्रियों के विषयों को तथा प्राणों के [प्राणन और अपानादि] विषयों को [ये ग्रहण] कराने में सहायक सिद्ध होते हैं। इसी प्रकार, अभिव्यक्त विषय—भोग्यता के सदृश ही अनभिव्यक्त विषयों की भोग्यता [का भी अनुमान कर लेना चाहिए]। इन [व्यक्त और अव्यक्त विषयों] का भोक्ता निर्गुण अर्थात् निर्विकार आत्मा है। भोक्ता होने के कारण उसका चैतन्य स्वरूप प्रसिद्ध [ही] है [क्योंकि अचेतन तो भोग कर नहीं सकता]। जैसे देवों के मध्य अग्नि अन्न का भक्षक [माना जाता] है। सोम अन्न [स्वरूप] है; क्योंकि जगत् अग्नीषोमात्मक है। [इसलिए साधक को यह समझना चाहिए कि] अग्नि

के द्वारा ही अन्न को ग्रहण किया जाता है, [मेरे द्वारा नहीं—इससे वह अन्नदोष से लिप्त नहीं होता]। 'सोमसंज्ञक यह भूतात्मा अग्निसंज्ञक अव्यक्तमुख है'—इस वचन के अनुसार पुरुष ही अव्यक्त अर्थात् प्रकृति के माध्यम से तीन गुणों के समूह का भोक्ता है। जो इस प्रकार से समझता है, वह संन्यासी, योगी और आत्मयज्ञ का अनुष्ठाता है और जिस प्रकार सूने अर्थात् पुरुषरहित घर में प्रविष्ट हुई कामातुर स्त्रियों का कोई स्पर्श नहीं करता, उसी प्रकार संन्यासी, योगी, और आत्मयज्ञ का अनुष्ठाता [साधक] इन्द्रियों के विषयों के विद्यमान रहने पर भी उनके स्पर्श से बचा रहता है[1] ।।१०।।

तदेवं दशभिरनुवाकैरध्यात्ममधिदैवं च प्राणादित्योपाधिद्वाराऽऽत्मोपासनं सेतिकर्तव्यताक्रममुक्तिफलमुपदिश्य तत्परिसमाप्येदानीं पूर्वप्रकृतस्यैव प्रत्यग्ब्रह्मणश्चिदात्मनोऽभ्युदयफलकमनेकविधमुपासनभेदं वक्तुं प्रकरणान्तरं प्रकरणान्तरं प्रवर्तते। तत्रान्नाधीनत्वात्सर्वप्राणिस्थितेर्ब्रह्मदृष्ट्याऽन्नोपासनं विधातुं तन्महिमानमाह—

परं वा एतदात्मनो रूपं यदन्नमन्नमयो ह्ययं प्राणः।

परमुत्कृष्टं वै प्रसिद्धमेतद्वक्ष्यमाणमात्मनः परमात्मनो रूपं मूर्तिविशेषः। किं तद्यदन्नं सर्वप्राणिजीवनं प्रसिद्धमोदनादिरूपम् । कथमस्य परत्वं हि यस्मादयं प्राणो मुख्यप्राणप्रधानोऽयं सङ्घातोऽन्नमयोऽन्नजीवन इति यावत्।

---

१. उपर्युक्त अनुच्छेद में सांख्यशास्त्र की प्रक्रिया के अनुरूप जागतिक तत्त्वों के साथ आत्मा के सम्बन्ध की विवेचना की गई है। अन्तर केवल इतना है कि सांख्य में वस्तुतः भोक्ता भी प्रकृति ही है, पुरुष नहीं है। अतः वास्तव में वहाँ बन्धन और मोक्ष प्रकृति का ही होता है। यहाँ भोक्ता तो पुरुष को माना गया है; क्योंकि अचेतन होने के कारण प्रकृति स्वयं अपने विषयों का भोग कर नहीं सकती। लेकिन भोक्ता होने पर भी चूँकि वह प्रकृति के माध्यम से भोग में प्रवृत्त होता है, इसलिए भोग के दोषों से वह बचा रहता है। भगवद्गीता में भी यही कहा गया है कि प्रकृति में स्थिर होकर ही पुरुष प्रकृति से उत्पन्न त्रिगुणात्मक पदार्थों को भोगता है और इन गुणों का सङ्ग ही जीवात्मा के अच्छी-बुरी योनियों में जन्म लेने का कारण है—

पुरुषः प्रकृतिस्थो हि भुङ्क्ते प्रकृतिजान् गुणान् ।
कारणं गुणसङ्गोऽस्य सदसद्योनिजन्मसु ।। (१३.२१)

एतदेवान्वयव्यतिरेकाभ्यामुपपादयति—

अथ न यद्यश्नात्यमन्ताऽश्रोताऽस्पष्टाऽद्रष्टाऽवक्ताऽ-घ्राताऽरसयिता भवति प्राणांश्चोत्सृजतीत्येवं ह्याह[1] ।

अथैतत्प्रपञ्च्यते, यद्ययं नाश्नाति नान्नमुपजीवति तदाऽमन्ता मननासमर्थो भवतीत्यन्वयः। एवमश्रोता भवतीत्यादि योज्यम्। न केवलं मननाद्यशक्तिमात्रमेवानश्नतः किन्तु जीवनमपि दुर्लभमित्याह— प्राणांश्चोत्सृजति परित्यजति म्रियत इत्येवं ह्याह श्रुतिः। तथा च च्छान्दोग्ये 'अन्नं वाव बलाद्भूयस्तस्माद्यद्यपि दशरात्रीर्नाश्नीयाद्यद्यु ह जीवेदथवाऽ-द्रष्टाऽश्रोता' (अ० ७) इत्यादि।

अन्नाभावे शक्तिजीवनयोरभाव इति व्यतिरेकमुक्त्वा तत्रैवा-न्वयमाह—

अथ यदि खल्वश्नाति प्राणसमृद्धो भूत्वा मन्ता भवति श्रोता भवति स्प्रष्टा भवति वक्ता भवति रसयिता भवति घ्राता भवति द्रष्टा भवतीति ।

यद्यश्नाति तदा खलु प्राणसमृद्धः प्राणेन बलेन समृद्ध उपचितो भूत्वा मन्ता भवतीत्यादि स्पष्टम्।

अत्रैव श्रुत्यन्तरमुदाहरति—

एवं ह्याह—अन्नाद्वै प्रजाः प्रजायन्ते याः काश्चित्पृथिवी-श्रिताः। अतोऽन्नेनैव जीवन्त्यथैतदपियन्त्यन्ततः ।।११।।

अन्नाद्रेतोबीजरूपपरिणताद्वै प्रजाः स्थावरजङ्गमात्मिकाः प्रजायन्त उत्पद्यन्ते याः काश्चिदविशेषिताः पृथिवीश्रिताः पृथिवीमाश्रिता अत उत्पत्त्यनन्तरमप्यन्नेनैव स्वस्वजात्युचितेनादनीयेनैव जीवन्ति प्राणान्

१. छान्दोग्य उपनिषत् के सप्तम अध्याय में भी इसी प्रकार का वचन उपलब्ध होता है—'अन्नं वाव बलाद् भूयस्तस्माद् यद्यपि दशरात्री-र्नाशनीयाद् यद्यु ह जीवेदथवाऽद्रष्टाऽश्रोता' (७.९.१)।

धारयन्ति। अथ जीवितक्षयेऽन्ततोऽन्ते शरीरावसानेऽप्येतदन्नमेवापियन्त्यन्नात्मिकायां पृथिव्यां लीयन्त इत्यर्थः।।११।।

यह जो [ओदनादि रूप] अन्न है, वह आत्मा का उत्कृष्ट आकार है, क्योंकि प्राण अन्नमय है [अन्न से ही जीवन है]। [इसी को अन्वय-व्यतिरेक पद्धति के माध्यम से बतलाया जा रहा है-] और यदि यह अन्न-ग्रहण न करता होता, तो यह मनन, श्रवण, स्पर्श, दर्शन, सम्भाषण, गन्ध-ग्रहण तथा रसास्वादन करने में समर्थ न होता। [केवल इतना ही नहीं, यह जीवित रहने में भी समर्थ नहीं होता] इसे प्राणों का परित्याग करना पड़ता। चूँकि यह अन्न-भक्षण करता है, इसलिए यह प्राण-बल से समृद्ध होकर मनन करता है, श्रवण करता है, स्पर्श करता है, सम्भाषण करता है, रसास्वादन करता है, और गन्ध का आघ्राण कर लेता है। इसी प्रकार से कहा गया है—

पृथिवी पर रहनेवाली समस्त सृष्टियाँ [-प्रजाएँ-] अन्न से ही उत्पन्न होती हैं, अन्न के द्वारा ही ये प्राण धारण करती हैं और यहाँ से गमन भी अन्न के कारण ही करती हैं ।।११।।

पुनरप्यन्नस्तुतिं करोति तस्य वक्ष्यमाणात्मदृष्ट्यर्हत्वाय—

अथान्यत्राप्युक्तं सर्वाणि ह वा इमानि भूतान्यहरहःप्रपतन्त्यन्नमभिजिघृक्षमाणानि सूर्यो रश्मिभिराददात्यन्नं तेनासौ तपत्यन्नेनाभिषिक्ताः पचन्तीमे प्राणा अग्निर्वा अन्नेनाभिज्वलत्यन्नकामेनेदं प्रकल्पितं ब्रह्मणा।

ह वा इति प्रसिद्धार्थौ निपातौ। सर्वाणीमानि भूतानि पशुपक्ष्यादिपिपीलिकान्तान्यन्नमभिजिघृक्षमाणान्यहरहर्नित्यं प्रपतन्तीतस्ततः परिभ्रमन्तीति प्रसिद्धमेतदित्यर्थः। किञ्च सूर्योऽपि रश्मिभिः किरणैरन्नं भौमं रसरूपमाददाति स्वीकरोति तेनान्नादानेनासौ सूर्यस्तपति समिद्धो भवतीत्यर्थः। तथा च श्रुत्यन्तरम्—'सूर्यो मरीचिमादत्ते सर्वस्माद्भुवनादधि' इति। मरीचिं मरीचिग्रस्तमुदकमित्यर्थः। इमे प्राणा मुख्यप्राणसहिता वागादयः प्राणा अन्नेनाभिषिक्ताः सङ्क्लिन्नाः सन्तर्पिताः सन्तः पचन्ति वर्णव्यत्ययेन पतन्ति स्वस्वव्यापारं कुर्वन्तीत्यर्थः। यद्वा पचन्ति

भोक्तुर्विषयानुपनयन्तीत्यर्थः। तथाऽग्निर्वा अन्नेन समिदाज्यादिनाऽभिज्वलति दीप्यते। एवं देवतानामप्युपजीव्यमिदमन्नमन्नकामेन ब्रह्मणा प्रजापतिना प्रकल्पितमुत्पादितमित्यर्थः।

यदर्थमेवमन्नं स्तुतं तदिदानीमुपासनं विदधाति—

अतोऽन्नमात्मेत्युपासीतेत्येवं ह्याह।

यत एवमहिमेदमन्नमतोऽन्नमात्मेत्युपासीत ध्यायेदित्यर्थः। अत्र ब्रह्मदृष्टिरुत्कर्षादिति न्यायेनात्र आत्मदृष्टिर्विधीयते न चात्राहंग्रहोऽस्ति 'न प्रतीके न हि सः' (ब्रह्म सू० अ० ४ पा० १ सू० ४) इति सूत्रे प्रतीकेष्वहंग्रहस्यापोदितत्वादिति द्रष्टव्यम्। एवं ह्याहेत्युदाहरति शाखान्तरीयं मन्त्रमन्नस्याऽऽत्मसाम्यद्योतनेन तत्प्रतीकत्वं द्रढयितुम्।

अन्नाद्भूतानि जायन्ते जातान्यन्नेन वर्धन्ते।
अद्यतेऽत्ति च भूतानि तस्मादन्नं तदुच्यते ।।१२।।

भूतोत्पत्त्यादिनिमित्तत्वमात्मसाम्यमत्रोक्तम्। अक्षरार्थः स्पष्टः ।।१२।।

और अन्यत्र भी कहा गया है—ये सभी प्राणी दिन-प्रतिदिन अन्न-ग्रहण करते हुए ही [इधर-उधर] परिभ्रमण अथवा सञ्चरण करते रहते हैं। सूर्य अपनी किरणों से अन्न-ग्रहण करता है। इसी कारण वह तपता है। ये प्राण अन्न से अभिषिक्त होकर परिपक्व होते हैं। अर्थात् अपना-अपना कार्य करते हैं। अन्न [के बल] से ही अग्नि प्रज्वलित होती है। ब्रह्मा ने अन्न की कामना से इस [जगत्] की रचना की है। [इस प्रकार की महिमा के कारण] अन्न की उपासना [अर्थात् ध्यान] आत्मा के रूप में करनी चाहिए। इसी प्रकार से कहा गया है—

अन्न से प्राणी उत्पन्न होते हैं, अन्न से [ही] बढ़ते हैं, अन्न [प्राणियों के द्वारा] खाया जाता है तथा अन्न स्वयं प्राणियों का भक्षण करता है। इसी कारण उसे अन्न कहा जाता है ।।१२।।

टिप्पणी—'अन्नाद् भवन्ति भूतानि'—इस प्रकार का कथन भगवद्गीता में भी उपलब्ध होता है।

अथान्यत्राप्युक्तं विश्वभृद्वै नामैषा
तनूर्भवगतो विष्णोर्यदिदमन्नम् ।

इदानीमन्ने पूर्वोक्ते विश्वभृत्त्वं गुणं प्रक्षिप्य विष्णुशरीरदृष्ट्योपासना-न्तरमुपदिशति—**अथान्यत्राप्युक्तमित्यादिना**।

विश्वभृत्त्वमन्नस्य साधयति—

प्राणो वा अन्नस्य रसो मनः प्राणस्य विज्ञानं मनस आनन्दं विज्ञानस्येत्यन्नवान् प्राणवान् मनस्वान् विज्ञानवानानन्दवांश्च भवति यो हैवं वेद ।

रसः सारः कार्यमित्यर्थः। प्राणे स्थिरे सति मनस उपचयान् मनः प्राणस्य रसो मनसो विवेकसामर्थ्ये सति विज्ञानोत्पत्तेर्विज्ञानं मनसो रसो विषयाध्यवसाये सत्यानन्दोदयाद्विज्ञानस्याऽऽनन्दो रस इति यो हैवं वेदेति सम्बन्धः। सोऽन्नवान् प्राणवानित्यादिफलवचनम्। दृष्टं फलमुक्त्वाऽदृष्टं च फलमाह—

यावन्तीह वै भूतान्यन्नमदन्ति तावत्
स्वन्तःस्थोऽन्नमत्ति यो हैवं वेद ।

यावन्तीह लोके भूतान्यन्नमदन्ति भक्षयन्ति तावत्सु सर्वेषु तेषु भूतात्मा सन्नन्तःस्थो भूतान्तःस्थोऽन्नमत्त्युपासकः। तावत्स्वन्तरस्थ इति पाठे तेषु भूतेष्वस्थितस्तेष्वभिमानशून्यः सन्नन्नमत्तीत्यर्थः। कः। यो हैवं विश्वभृद्गुणं विष्णुतनुमन्नं वेदोपास्त इत्यर्थः।

उक्तमुपास्यमन्नं विष्णुतनुत्वदृष्ट्यर्हत्वाय स्तुत्यर्थं श्लोकमुदाहरति—

अन्नमेव विजरन्नमन्नं संवननं स्मृतम् ।
अन्नं पशूनां प्राणोऽन्नं ज्येष्ठमन्नं भिषक्स्मृतम् ।।१३।।

अन्नमेव विजरद्विजरत्वं नयतीति विजरमेव वा विजरन्नम्। तथा च श्रुत्यन्तरम्—'अन्नं ब्रह्माणोऽजरं वदन्ति' इति। तथाऽन्नं संवननं

सम्भजनीयं स्मृतं ज्ञातम् 'अन्नं बहु कुर्वीत तद्व्रतम्' इति श्रुत्यन्तरात्। अन्नं पशूनां प्राणिनां प्राणः 'अन्नात्प्राणां भवन्ति' इति श्रुतेः। अन्नं ज्येष्ठं प्रथमजं रसाद्यपेक्षया पूर्वसिद्धत्वात् 'अन्नं हि भूतानां ज्येष्ठम्' इति श्रुत्यन्तरात्। अन्नं भिषग्भेषजं क्षुद्व्याधिनिवर्तकं स्मृतं तस्मात्सर्वौषध-मुच्यत इत्यन्नं प्रकृत्य श्रवणादिति श्लोकार्थः ।।१३।।

और अन्यत्र भी कहा गया है—यह जो अन्न है, वह भगवान् विष्णु का विश्वम्भर[1] नामक शरीर है। प्राण अन्न का ही रस है। मन प्राण का [रस] है। विज्ञान मन का रस है। विज्ञान का रस आनन्द है। जो इस [रहस्य] को जानता है, वह अन्नवान्, प्राणवान्, मनस्वान्, विज्ञानवान् और आनन्दमय हो जाता है। जितने प्राणी यहाँ अन्न खाते हैं, उतना ही अन्तःस्थ पुरुष अन्नग्रहण करता है [अर्थात् प्राणियों के रूप में स्वयं अन्तःकरण में स्थित परमात्मा ही अन्न-सेवन करता है]। [इसी क्रम में यह भी कहा गया है—]।

अन्न वृद्धावस्था का निराकरण करता है [अतएव वह शक्तिसर्वस्व है]। वह सबके द्वारा सेवनीय है। अन्न सभी प्राणियों का प्राणतत्त्व है, अन्न पहले उत्पन्न होने के कारण ज्येष्ठ अर्थात् सर्वोपरि है। अन्न को [तो] सबसे बड़ा वैद्य अथवा सबसे बड़ी औषधि कहा गया है। ।।१३।।

पुनरस्यैवाऽऽत्मनः कालात्मकादित्ये दृष्टिं विधातुमुत्तरमनुवाकत्रयं प्रवर्तते। तत्रान्नस्य कालाधीनत्वात्कालस्य चाऽऽदित्याधीनत्वादन्नोपासना-नन्तरं कालादित्योपासनविधानमिति सङ्गतिं विवक्षन् कालात्मानं स्तौति—

अथान्यत्राप्युक्तमन्नं वा अस्य सर्वस्य योनिः
कालश्चान्नस्य सूर्यो योनिः कालस्य।

अथेत्युपासनान्तरोपक्रमार्थः। अन्यत्रापि कालविषय इदमुक्त-मन्यत्राप्युक्तमिति वा। अन्नं वै प्रसिद्धमस्य प्राणिजातस्य सर्वस्याशेषस्य योनिः कारणम्। कालश्चास्यन्न योनिरित्यनुवर्तते कालेन ह्यन्नं प्रसूयते। सूर्यः सविता कालस्य योनिः। तस्य हि कालनिर्मातृत्वं प्रसिद्धम् ।

---

१. रामतीर्थ के अनुसार यहाँ विश्वम्भर के रूप में विष्णु की उपासना विहित है।

तत्र कालस्वरूपतत्प्रमाणयोरभावात्कथं कालोऽन्नस्य योनिरित्यत आह—

तस्यैतद्रूपं यन्निमेषादिकालात्सम्भृतं द्वादशात्मकं वत्सरमेतस्याऽऽग्नेयमर्धमर्धं वारुणम् ।

तस्य कालस्यैतद्रूपं रूप्यत इति रूपं स्वरूपं किं तद्यन्निमेषादेर्निमेष-कलाकाष्ठाद्यवयवप्रचयात्सम्भृतं घटितं द्वादशमासात्मकत्वाद्द्वादशात्मकं वत्सरं संवत्सररूपमस्त्येतत्तस्य रूपमिति सम्बन्ध:। तथा चोक्तं श्रीभागवते—

''योऽयं कालस्तस्य तेऽव्यक्तबन्धोश्चेष्टामाहुश्चेष्टते येन विश्वम् ।
निमेषादिर्वत्सरान्तो महीयांस्तं त्वेशानं क्षेमधाम प्रपद्ये'' ।। इति।

निमेषादिसंवत्सरान्तव्यवहाराश्रय: काल इति कालस्वरूपमुक्तं भवति। इदानीमुक्तलक्षण: संवत्सराख्य: कालस्तदवयवैरेव प्रमेय इति विवक्षंस्तावत्कालावयवान् स्थूलतमादिक्रमेण व्युत्पादयति— **एतस्येत्यादिना**। एतस्य संवत्सरात्मन: कालस्य 'द्वादशमासा: संवत्सर:' इति श्रुतेर्द्वादशमासात्मकस्यार्धमुत्तरायणषण्मासरूपमाग्नेयमग्निदेवत्य-मौष्ण्यप्रधानत्वादस्य षण्मासस्य। अर्धं वारुणं वरुणदेवत्यं दक्षिणायन-षण्मासरूपं जलप्रधानत्वादस्य षण्मासस्येत्यर्थ:। तथा च तापोदकयो: कार्ययो: पर्यायेण नियतप्रवृत्त्यन्यथानुपपत्त्या यस्तद्धेतुभूतोऽर्थ: कल्प्यते स काल उभयायनानुगत: संवत्सरात्मा सिद्ध इत्यर्थ:।

इदानीमयनावयवभूतान् मासान् व्युत्पादयिष्यंस्तदुपोद्घाततया नाक्षत्रमयनद्वयं प्रकल्प्य तद्द्वारा कालसद्भावकल्पनामाह—

मघाद्यं श्रविष्ठार्धमाग्नेयं क्रमेणोत्क्रमेण सार्पाद्यं श्रविष्ठार्धान्तं सौम्यम् ।

मघानक्षत्रमारभ्य श्रविष्ठाख्यनक्षत्रस्यार्धमर्धावसानं यावत्सविता क्रमेण नीचै: क्रमणेन स्वचारगत्या भुङ्क्ते तावदाग्नेयमग्निदेवत्यं तत्र हि

कालेऽग्निर्देव इव शीतार्तैर्मनुष्यैरुपास्यते। तथा सार्पाद्यं सर्पदेवत्यमश्लेषा-नक्षत्रं सार्पं तत्प्रभृतिश्रविष्ठोत्तरार्धान्तं यांवत्सवितोत्क्रमेणोर्ध्वमार्गक्रमणेन स्वचारगत्या भुङ्क्ते तावत्सौम्यं सोमदेवत्यं तस्मिन् हि काले चन्द्रस्तापार्तैर्मनुष्यैर्देव इवोपास्यत इति। अत्र श्रविष्ठार्धाद्यं सार्पान्तमिति यद्यपि वक्तुमुचितं तथाऽपि यथाविभक्तयोः समययोः स्वभाववैलक्षण्यस्य स्पष्टीकरणार्थं सार्पाद्यमित्युक्तं श्रविष्ठायां सवितरि वर्तमाने शीतानुवृत्तेस्तदाद्यग्रहणे हि न स्पष्टः स्वभावभेदो निर्दिष्टः स्यादितरत्र तु स्पष्टस्तत्र तापप्राचुर्ये विवादाभावात्। तथा च स्वभावभेदप्रकटी-करणायाऽऽर्थ एव क्रमो विवक्षितो न नक्षत्रपाठक्रम इति भावः। अत्रापि शीतोष्णयोर्नियतप्रवृत्तिहेतुकालकल्पना पूर्ववद्द्रष्टव्या।

इदानीमुक्तैः सप्तविंशतिनक्षत्रैर्द्वादशराश्यवच्छेदेन मासक्लृप्तिमाह—

तत्रैकैकमात्मनो नवांशकं सचारकविधं

तत्र तेषु नक्षत्रेषु नवांशा यस्मिंस्तन्नवांशकं यदेकैकं नवांशकं तदात्मनः संवत्सरात्मन एकैकोऽवयव इति योज्यम्। अंशः पादो नवांशा नव पादाः सपादनक्षत्रद्वयावच्छिन्न एको राशिः सूर्यगत्यनुसारेणैको मासः संवत्सरात्मनः कालस्यैकोऽवयव इत्युक्तं भवति। तथा च तत्तन्मास-स्वभावभेदनियमेनापि कालकल्पनमुन्नेयम्। एतत्सर्वं सचारकविधं चारश्चङ्क्रमणं नक्षत्रादिषु परिभ्रमणं तत्र विधा प्रकारस्तया विधया सहितं सचारकविधम्। एतच्च ज्योतिःशास्त्रात्कलादिकालावयवगणनया सूर्यचारमालोच्य सर्वमवधेयमिति तात्पर्यार्थः।

उक्तैरेवावयवैः कालोऽनुमेय इत्यत्र हेतुमाह—

सौक्ष्म्यत्वादेतत्प्रमाणमनेनैव प्रमीयते हि कालः।

सूक्ष्मत्वादित्यर्थः। इन्द्रियागोचरत्वात्कालस्यैतत्पूर्वोक्तमयनादिरूपं प्रमाणं कालास्तित्वे। तत्रानुभवं संवादयति—अनेनैव हि पूर्वोक्तप्रकारेण कालः प्रमीयते सम्यगवधार्यते न प्रत्यक्षादिनेत्यर्थः।

किमेवं प्रमाणोपन्यासेनास्ति चेत्कालः स्वयमेव दृश्येतेति मन्दाशङ्कायामाह—

न विना प्रमाणेन प्रमेयस्योपलब्धिः ।

अनादिमायावच्छिन्नचिद्विलासरूपस्य कालस्य जडत्वात्प्रमेयान्तरवन्मानाधीनसिद्धिकत्वमित्यर्थः।

यदि कालस्य प्रमेयत्वं तर्हि निमेषादीनामपि कालावयवानां कालत्वाविशेषादभेदे सति कथं कालेन कालप्रमेत्यत आह—

प्रमेयोऽपि प्रमाणतां पृथक्त्वादुपैत्यात्मसम्बोधनार्थमित्येवं ह्याह ।

पृथक्त्वादवयवावयविभावेन भेदात्प्रमेयोऽपि प्रमाणत्वमुपैति प्राप्नोति। किमर्थम्। आत्मनः स्वस्य सम्यग्बोधनार्थमवधारणार्थं दीपप्रकाशेन दीपानुमानवदित्यर्थः। एवं ह्याहैवंविधः कालः सूर्याधीन इत्यत्रोदाहरणमाहेत्यर्थः।

यावत्यो वै कालस्य कलास्तावतीषु चरत्यसौ यः कालं ब्रह्मेत्युपासीत कालस्तस्यातिदूरमपसरतीत्येवं ह्याह ।

यावत्यो वै प्रसिद्धाः कालस्य कला अंशास्तावतीष्वसौ सविता चरति तत्प्रवतर्कत्वेन विचरति ताः सम्पादयतीत्यर्थः। अतो यः कालं कलयितारं कालरूपमादित्यं ब्रह्मेत्युपासीत तस्योपासकस्यातिदूरं कालोऽपसरति सकृन्मृत्वा पुनर्मरणाय न जायते कालव्याप्यो न भवतीत्यर्थः।

तत्र कालस्य ब्रह्मदृष्ट्यर्हत्वाय पुनरुदाहरणमेवं ह्याह—

कालात्स्रवन्ति भूतानि कालाद्वृद्धिं प्रयान्ति च।
काले चास्तं नियच्छन्ति कालो मूर्तिरमूर्तिमान् ।।१४।।

कालास्रवन्तीत्यादि पादत्रयं स्पष्टार्थम् । कालो मूर्तिर्मूर्तिमानादित्यरूपेणामूर्तिमांश्च निमेषादिसंवत्सरान्तेन रूपेणेति चतुर्थपादार्थः।।१४।।

[दूसरी उपासना बतलाई जा रही है] इस सब [जगत्] की उत्पत्ति अन्न से हुई है अर्थात् अन्न सबका कारण है। [किन्तु] अन्न का कारण काल है अर्थात् काल से अन्न की उत्पत्ति हुई है। काल की उत्पत्ति सूर्य से हुई है। उसी का यह रूप है, जो निमेष[१] प्रभृति काल [के परिमाण] से उत्पन्न बारह मासों वाला संवत्सर है। इस संवत्सर का आधा भाग अर्थात् उत्तरायण अग्निदेव से सम्बद्ध है [क्योंकि यह उष्णताप्रधान है] और शेष आधा भाग अर्थात् दक्षिणायन वरुणदेव से सम्बद्ध है [क्योंकि वह वर्षा इत्यादि के रूप में जलप्रधान है]। मघा नक्षत्र से प्रारम्भ करके आधे श्रविष्ठा नक्षत्र के [भोगकाल तक] का समय अग्निदेव का [इसलिए माना जाता] है [क्योंकि उस समय शीत से पीड़ित प्राणी अग्नि की उपासना करते हैं]। तथा सर्पों से सम्बद्ध [आश्लेषा] नक्षत्र से प्रारम्भ करके श्रविष्ठा नक्षत्र के उत्तरार्द्ध तक, जब तक सूर्य ऊर्ध्व मार्ग से सञ्चरण करता है, सोमदेवता से सम्बद्ध है; [क्योंकि उस समय गर्मी से पीड़ित प्राणी चन्द्रदेव की उपासना करते हैं]। इनमें से प्रत्येक का अपने नवांश-क्रम से सञ्चार होता रहता है [तात्पर्य यह है कि सत्ताइस नक्षत्रों का अग्नि, वरुण और चन्द्रमा के क्रम से विभाजन करने पर प्रत्येक के अधिकार में नौ-नौ नक्षत्र आते हैं—नौ नक्षत्रों का समूह ही 'नवांश' नाम से निर्दिष्ट है[२] इसकी दूसरी व्याख्या यह हो सकती है, और जो अधिक उपयुक्त प्रतीत होती है कि 'नवांश' का अभिप्राय नक्षत्रों के नौ पाद मान लिया जाय। एक राशि में सामान्यत: सवा दो नक्षत्र होते हैं— इस प्रकार नक्षत्रों के नौपादों पर सूर्य एक मास रहता है]। सूक्ष्म होने के कारण काल का यही मान उत्कृष्ट है। इसी से काल की गणना होती है। प्रमाण के बिना प्रमेय की उपलब्धि नहीं होती। अपना भलीभाँति ज्ञान कराने के लिए प्रमेय अर्थात् ज्ञेय भी पृथक् रूप से प्रमाण श्रेणी में [उसी प्रकार से] आ जाता है [जैसे दीप का प्रकाश दूसरी वस्तुओं का स्वरूप

---

१. निमेष से संवत्सर तक विद्यमान कालस्वरूप का प्रतिपादन श्रीमद्भागवत के एक पद्य में बड़े स्पष्ट रूप में हुआ है—

'योऽयं कालस्तस्य तेऽव्यक्तबन्धोश्चेष्टामाहुश्चेष्टते येन विश्वम् ।
निमेषादिर्वत्सरान्तो महीयांस्तं त्वेशानं क्षेमधाम प्रपद्ये ।।

२. ऊपर काल का जो विवरण है, वह सूर्य के अनुसार है। चन्द्रमा का क्रम इससे भिन्न है। वह एक राशि में केवल सवा दो दिन ही रहता है।

दिखाने के साथ अपना स्वरूप भी दिखा देता है]। काल की जितनी कलाएँ हैं, उनमें सबमें यह काल सञ्चरण करता है। [इसलिए] जो [उपासक] काल की ब्रह्मरूप में उपासना करता है, काल उससे दूर हट जाता है. इसी प्रकार से कहा गया है—

प्राणी काल से निकलते हैं और काल से ही सम्पुष्ट होते हैं। [अन्त में] काल में ही अस्त हो जाते हैं—इस प्रकार काल मूर्त तथा अमूर्त स्वरूपों वाला है [तात्पर्य यह है कि काल के दो रूप हैं—एक है मूर्तिमान् और दूसरा अमूर्त, आदित्यस्वरूप में वह मूर्तिमान् है और संवत्सर रूप में वह अमूर्तिमान् है]।

कालनिर्वर्तकत्वादादित्य: कालात्मको ब्रह्मदृष्ट्योपास्य इत्युक्तं तत्र किं ब्रह्म निमेषादिकालेषु किमात्मकश्चाऽऽदित्यो ब्रह्मदृष्ट्योपास्य इत्याकाङ्क्षायामाह—

द्वे वाव ब्रह्मणो रूपे कालश्चाकालश्चाथ यः प्रागादित्यात्सोऽकालोऽकलोऽथ य आदित्याद्यः स कालः सकलः।

प्राय: स्पष्टार्थोऽयमनुवाक:। प्रागादित्यादिति। आदित्योत्पत्ते: प्राग्यद्ब्रह्मणो रूपं सोऽकाल: स न कस्यापि कलयिता यतोऽकल: कलारहित इत्यर्थ:। अथ य आदित्याद्य आदित्य आद्य: प्रवर्तको यस्य स तथा स काल: सकल: कलाभि: सहित इत्यर्थ:।

सकलस्य वा एतद्रूपं यत्संवत्सरः

संवत्सर: सकलस्य कालस्य स्वरूपम्।

तस्योपास्यत्त्वाय ब्रह्मसाम्यमाह—

संवत्सरात्खल्वेवेमाः प्रजाः प्रजायन्ते संवत्सरेणेह वै जाता विवर्धन्ते संवत्सरे प्रत्यस्तं यन्ति तस्मात्संवत्सरो वै प्रजापतिः कालोऽन्नं ब्रह्मनीडमात्मा चेत्येवं ह्याह ।

यस्मादेवं संवत्सर: सर्वकारणं तस्मात्संवत्सरो वै प्रसिद्ध: प्रजापतिर्हिरण्यगर्भ: सूर्यात्मा स काल:। सोऽन्नमन्नहेतुत्वात्। ब्रह्मणो

नीडमालम्बनं ब्रह्मदृष्टियोग्यं प्रतीकमित्यर्थः। आत्मा च प्राणिनाम् 'सूर्य आत्मा' इति मन्त्रवर्णात्। एवं ह्याह।

कालः पचति भूतानि सर्वाण्येव महात्मनि।
यस्मिंस्तु पच्यते कालो यस्तं वेद स वेदवित् ।।१५।।

महांश्चासावात्मेति महात्माऽकालात्मक ईश्वरस्तस्मिन् महात्मनि सर्वाण्येव भूतानि कालः पचति जरयति परमात्मन्यधिष्ठाने तदायत्तः कालो भूतानि पचन् परिवर्तत इत्यर्थः। तथा च श्रुत्यन्तरम्—'एतस्य वा अक्षरस्य प्रशासने गार्गि निमेषा मुहूर्ता अहोरात्राण्यर्धमासा मासा ऋतवः संवत्सरा इति विधृतास्तिष्ठन्ति'[१] (बृहदा०, अ० ५ ब्रा० ८) इति। यस्मिंस्तु कालात्मा सविता पच्यते लीयते तं यो वेद स वेदरहस्यविदित्यर्थः।।१५।।

ब्रह्म के दो रूप हैं—काल और अकाल। वह जो आदित्य से पहले का रूप है, वह अकाल है तथा कलारहित है और जो आदित्य से प्रवर्तित है, वह सकल अर्थात् कलासहित है। संवत्सर इस कलासहित काल का स्वरूप है। संवत्सर से ही ये प्रजाएँ उत्पन्न होती हैं। संवत्सर के द्वारा उत्पन्न होने के बाद [ही] यहाँ वे संवर्धन पाती हैं और [अन्त में] संवत्सर में ही अस्त हो जाती हैं। इसलिए संवत्सर ही प्रजापति, काल, अन्न, ब्रह्म का नीड अर्थात् आलम्बन और आत्मा है। इसी प्रकार से कहा है—सभी प्राणियों को काल [अकालात्मक] परमात्मा के अधिष्ठान में पचाता अर्थात् परिवर्तित करता रहता है। अरे! जिसमें काल [भी] पचता है, उसे जो जानता है, वही वेद का यथार्थ ज्ञाता है ।।१५।।

---

१. बृहदारण्यक उपनिषत् के तृतीय अध्याय में महर्षि याज्ञवल्क्य ने गार्गी के प्रश्न के उत्तर में भी यही कहा है कि अविनाशी परमात्मा के ही शासन में निमेष से प्रारम्भ कर संवत्सरपर्यन्त काल संस्थित है—

'एतस्य वा अक्षरस्य प्रशासने गार्गि निमेषा मुहूर्ता अहोरा- त्राण्यर्धमासा मासा ऋतवः संवत्सरा इति विधृतास्तिष्ठन्ति (५.८)।

पुनरपि सकलं कालं स्तौति—

विग्रहवानेष कालः सिन्धुराजः प्रजानाम्। एष तत्स्थः सविताख्यो यस्मादेवेमे चन्द्रर्क्षग्रहसंवत्सरादयः सूयन्तेऽथैभ्यः सर्वमिदमत्र वा यत्किञ्चिच्छुभाशुभं दृश्येतेह लोके तदेतेभ्यस्तस्मादादित्यात्मा ब्रह्माथ कालसंज्ञमादित्यमुपासीताऽऽदित्यो ब्रह्मेत्येकेऽथैवं ह्याह।

विग्रहवान् मूर्तिमानेष कालः पूर्वोक्तः प्रजानां सिन्धुराजः समुद्रः समुद्रवदुस्तर इति यावत्। एष सविताख्यो यस्मात्तत्स्थस्तस्मिन् काले निमित्ततया स्थितः। कोऽसौ सविताख्यः। यस्मादेव सवितुरिमे चन्द्रादयः सूयन्तेऽभिषूयन्त आप्यायन्ते स्वतेजःप्रवेशनेनेत्यर्थः। अथ प्रसिद्धमेभ्यश्चन्द्रादिभ्यः सर्वमिदम्। किम्। यत्किञ्चिच्छुभाशुभमिह लोके दृश्यते सुखदुःखादीत्यर्थः। तदेतेभ्य आदित्यादिग्रहेभ्यो निमित्तभूतेभ्य इत्यर्थः। यस्मादेवमादित्यनिमित्ता जगत्स्थितिस्तस्मादादित्यात्मा ब्रह्म। यत एवंप्रभाव आदित्योऽथ तस्मात्कालसंज्ञमादित्यमुपासीतेत्येतद्विधिवाक्यम्। कालसंज्ञमादित्यं ब्रह्मेत्युपासीतेत्यर्थः। एके शाखिनः कालसंज्ञालक्षणं गुणमनादृत्याऽऽदित्यो ब्रह्मेत्यादित्योपासनं ब्रह्मदृष्ट्या विदधत्यादित्यो ब्रह्मेत्यादेश इत्यत्रेत्यर्थः। सर्वथाऽप्यादित्यो ब्रह्मेत्येवं ह्याह मन्त्रः।

होता भोक्ता[1] हविर्मन्त्रो यज्ञो विष्णुः प्रजापतिः।
सर्वः कश्चित्प्रभुः साक्षी योऽमुष्मिन् भाति मण्डले।।१६।।

होता हविषः प्रक्षेप्ता यजमान ऋत्विग्वा भोक्ता हविषः स्वीकर्ता देवताविशेषो हविश्चर्वादिद्रव्यं मन्त्रस्तत्प्रक्षेपसाधनत्वेन विहित एतैः सर्वैः साध्यो यो यज्ञः स को विष्णुः। यज्ञो वै विष्णुरिति श्रुतेः। प्रजापतिः प्रजानां पालयितेश्वरः कर्मफलदातैवंविधो यो जगद्धेतुकलापः स सर्व एष एवेत्यध्याहारः। कः। योऽमुष्मिन् दूरस्थे मण्डले भाति प्रकाशते।

१. 'भोक्ता' का अभिप्राय है देवताविशेष,जो हविष् को स्वीकार करता है। टीकाकार रामतीर्थ के अनुसार 'प्रजापति' शब्द यहाँ परमात्मा के अर्थ में प्रयुक्त है।

किंलक्षण: कश्चिदेको य: कश्चिदिति वा सम्बन्ध:। प्रभु: स्वतन्त्र ईश्वर:। साक्षी साक्षात्सर्वद्रष्टेत्यर्थ:।।१६।।

सिन्धुराज [अर्थात् नदियों के स्वामी समुद्र की भाँति] यह मूर्तिमान् काल प्रजाओं के [लिए दुस्तर] है। इसका नाम है सविता, जो उस काल में ही स्थित है। [इसे सविता इसलिए कहा जाता है कि] इसी से ये चन्द्रमा, नक्षत्र, ग्रह, संवत्सर प्रभृति उत्पन्न होते हैं और इनसे यह सब [जगत्] उत्पन्न होता है। यहाँ लोक में जो कुछ शुभ और अशुभ दिखाई देता है, वह उन्हीं से होता है अर्थात् उसके निमित्त ये नक्षत्र और ग्रह इत्यादि हैं। [चूँकि जगत् की स्थिति आदित्य] के कारण है, इसलिए ब्रह्म आदित्यस्वरूप है। [इस रहस्य को जानने के] अनन्तर काल संज्ञक आदित्य की उपासना करनी चाहिए। कुछ [मनीषियों] का मत है कि आदित्य [स्वयं] ब्रह्म है। [इस सन्दर्भ में] इस प्रकार कहा है—

यह जो [सूर्य-] मण्डल में प्रकाशित हो रहा है, वह होता [होम करनेवाला अर्थात् यजमान], भोक्ता, हविष्, मन्त्र, यज्ञ, विष्णु, प्रजापति, प्रभु और सब कुछ है ।।१६।।

इदानीमादित्यप्रतीकोपासनप्रसङ्गेनाऽऽदित्यान्तर्यामिणो ब्रह्मण उपासनाविशेषं विधित्सन्नाह—

ब्रह्म ह वा इदमग्र आसीदेकोऽनन्त: प्रागनन्तो दक्षिणतोऽनन्त: प्रतीच्यनन्त उदीच्यनन्त ऊर्ध्वं चावाङ्च सर्वतोऽनन्त:।

ब्रह्म ह परमात्मा वा एवेदं कालसूर्याग्न्यादिकं जगदग्रे सृष्टे: पूर्वमासीत् । ब्रह्मणोऽविभक्तमेव सर्वं वटबीज इव महान् वट आसीदित्यर्थ:। अत एव स परमात्मैक: सजातीयविजातीयवस्त्वन्तरशून्य:। तर्हि किं वटबीजवत्सूक्ष्मो नेत्याह—अनन्तोऽपरिच्छिन्नो देशत: कालतो वस्तुतश्चासङ्कुचित इत्यर्थ:। उक्तमानन्त्यमुपपादयति—**प्रागनन्त इत्यादिना**। प्राच्यादिषु दशस्वपि दिक्षु परिच्छेदरहितत्वात्सर्वतोऽनन्त इत्यर्थ:।

तर्हि यासु दिक्ष्वस्यापरिच्छेदस्ता दिशोऽन्या: सन्तीति तत एव वस्तुपरिच्छेदोऽस्य स्यादिति कुतो निरङ्कुशमानन्त्यमित्यत आह—

न ह्यस्य प्राच्यादिदिशः कल्पन्तेऽथ तिर्यग्वाऽवाङ्-
वोर्ध्वं वाऽनूह्य एष परमात्माऽपरिमितोऽजः ।

अस्याऽऽश्रयतया प्राच्यादिदिशो न हि कल्पन्ते न वस्तुतः सन्तीत्यर्थः। अथ तथा तिर्यग्वाऽवाङ्वोर्ध्वं वा दिग्भेदोऽस्य न कल्पत इत्यर्थः। देशो वा देशसम्बन्धि वा वस्तु किमप्यस्य परिच्छेदकं नास्तीत्यभिप्रायः। यतोऽनूह्य एष परमात्मा न केनाप्यूह्यते धार्यत इत्यनूह्यो न क्वचिदाश्रित इत्यर्थः। तथा च श्रुत्यन्तरम्—'स भगवः कस्मिन् प्रतिष्ठित इति स्वे महिम्नि' (छा० उ०) इति 'अन्यो ह्यन्यस्मिन् प्रतिष्ठितः' इति च। अनूह्यत्वे हेत्वर्थं विशेषणमपरिमित इति। यद्वस्तूह्यते तत्परिमितं दृष्टमयं परमात्मा न परिमितः पूर्णं पुरुषेण सर्वमिति सर्वातिशायित्वश्रवणात्। अतोऽनूह्य इत्यर्थः। अज इत्यपरिमितत्वे हेतुः। यज्जन्मवत्तत्परिमितं तद्धि क्वचित्कदाचित्किञ्चिदित्युल्लिख्यतेऽयं तु 'न जायते म्रियते वा' इति श्रुतेरजोऽतो न परिमित इत्यर्थः।

परमात्माऽपि जन्मवान् कारणत्वान् मृदादिवदित्यत आह—

अतर्क्योऽचिन्त्यः ।

न तर्कगम्य इत्यर्थः। न सामान्यतो दृष्टानुमानादिरूपेण तर्केणायमीदृग्धर्मक इति व्यवस्थापयितुं शक्यते 'नावेदविन्मनुते तं बृहन्तम्' 'नैषा तर्केण मतिरापनेया' इत्यादिश्रुतिभिस्तर्कागोचरत्व-प्रतिपादनात्। श्रुत्येकगम्येऽर्थे श्रुतिविरुद्धस्यानुमानस्यानुदयाच्चेति भावः। अतर्क्यत्वे हेतुरचिन्त्य इति। यत्तर्क्यते तन्मनसो गोचरे वर्तते स्वयं च मनोगोचरो नायम्। तथा 'न तस्य कार्यं करणं च विद्यते न चास्य कश्चिज्जनिता न चाधिपः' (श्वे० उ०) 'यतो वाचो निवर्तन्ते अप्राप्य मनसा सह' इति श्रुतेरित्यर्थः।

तत्रासङ्गत्वं हेतुमाह—

एष आकाशात्मा[1] ।

---

१. 'आकाशात्मा' की व्याख्या रामतीर्थ का अनुसरण करते हुए आकाश के सदृश असङ्ग की गई है।

आकाशवदसङ्ग आत्मा स्वरूपं यस्य स तथा। न हि मनसाऽसम्बद्धं मनोवेद्यं भवेदतिप्रसङ्गात् 'असङ्गो ह्ययं पुरुषः' (बृहदा०) इति श्रुतेर्नास्य मनःसंसर्ग इत्यर्थः। तत एवंविधस्याऽऽनन्त्ये न कोऽपि विघ्न इति सिद्धम्।

इतोऽप्ययमनन्त एष्टव्य इत्यभिप्रेत्याऽऽह—

एवैष कृत्स्नक्षय एको जागर्ति।

एष एवेत्यन्वयः। कृत्स्नक्षये सर्वजगत्प्रलय एक एवैष परमात्मा जागर्त्यप्रच्युतस्वभावो वर्तते। अन्यत्किमपि तदा नाभूदित्यर्थः। तथा च श्रुत्यन्तरम्—'आत्मा वा इदमेक एवाग्र आसीन्नान्यत्किञ्चन मिषत्' (ऐतरेयोप०) इति।

एतदेव सर्वविकारकारणत्वेन सर्वाधिष्ठानतया स्पष्टीकरोति—

इत्येतस्मादाकाशादेष खल्विदं चेतामात्रं बोधयत्यनेनैव चेदं ध्यायतेऽस्मिंश्च प्रत्यस्तं याति।

इतिशब्द उक्तविशेषणसमाप्त्यर्थत्वेन पूर्वेण वाऽन्वेति। एतस्मादित्येव प्रतीकमिदम्। एष एव कृत्स्नक्षय एको जागर्तीति यतोऽत एतस्मादित्याद्ये प्रतीके योजना। एतस्मादाकाशात्प्रसिद्धाद्भूताकाशादारभ्य यदिदं जगच्चेतामात्रं चेत्यमात्रमिति यावत्। चैतन्याभासव्याप्तत्वेनोपलभ्यमानत्वाच्चेत्यमपि चेतामात्रमुच्यत इति द्रष्टव्यम्। आकाशादि सर्वं जगदेष खलु परमात्मा बोधयति बोधव्याप्तं करोति पालयतीत्यर्थः। किञ्चानेनैव परमात्मनेदं ध्यायते ध्यानमात्रेणोत्पाद्यते 'सोऽकामयत बहु स्यां प्रजायेय' इति 'इदं सर्वमसृजत' इति च श्रुतेः। अस्मिंश्चास्मिन्नेव प्रत्यस्तं प्रलयं यात्येकात्मतां गच्छतीत्यर्थः। तस्मादेक एवैष कृत्स्नक्षये जागर्तीत्युपपन्नमस्य सर्वदैवानन्तत्वमिति भावः।

एवमुपास्यस्य परमात्मनः स्वाभाविकं स्वरूपमुपवर्ण्य तस्योपासनाधिष्ठानं निर्दिशन्नाह—

अस्यैतद्भास्वरं रूपं यदमुष्मिन्नादित्ये तपत्यग्नौ चाधूमके यज्ज्योतिश्चित्रतरमुदरस्थोऽथ वा यः पचत्यन्नमित्येवं ह्याह ।

अस्य परमात्मन एतद्यथोक्तं भास्वरं स्वप्रकाशं जगदवभासकं रूपं स्वरूपं यद्रूपममुष्मिन्नादित्ये प्रसिद्धे तपत्यादित्ये स्थितं सज्जगत्तापयति प्रकाशयति चैतदस्य रूपमिति। किञ्चाधूमकेऽग्नौ यज्ज्योतिस्तदप्यस्यैव रूपमिति सम्बन्धः। कीदृशं ज्योतिश्चित्रतरमतिविचित्रं तत्तदिन्धनभेद-वशात्कृशस्थूलवक्रत्वाद्याकारेणावभासमानमित्यर्थः। अथ वा योऽन्योऽ-प्युदरस्थो जाठरसंज्ञोऽग्निरन्नं भुक्तं पचति सोऽप्यस्यैव रूपमिति सम्बन्धः। इत्येतदेव प्रशंसन्नेवं ह्याहात्रापेक्षितं विशेषमिति शेषः।

यश्चैषोऽग्नौ यश्चायं हृदये यश्चासावादित्ये स एष एका इत्येकस्य हैकत्वमिति य एवं वेद ।।१७।।

यश्चैषोऽग्नौ ज्योतीरूपो यश्चायं हृदये साक्षिरूपो यश्चासावादित्ये तपनप्रकाशनस्वभाव एष परमात्मैव स एको नान्य इत्येवंप्रकारेणाऽऽ-त्मन्यादित्यादौ च परमात्मैव ज्योतिरिति य एवं वेदोपास्ते स एकस्य परमात्मनो हि स्फुटमेकत्वमेति प्राप्नोति परमात्मसायुज्यं गच्छति तस्मात्सर्वत्र प्रकाशस्वरूपं परमात्मैवाहमित्युपासीतेति वाक्यार्थः।।१७।।

[सृष्टि से] पहले [जब तक काल, सूर्य, अग्नि इत्यादि का आविर्भाव नहीं हुआ था, उस समय केवल] यह ब्रह्म ही था। [तब न सजातीय और विजातीय वस्तुओं के मध्य कोई अन्तर था और न कोई विभाजन ही हुआ था।] [वह] पूर्व, पश्चिम, उत्तर तथा दक्षिण [इन सभी दिशाओं के अनुसार तथा] ऊपर और नीचे—सर्वत्र अनन्त था, अर्थात् उसका न कोई ओर था न छोर। [उस समय] प्राची इत्यादि दिशाओं की रचना नहीं हुई थी और ऊपर-नीचे तथा तिरछे किसी भी ओर से परमात्मा का चूँकि अनुमान नहीं हो पाता, इस कारण यह अपरिमित, अजन्मा, अनवलम्बित तथा तर्क और विचार से परे [प्रतीत होता] है [रामतीर्थ के अनुसार 'अनूह्य' का अर्थ अनाश्रित है]। यह आकाश स्वरूप अर्थात् आकाश के समान असङ्ग स्वरूप वाला है। [जब] सम्पूर्ण [जगत्] प्रलय में [निमग्न हो जाता] है, उस समय यह

अकेला ही जागता रहता है। इस प्रकार आकाशतत्त्व से लेकर सम्पूर्ण जगत् को यह परमात्मा चेतामात्र रूप से प्रबोधित करता रहता है। इस परमात्मा के द्वारा ही जगत् ध्यानमात्र से उत्पन्न होता है। इसी में [अन्त में] विलीन हो जाता है। आदित्य में जो तपता रहता है, वह इसी का प्रकाशमय रूप है। और धूमरहित अग्नि में जो विचित्र प्रकार की ज्योति होती है [वह भी वही है]। [प्राणियों के] उदर में स्थित होकर यह अन्न का परिपाक करता रहता है। इसी प्रकार से कहा है—यह जो अग्नि में है, यह जो हृदय में है और यह जो आदित्य में है, वह यह एक ही है। जो इसे जान लेता है, वह [इस अनुभूति तक] पहुँच जाता है कि परमात्मा एक है ।।१७।।

पूर्वानुवाके ध्येयं रूपं ध्यानविधिं च दर्शयित्वेदानीं ध्येये चित्तस्थिरीकरणलक्षणस्य ध्यानस्य सिद्धये चित्तवशीकारोपायं योगं साङ्गमुपदिशति—

तथा तत्प्रयोगकल्पः प्राणायामः प्रत्याहारो ध्यानं धारणा तर्कः समाधिः षडङ्ग इत्युच्यते योगः।

यथा प्रागुक्तोपासनासाधनचित्तैकाग्र्यसिद्धिस्तथा तत्प्रयोगकल्पस्तस्य चित्तैकाग्र्यसाधनस्य प्रयोगकल्पोऽनुष्ठानविधिरयमुच्यत इति वाक्यशेषः। तमेवाऽऽह—प्राणायामः पूरककुम्भकरेचकभेदेन प्राणवायोरायमनं वशीकरणं प्राणायामः। इन्द्रियाणां विषयेभ्यः प्रत्याहरणं प्रतिनिवर्तनं प्रत्याहारः। पराक्स्रोतःपरावर्तनेनेन्द्रियाणां प्रत्यक्स्रोतःप्रवर्तनं प्रत्याहार इत्यर्थः। ध्येये वस्तुन्यन्तःकरणस्य प्रयत्नेन तदाकारतया निवेशनं ध्यानम्। तस्मिन्नेव तैलधारादिवदविच्छेदेन स्थिरीकरणं धारणं धारणा। मनो ध्येये वस्तुनि तदाकारतया सम्यक्सम्पन्नं न वेति परीक्षणं तर्कः। ध्यानधारणासामर्थ्यादुपस्थितक्षुद्रसिद्धीनां योगान्तरायत्वोहनं वा तर्कः। सविकल्पकसमाधिर्वा तर्कः। चित्तस्य ज्ञेयवस्त्वाकारतामापन्नस्य निर्वातदेशस्थप्रदीपशिखावदचलतयाऽवस्थानं समाधिः। इत्येवं षड्विधैरङ्गैरुपेतो योगः षडङ्ग उच्यत इत्यर्थः।

उक्तस्यास्य योगस्य सर्वार्थध्यानोपकारकतां विवक्षन्नाह—

अनेन यदा पश्यन् पश्यति रुक्मवर्णं कर्तारमीशं पुरुषं ब्रह्मयोनिम्। तदा विद्वान् पुण्यपापे विहाय परेऽव्यये सर्वमेकी करोत्येवं ह्याह।

यथा पर्वतमादीप्तं नाऽऽश्रयन्ति मृगद्विजाः।
तद्वद्ब्रह्मविदो दोषा नाऽऽश्रयन्ति कदाचन ।।१८।।

अनेन योगेन सम्यगभ्यस्तेन पश्यन् स्वध्येयं वस्तु समालोचयन् सन् यदा यस्मिन् समये रुक्मवर्णं पुरुषं पश्यति साक्षादनुभवति तदा तस्मिन्नेव समये विद्वान् परिपूर्णं तत्त्वं जानानः पुण्यपापे अनारब्धफले विहाय त्यक्त्वा प्रारब्धस्यापि कर्मण उभयविधस्य भोगेन विनाशे सति सर्वं प्राणेन्द्रियदेहादि-रूपमुपाधिं परे परमात्मन्यव्यये कूटस्थे प्रत्यगात्मनि ब्रह्मण्येकी करोति। तप्तायःपीतोदकबिन्दुवत्प्रकाशमान आत्मन्युपसंहरतीत्यर्थः। रुक्मवर्ण-मित्यादिपुरुषविशेषणजातस्यायमर्थः। रुक्मवर्णमिति स्वतःसिद्ध-प्रकाशात्मताद्योतनादविषयत्वं पुरुषस्य विवक्ष्यते। कर्तारमिति पुरुषविशेषणं भूतपूर्वगत्योच्यते। ईशं योनिमिति च ब्रह्मविशेषणे निमित्तोपादानपरे ते अपि भूतपूर्वगत्याऽनूद्येते। पुरुषब्रह्मशब्दौ त्वंतत्पदलक्ष्यविषयौ। तथा च कर्तारं पुरुषमीशं योनिं ब्रह्म रुक्मवर्णं यदा पश्यतीति योजनीयो ग्रन्थ इति। एवं ह्याहेत्यादिर्विद्यामाहात्म्यख्यापनपरो ग्रन्थः स्पष्टार्थः।।१८।।

[१७ वें अनुवाक में परमात्मा के ध्येयरूप और ध्यानविधि का विवरण देने के पश्चात् अब चित्त को वश में करने के उपाय के रूप में अङ्गों सहित योग-प्रक्रिया का निरूपण किया जा रहा है।]

अब [चित्त की एकाग्रता-हेतु साधना एवं] अनुष्ठान-विधि [बतलाई जा रही है] प्राणायाम, प्रत्याहार, ध्यान, धारणा, तर्क और समाधि—इन छः अङ्गों[1] से युक्त योग कहलाता है। इस योग [का भलीभाँति अभ्यास करने] से [परमात्मा का] साक्षात्कार करते हुए [साधक] स्वर्णवर्णवाले,

---

१. मैत्रायणी उपनिषत् के उपर्युक्त अनुवाद में पतञ्जलि के योगसूत्र ड यमनियमासन-प्राणायामप्रत्याहारधारणाध्यानसमाधयोऽष्टावङ्गानि—२.९. से न्यून, योग के केवल

कर्त्ता, ईश्वर, पुरुष, ब्रह्म और जगत् की उत्पत्ति के केन्द्र का साक्षात्कार कर लेता है, तब वह पुण्य और पाप का परित्याग करके परम अविनाशी तत्त्व में सब कुछ के एक होने अर्थात् अद्वैतभाव की अनुभूति करता है। इसी प्रकार से कहा है—

जैसे जलते हुए पर्वत पर पशु-पक्षी नहीं ठहरते, उसी प्रकार ब्रह्मज्ञानियों के भीतर दोष भी कभी नहीं रहते ।।१८।।

इदानीं पूर्वोक्तयोगे परिनिष्ठितस्य श्रेष्ठं पदं स्वे हृदि धारणाया: प्रवर्तते वक्तुमनन्तरेण खण्डेन वेदोऽतिरहस्यवादी—

अथान्यत्राप्युक्तं यदा वै बहिर्विद्वान् मनो नियम्येन्द्रियार्थांश्च प्राणो निवेशयित्वा नि:सङ्कल्पस्ततस्तिष्ठेत् ।

यदा वै यस्मिन्नेव काले विद्वान् योगी प्राण:प्राणोपाधिं प्रविष्टो मनो नियम्यैकत्र स्थिरं कृत्वेन्द्रियार्थांश्च शब्दादीन् विषयान् बहिर्निवेशयित्वा दूरतस्त्यक्त्वा ततस्तदनन्तरं नि:सङ्कल्पो निर्विकारमनास्तिष्ठेदिति पदान्वयानुरूपा व्याख्या।

कथं विद्वान् प्राण: कथं वा तिष्ठेदित्याकाङ्क्षायामाह—

अप्राणादिह यस्मात्सम्भूत: प्राणसंज्ञको जीवस्तस्मात्प्राणो वै तुर्याख्ये धारयेत्प्राणमित्येवं ह्याह।

छह अङ्ग ही बतलाये गये हैं। ये हैं—प्राणायाम, प्रत्याहार, ध्यान, धारणा, तर्क और समाधि। यहाँ यम, नियम और आसन, जिनका समावेश योग के आठ अंगों में पतञ्जलि ने किया है, अनुल्लिखित हैं। इसके विपरीत तर्क नामक एक नया योगाङ्ग उल्लिखित है, जिसका उल्लेख पतञ्जलि ने नहीं किया है। मैत्रायणी उपनिषद्गत छह योगाङ्गों की यह अवधारणा निश्चित ही पतञ्जलि से पहले की है। इससे यह तथ्य भी पुष्ट होता है कि प्रस्तुत उपनिषत् पतञ्जलि से काफी पहले की है। षडङ्ग योग के इस स्वरूप के विषय में रामतीर्थ ने कोई टिप्पणी नहीं की है। 'तर्क' की उन्होंने दो व्याख्याएँ दी हैं। पहली यह कि ध्येय वस्तु में लगा मन उसी आकार को ग्रहण करके भी सम्यक्त्व प्राप्त कर पाया या नहीं, इसका आकलन तर्क है। दूसरी व्याख्या के अनुसार, ध्यान-धारणा के प्रभाव से उपस्थित क्षुद्र सिद्धियों का अथवा योग-साधना के सम्मुख विद्यमान विघ्नबाधाओं का निराकरण तर्क है। प्राणायामादि अन्य अङ्गों की व्याख्या उन्होंने विद्यमान परम्परा के अनुसार ही की है।

अप्राणात्प्राणादिविशेषरहिताच्चिदात्मन एवेह देहे यस्मात्प्राणसंज्ञको जीवः सम्भूतः प्राणधारिणोपाधिना प्राणसंज्ञां प्राप्य जीवो जात इति यावत्। तस्मात्प्राणो वै स्वभावतोऽप्राणोऽपि प्राण इति प्रसिद्धः स तुर्याख्येऽवस्थात्रयातीतेऽप्राणे प्राणमात्मानं धारयेत्प्राणात्मभावनां हित्वाऽप्राणचिदात्मभावनां कुर्यादित्यर्थः। एवं ह्याहात्र कश्चिन्मन्त्रः।

अचित्तं चित्तमध्यस्थमचिन्त्यं गुह्यमुत्तमम् ।
तत्र चित्तं निधायेत तच्च लिङ्गं निराश्रयम् ।।१९।।

अचित्तं चित्तरहितं चित्तमध्यस्थमन्तर्मनस्यभिव्यक्तं चित्तमध्यस्थितमपि तेनाचिन्त्यं चिन्तनानर्हमत एवोत्तमं गुह्यमतिगुह्यं सर्वेन्द्रियाविषय इत्यर्थः। तत्राचिन्त्ये गुह्ये तत्त्वे चित्तं निधायेत तदाकारीकरणेन तन्मयं चित्तं कुर्यात्। तच्च प्राणाख्यं लिङ्गं लिङ्गोपाधिकं जीवरूपं निराश्रयमभिमन्तुराश्रयस्याभावात्तदा न पृथगवभासत इत्यर्थः। यद्वाऽऽश्रयशब्दो विषयपरः। तथा च तच्च चित्ताख्यं लिङ्गं निराश्रयं निर्विषयं सम्पद्यते तदेति शेषः।।१९।।

और अन्यत्र भी कहा गया है—जिस समय विद्वान् (योगी) [प्राणोपाधि में प्रविष्ट] मन को स्थिर भाव से एकाग्र करके, इन्द्रियों के [शब्दादि] विषयों को बाहर ही छोड़कर अपने को प्राणस्वरूप में समाविष्ट कर लेता है। [तब वह] सङ्कल्परहित होकर स्थिर हो जाता है। चूँकि प्राणसंज्ञक जीव इस शरीर में प्राणभिन्न तत्त्व अर्थात् चिदात्मा से आविर्भूत होकर आया है, इसलिए स्वभावतः अप्राण होते हुए भी प्राणरूप में प्रसिद्ध है—उसे चाहिये कि वह प्राणात्मभावना का परित्याग करके चिदात्मभावना, [जो तीन अवस्थाओं के बाद] चतुर्थ स्थिति है, उस से अपने को भावित करे। इसी प्रकार से कहा है—

चित्त के मध्य में जो अचिन्तनीय, गोपनीय और उत्तम चित्तभिन्न तत्त्व है, वहीं चित्त को केन्द्रित करना चाहिए। वह लिङ्ग अर्थात् लीन अर्थ का बोधक तथा आश्रयरहित है। इससे चित्त भी निर्विषय हो जाता है ।।१९।।

एवं ज्ञानमार्गेणाऽऽत्मनोऽवस्थात्रयातीतस्वरूपे धारणाप्रकारमभिधाय योगमार्गेणापि धारणाविशेषं कैवल्यं सम्मतमुपदिशति—

अथान्यत्राप्युक्तमतः पराऽस्य धारणा तालुरसनाग्रनिपीडना-द्वाङ्मनःप्राणनिरोधनाद्ब्रह्म तर्केण पश्यति यदाऽऽत्मनाऽऽ-त्मानमणोरणीयांसं द्योतमानं मनःक्षयात्पश्यति तदाऽऽत्मनाऽऽ-त्मानं दृष्ट्वा निरात्मा[1] भवति निरात्मकत्वादसंख्योऽ-योनिश्चिन्त्यो मोक्षलक्षणमित्येतत्परं रहस्यमित्येवं ह्याह ।

अतोऽनन्तरमस्य तुर्यात्मनि स्थितस्याऽऽत्मनः परोत्कृष्टा धारणा पराऽन्येति वा कथ्यत इति वाक्यशेषः। यदाऽयं योगाभ्यासवशीकृतचित्तः सन्नुन्मनीभावं जिगमिषति तदाऽयमुपायः कार्यः। कथम्। तालुकण्ठदेशे जिह्वोद्गमनस्थानं तस्मिंस्तालुनि रसनाग्रस्य निपीडनमन्तःप्रवेशनं तस्मात्तालुरसनाग्रनिपीडनाल्लम्बिकायोगकरणादिति यावत्। तत्र च वाङ्मनःप्राणानां निरोधनात्सङ्कल्पोच्चारणस्पन्दनानां परिवर्जनाद्ब्रह्म पारमेश्वरं तत्त्वं तर्केण धारणानन्तरभाविना निश्चितरूपेण ज्ञानेन पश्यति। यदैवंप्रकारेण मनःक्षयान्मनसो मनस्त्वनाशादणोः सूक्ष्मादप्यणीयांसमति-सूक्ष्ममिन्द्रियागोचरं द्योतमानं स्वयमेव प्रकाशमानमात्मानं प्रत्यञ्चमात्मना परमात्मना 'इत्थंभावे तृतीया' परमात्मरूपेण पश्यति साक्षादनुभवति। तदाऽऽत्मनाऽऽत्मानं दृष्ट्वा निरात्मा भवति निर्मनस्को भवति जीवभावान्निवर्तते। एषाऽवस्था योगिभिरुन्मनीत्युच्यते। निरात्मकत्वादुक्त-रूपेणोन्मनीभावात्परिच्छेदकविरहादसंख्योऽपरिच्छिन्नोऽयोनिराश्रयरहित आत्मा चिन्त्यः। चिन्तनं नामात्र तदात्मनाऽवस्थानमात्रम् । एवंविध आत्मा तदा स्फुरतीत्युक्तं भवति। न पुनरत्र विधिरसम्भवात्तस्येहेति भावः। इत्येतन्मोक्षलक्षणं मोक्षस्वरूपं परं रहस्यमतिशयेन गोप्यमित्यस्मिन्नर्थ एवं ह्याह मन्त्रमुदाहरति।

---

१. यौगिक साधना और उपलब्धियों के सन्दर्भ में अत्यन्त सूक्ष्म तत्त्वों का निरूपण किये जाने के कारण उपर्युक्त अनुवाक अत्यन्त जटिल हो गया है, किन्तु टीकाकार रामतीर्थ ने अपने यौगिक अनुभवों के आधार पर इसकी अत्यन्त बोधगम्य व्याख्या की है—निरात्मा की व्याख्या उन्मनीभाव के रूप में इसीलिए उन्होंने की है; क्योंकि वे सम्भवत: इस स्थिति से प्रत्यक्ष रूप में परिचित रहे होंगे। हमने भी इस अंश के अनुवाद में लगभग अक्षरश: उन्हीं का अनुसरण किया है ।

चित्तस्य हि प्रसादेन हन्ति कर्म शुभाशुभम् ।
प्रसन्नात्माऽऽत्मनि स्थित्वा सुखमव्ययमश्नुता इति ।।२०।।

प्रसादो निर्वासनतापत्ति:। आत्मनि स्थितिस्तस्मिन्नेकीभाव:। स्पष्टमन्यत् ।।२०।।

इसके अतिरिक्त अन्यत्र भी कहा गया है—तत्पश्चात् [चतुर्थ स्थिति में स्थित] इस आत्मा की उत्कृष्ट धारणा दूसरी है। [जिस समय योगाभ्यास से वशीकृत चित्तवाला यह साधक उन्मनीभाव में पहुँचना चाहे, उस समय उसे यह उपाय करना चाहिए] कण्ठ में, जिह्वा का जो उद्गम स्थान है, उस तालु में, जिह्वा के अग्रभाग को भीतर प्रविष्ट करने से अर्थात् लम्बिका योग के अनुष्ठान से, वाणी, मन और प्राण के निरोध अर्थात् इनके सङ्कल्प, उच्चारण और स्पन्दन का निषेध करने से [साधक] परमात्मतत्त्व का निश्चयात्मक ज्ञान से साक्षात्कार कर लेता है—[यह निश्चयात्मक ज्ञान धारणा के अभ्यास से होता है] जब मन [की वृत्तियों] का विनाश हो जाता है, तब आत्मा के द्वारा अणु से भी सूक्ष्म तथा भलीभाँति प्रकाशमयी आत्मा का साक्षात्कार करके वह निरात्मा हो जाता है और निरात्मा अर्थात् मनोरहित होकर वह जीवभाव से निवृत्त हो जाता है। [योगीजन इस अवस्था को उन्मनी अवस्था कहते हैं।] निरात्मक अथवा उन्मनी अवस्था को प्राप्त [यह साधक] असंख्य और आश्रयरहित आत्मा में स्वयमेव अवस्थित हो जाता है [चिन्त्य शब्द का अर्थ अवस्थान है]। [अभिप्राय यह कि उस समय आत्मा का अपरिच्छिन्न और आश्रयरहित स्वरूप प्रकट होता है]। यह लक्षण मोक्ष का है, जो अत्यन्त रहस्यमय (गोपनीय) है। [एक मन्त्र में इस तत्त्व का] निरूपण इस प्रकार से किया गया है—चित्त की प्रसन्नता से [साधक] शुभ और अशुभ [सभी प्रकार के कर्मों का] विनाश कर देता है और प्रसन्न आत्मावाला [वह साधक] अपने स्वरूप में स्थित होकर अविनाशी सुख को प्राप्त कर लेता है ।।२०।।

इदानीमुपासकस्योपासनापरमफलप्राप्त्यर्थं देहादुत्क्रमणमार्गमुपदिशति—

अथान्यत्राप्युक्तमूर्ध्वगा नाडी सुषुम्नाख्या प्राणसञ्चारिणी ताल्वन्तर्विच्छिन्ना तया प्राणोङ्कारमनोयुक्तयोर्ध्वमुत्क्रमेत् ।

या सुषुम्नाख्या नाडी हृदयान्मूर्ध्नि ब्रह्मरन्ध्रपर्यन्तमूर्ध्वगा प्राणसञ्चारिणी प्राणस्य ब्रह्मलोकपर्यन्तं सूर्यरश्मिद्वारा सञ्चारयित्री प्रसिद्धा। तथा च श्रुत्यन्तरम्—'शतं चैका च हृदयस्य नाड्यस्तासां मूर्धानमभिनिःसृतैका। तयोर्ध्वमायन्नमृतत्वमेति' (छा०) इति। सा पुनरूर्ध्वं गच्छन्ती ताल्वन्तरमध्ये विच्छिन्ना कुण्ठिता भवति। तथा च तत्र यत्नतस्तया प्राणोङ्कारमनोयुक्तयाऽभ्यासवशीकृतेन प्राणेन ध्येयब्रह्माकाराकारितेन मनसोङ्कारध्वनिना च युक्तया, ऋज्वीकृतयोर्ध्वं तालूपरि स्तनाकारेण लम्बमानमांसान्तःप्रवेशनेनोत्क्रमेदुपरि गच्छेदित्यर्थः। तथा च श्रुत्यन्तरम्—'अन्तरेण तालुके य एष स्तन इवावलम्बते सेन्द्रयोनिर्यत्रासौ केशान्तो विवर्तते व्यपोह्य शीर्षकपाले' (तैत्तिरीयोप०) इति।

तत्रोर्ध्वं नाडिनयनप्रकारमाह—

ताल्वध्यग्रं परिवर्त्य चेन्द्रियाण्यसंयोज्य महिमा महिमानं निरीक्षेत ततो निरात्मकत्वमेति निरात्मकत्वान्न सुखदुःखभाग्भवति केवलत्वं लभता इत्येवं ह्याह ।

ताल्वध्युपरि रसनाया अग्रं परिवर्त्य सञ्चार्य यद्वा तालुनोऽग्रादुपरि ताल्वन्तो रसनाग्रं निवेश्योपरिस्तनाकारमभिभूयेति यावत्। इन्द्रियाणि संयोज्य प्राणमनोभ्यामेकीकृत्योत्क्रमेदिति पूर्वेणान्वयः। एवमुत्क्रमणे यो महिमा परिच्छेदनिवृत्त्या पूर्णतारूपस्तं महिमानं निरीक्षेतानुभवेत्। ततस्तस्मान्निरीक्षणान्निरात्मकत्वं निरिन्द्रियमनस्कत्वं निर्लिङ्गत्वमेति प्राप्नोति निरात्मकत्वान्न सुखदुःखभाग्भवति केवलत्वं कैवल्यं मोक्षं लभत इत्येवमर्थं ह्याह मन्त्र इत्यर्थः। इन्द्रियाण्यसंयोज्येति पाठ इन्द्रियायतनानां शरीरावयवानां मनःप्राणाभ्यामसम्बन्धनमुपदिश्यत इति व्याख्या। एतदुक्तं भवति प्रागुक्तप्रकारेण योगधारणया युक्तो ब्रह्मोपासीनो यदा योगसामर्थ्यात्ताल्वन्तःसञ्चारितसुषुम्नानाडीकस्तत्रैव कथञ्चित्परमात्मतत्त्वमवगच्छति

तदोन्मनीभावेन परममुक्तेरयत्नलभ्यत्वं जानंस्तत्रैव यावज्जीवं ब्रह्ममयोऽवतिष्ठेत। ततः प्रारब्धक्षये देहविगमे परमं महिमानं परममुक्तिलक्षणं गच्छति। यदा पुनः प्रागुक्तं स्थानं योगमहिम्ना प्राप्नोति ब्राह्मलौकिकैश्वर्यविहाराभिलाषस्तदोर्ध्वमुक्तप्रकारेणोत्क्रम्य महिमानं ब्राह्मलौकिकं निरीक्षेत ततः क्रमेण केवलत्वं कालेन लभत इति।

परः पूर्वं प्रतिष्ठाप्य निगृहीतानिलं ततः।
तीर्त्वा पारमपारेण पश्चाद्युञ्जीत मूर्धनि ।।२१।।

पूर्वमभ्यासदशायां निगृहीतानिलं वशीकृतप्राणं परः परस्तात्तालुदेशे प्रतिष्ठाप्य स्थिरीकृत्य ततः पश्चात्पारं परिच्छिन्नं जीवभावं तीर्त्वोल्लङ्घ्य पश्चादपारेणापरिच्छिन्नेन ब्रह्मणा तद्रूपेणाऽऽत्मानं मूर्धनि ब्रह्मरन्ध्रे युञ्जीत योजयेत्। मूर्धद्वारा ब्रह्मभावं नयेदित्यर्थः।।२१।।

और अन्यत्र भी कहा गया है—ऊपर की ओर [अर्थात् हृदय से ब्रह्मरन्ध्र तक] जानेवाली सुषुम्ना नाम्नी प्राणसञ्चारिणी (सूर्यरश्मि के द्वारा ब्रह्मलोकपर्यन्त प्राण का सञ्चरण करानेवाली) तालु के भीतर जाकर विच्छिन्न अर्थात् कुण्ठित हो जाती है। [वहाँ पर प्रयत्नपूर्वक साधक] प्राण, ओङ्कार और मन से युक्त उस नाडी के द्वारा तालु के ऊपर के [स्तनाकार लटके हुए माँस के भीतर प्रवेश के माध्यम से ऊपर जाने का प्रयत्न करे। वहाँ जिह्वा के] अग्रभाग को मोड़ करके, इन्द्रियों को प्राण और मन के साथ एकीकृत करके [ऊपर की ओर गमन करे]। [इस उत्क्रमण में परिच्छेद सीमा की निवृत्ति से जो पूर्णता रूप] महिमा है, उसको अनुभव करे। इस निरीक्षण से [साधक] निरात्मकता अर्थात् इन्द्रियों और मन के प्रभाव से मुक्त होने की अनुभूति प्राप्त करता है—[और] इस [अनुभव] के बाद वह सुख और दुःख का भाजन नहीं होता। वह कैवल्य अर्थात् मोक्ष को प्राप्त कर लेता है। इसी प्रकार से यह [बात] कही गई है—

[साधक] पहले [अभ्यास दशा में] वश में किये गये प्राण को तालुस्थान पर स्थिर करके, तदनन्तर सीमित जीवभाव की स्थिति को पार करके, असीम ब्रह्मभाव से अपने को मूर्धा अर्थात् ब्रह्मरन्ध्र में युक्त करे—अर्थात् मूर्धा के द्वारा ब्रह्मभाव को अनुभव करे ।।२१।।

इदानीं प्रकारान्तरेण ब्रह्मप्राप्त्युपायमुपदेष्टुमुपक्रमते—

अथान्यत्राप्युक्तं द्वे वाव ब्रह्मणी अभिध्येये शब्दश्चाशब्दश्चाथ शब्देनैवाशब्दमाविष्क्रियतेऽथ तत्रोमिति शब्दोऽनेनोर्ध्वमुत्क्रान्तोऽशब्दे निधनमेत्यथा(थ)हैषा गतिरेतदमृतमेतत्सायुज्यत्वं निर्वृतत्वं तथा चेति।

द्वे वावैव ब्रह्मणी अभिध्येये। के ते। शब्दश्चैकं ब्रह्माशब्दश्च द्वितीयम्। किं ते द्वे अपि स्वतन्त्रे न किं तूपायोपेयरूपे इत्याह—अथानयोर्ब्रह्मणोर्यः शब्दस्तेन शब्देन ब्रह्मणाऽशब्दं ब्रह्माऽऽविष्क्रियते प्रकटी क्रियतेऽनभिव्यक्तितिरोधानमात्रेणेत्यर्थः। किं शब्दब्रह्म कथं वा तेनाशब्दं ब्रह्माऽऽविष्क्रियत इति तदाह—अथैवं सति तत्र तयोर्द्वयोर्मध्य ओमिति शब्द ओङ्कारः शब्दाख्यं ब्रह्म। अनेन सर्वार्थवाचकसर्वशब्दव्यापकतया पूर्णत्वेनोद्धृत्याभ्यस्तेन साधनेनानेन शब्दब्रह्मणोर्ध्वं प्रपञ्चादुपर्युत्क्रान्त उद्गतो वाच्यवाचकरूपं सर्वं वेद्यजातमतिक्रान्तः सन्नशब्दे परे ब्रह्मणि निधनं नद्य इव समुद्रे लयमेति प्राप्नोति। यैवमशब्दे वाचामगोचरे ब्रह्मण्येकतापत्तिरथ तदैषा हि (ह) गतिः परमं फलम्। एतदेवामृतममृतत्वं मोक्षः। एतत्सायुज्यत्वं सायुज्यं सयुग्भावस्तादात्म्यमिति यावत्। निर्वृतत्वं परमानन्दाविर्भावः कृतकृत्यत्वमित्यर्थः। इतिशब्दः शब्दाशब्दब्रह्मोपदेशसमाप्त्यर्थः।

उक्तेऽर्थे दृष्टान्तमाह—

अथ यथोर्णनाभिस्तन्तुनोर्ध्वमुत्क्रान्तोऽवकाशं लभतीत्येवं वाव खल्वसावभिध्यातोमित्यनेनोर्ध्वमुत्क्रान्तः स्वातन्त्र्यं लभते।

अथास्मिन्नर्थे दृष्टान्तो यथोर्णनाभिर्लूताकीटस्तन्तुना स्वमुखाल्लालानिर्मितेनाविच्छिन्नेन सूत्रेणोर्ध्वमुपरिदेशं प्रत्युत्क्रान्तोऽवकाशं निरङ्कुशविहारस्थानं लभति लभत इति प्रसिद्धं जन्त्वन्तरसाधारणदेशशाबल्यं परित्यज्यासाधारणं निर्भयमवकाशं प्राप्नोतीत्यर्थः। एवं वावैवमेव खलु यथाऽयं दृष्टान्तस्तथाऽसावभिध्यातोमित्यनेन शब्दब्रह्मणा साधनेनोर्ध्व-

मुत्क्रान्तोऽहंममतास्पदशाबल्याद्विमुक्तः स्वातन्त्र्यं कैवल्याख्यं लभत इत्यर्थः।

एवं प्रणवाख्यशब्दब्रह्माभ्यासोऽशब्दपरब्रह्माविर्भावसाधनमिति स्वमतमुक्त्वा मतान्तरमाह—

अन्यथा परे शब्दवादिनः।

परे शब्दवादिनः शब्दब्रह्मवादिनः शब्दमाकर्णयन्तीत्यन्वयः।

कथमिति तदाह—

श्रवणाङ्गुष्ठयोगेनान्तर्हृदयाकाशशब्द-
माकर्णयन्ति सप्तविधेयं तस्योपमा।

कर्णयोरङ्गुष्ठं(ष्ठौ) योजयित्वा कर्णयोरङ्गुष्ठाभ्यां पिधानेनान्तर्हृदये य आकाशोऽवकाशस्तत्रत्यं शब्दमाकर्णयन्ति तं शब्दं शब्दब्रह्मेति मन्यन्त इत्यर्थः। तस्य श्रूयमाणस्यान्तर्हृदयाकाशस्थघोषस्येयं वक्ष्यमाणा सप्त-विधोपमोपमानं भवति।

तामेवाऽऽह—

यथा नद्यः किङ्किणी कांस्यचक्रकभेकविःकृन्धिका वृष्टिर्निवाते वदतीति तं पृथग्लक्षणमतीत्य परेऽशब्देऽव्यक्ते ब्रह्मण्यस्तं गतास्तत्र तेऽपृथग्धर्मिणोऽपृथग्विवेक्या यथा सम्पन्ना मधुत्वं नाना रसा इत्येवं ह्याह।

नद्यो नदीनां घोषः। किङ्किणी घण्टाघोषः। कांस्यं तत्पात्रघोषः। चक्रकं रथचक्रध्वनिः। भेकविःकृन्धिका मण्डूकरवः। वृष्टिर्वर्षणशब्दः। निवाते गुहायां कूपे वा वदति वदनमुपरिस्थितेन श्रूयमाणं सोऽप्येकः प्रकारः। एतैर्ध्वनिभिः सदृशो योऽन्तराकाशशब्दस्तं शब्दब्रह्मापरे वदन्तीत्यर्थः। इतिशब्द उपमेत्यनेन पूर्वेण सम्बध्यते। तमेवमन्तर्हृदये श्रूयमाणं पृथग्लक्षणमनेकोपमानैरनेकधा विभाव्यमानं शब्दमतीत्य परेऽशब्देऽव्यक्ते वाचामगोचरे ब्रह्मणि शुद्धेऽस्तं गता अदर्शनं प्राप्तास्ते

शब्दब्रह्मवादिन इत्यर्थः। तत्र परे ब्रह्मणि तेऽपृथग्धर्मिणो ब्रह्मैकस्वभावा अत एवापृथग्विवेक्याः पृथग्विवेक्तुमशक्याः पूर्ववद्भेदोल्लेखायोग्या इत्यर्थः। तत्रायं दृष्टान्तो यथा नानारसाः पृथक्स्वभावकुसुमरसा यथा मधुत्वं मध्वात्मत्वं सम्पन्नाः सन्तो न पृथग्विवेक्यास्तद्वदित्यर्थः। एवं ह्यत्रोदाहरणमाह श्रुतिः।

द्वे ब्रह्मणी वेदितव्ये शब्दब्रह्म परं च यत्।
शब्दब्रह्मणि निष्णातः परं ब्रह्माधिगच्छति ।।२२।।

द्वे ब्रह्मणी इति श्लोकः स्पष्टार्थः।।२२।।

इसके बाद अन्यत्र भी कहा गया है—शब्द [स्वरूप] और शब्दरहित—ये दो ब्रह्म [स्वरूप] ध्यान करने योग्य हैं। [ये दोनों स्वतन्त्र हैं अथवा उपाय और उपेयरूप हैं, इस विषय में आगे बतला रहे हैं-] तदनन्तर शब्दस्वरूप से ही अशब्द अथवा शब्दातीत ब्रह्म भी प्रकट किया जाता है। इन दोनों के मध्य ओङ्कार शब्द [संज्ञक ब्रह्म] है। इस [सर्वार्थवाचक शब्द की व्यापकता से साधक] ऊपर अर्थात् प्रपञ्च से ऊपर उठकर [वाच्यवाचकरूपता को पार करके] शब्दातीत परब्रह्म में [उसी प्रकार] लीन हो जाता है [जैसे नदियाँ समुद्र में लीन हो जाती हैं]। यह [ब्रह्म में एकता] ही परमगति अर्थात् फल है। अमरता अर्थात् मोक्ष भी यही है। [इसके द्वारा साधक] सायुज्यभाव तथा असीम आनन्द को प्राप्त कर लेता है। और जैसे मकड़ी [अपने मुँह से निकली लार के द्वारा] जाले को फैलाती हुई ऊपर उठती जाती है और निरङ्कुश विहार का स्थान पा लेती है, इसी प्रकार 'ओम्' का ध्यान करते हुए [साधक साधारण स्थिति से] ऊपर उठकर स्वतन्त्रता को प्राप्त कर लेता है। [कुछ साधक] अन्य प्रकार से [भी साधना करते हैं। वे] शब्दब्रह्मवादी कानों में अँगूठा लगाकर अर्थात् कानों को बन्द करके हृदयगत आकाश के भीतर के शब्द को सुन [ने का अभ्यास कर]ते हैं। उस [हृदयाकाश से उठनेवाले] शब्द की समानता सात प्रकार से [बतलाई जाती है-] जैसे नदियों [के प्रवाह की ध्वनि], छोटी घंटी या आभूषण [के बजने की ध्वनि], काँसे के पात्र [की ध्वनि], मेढकों [की टर्र-टर्र], रथ के पहिये [के चलने की ध्वनि], वर्षा की ध्वनि, पक्षियों [की चहचहाहट या घोड़ों की हिनहिनाहट], वायुरहित स्थान पर [किसी

व्यक्ति के] बोलने की आवाज। [इन ध्वनियों के सदृश अन्तराकाशगत जो शब्द है, उसी को कुछ ब्रह्मवेत्ता शब्दब्रह्म कहते हैं। विभिन्न उपमानों से अपनी पहचान करानेवाले ये शब्द अपनी-अपनी] पृथकता के चिह्नों को पार करके शब्दातीत (अव्यक्त) ब्रह्म में समाविष्ट हो जाते हैं। वहाँ उनके न तो पृथग्धर्म रह जाते हैं और न ही उनकी अलग से पहचान ही हो पाती है—जैसे विभिन्न [फूलों के] रस [मधुमक्षिका के द्वारा चुने जाने पर भी एक में मिलने पर] मधु (शहद) के रूप में परिणत हो जातें हैं। इसी प्रकार से कहा है—ब्रह्म के दो रूपों को जानना चाहिए। [इनमें से एक] शब्द ब्रह्म है और दूसरा परब्रह्म। शब्दब्रह्म में गोता लगाने के बाद [साधक] परब्रह्म का ज्ञान प्राप्त कर लेता है ।।२२।।

उक्तमेव शब्दाशब्दब्रह्मरूपं विभज्याशब्दब्रह्मस्वरूपं विशदयति—

अथान्यत्राप्युक्तं यः शब्दस्तदोमित्येतदक्षरं यदस्याग्रं तच्छान्तमशब्दमभयमशोकमानन्दं तृप्तं स्थिरमचलममृतमच्युतं ध्रुवं विष्णुसंज्ञितं सर्वापरत्वाय तदेता उपासीतेत्येवं ह्याह ।

यदोमित्येतदक्षरं तच्छब्दः शब्दाख्यं ब्रह्मेति योजना। यदस्य प्रणवाख्याक्षरस्याग्रं नादावसानस्थानं तच्छान्तं निर्विशेषमशब्दमशब्दाख्यं परं ब्रह्म। अभयमित्यादीनि तस्य स्वरूपलक्षणार्थानि विशेषणानि स्पष्टार्थानि। सर्वापरत्वाय सर्वस्मादपरत्वाय मोक्षाय तदेता एते उक्तलक्षणे ब्रह्मणी उपासीतेत्येवमस्मिन्नर्थे ह्याह।

योऽसौ परापरो देवा ओङ्कारो नाम नामतः।
निःशब्दः शून्यभूतस्तु मूर्ध्नि स्थाने ततोऽभ्यसेत् ।।२३।।

योऽसौ प्रसिद्धः परश्चापरश्च परापरब्रह्मदृष्ट्यर्हत्वाद्देवः परं ब्रह्म। कः। ओङ्कारो नाम नामतो योऽयं प्रसिद्धः स शब्दब्रह्मेत्यर्थः। यस्तु निःशब्दः परं ब्रह्माशब्दाख्यं शून्यभूतो निराकारत्वान्निर्विशेषः। तत एवंविधमात्मानं ब्रह्म मूर्ध्नि स्थाने सर्वोत्कृष्टे हृदयस्थानेऽथवा भ्रुवोर्घ्राणस्य च यः सन्धिः सोऽविमुक्ताख्यः श्रुत्यन्तरे प्रसिद्धस्तस्मिन् मूर्ध्नि स्थानेऽभ्यसेद्ध्यायीतेत्यर्थः।।२३।।

और अन्यत्र भी कहा गया है—यह ओङ्कार अक्षर ही शब्दब्रह्म है। इस प्रणव संज्ञक अक्षर का अग्रभाग (अर्थात् नादावसानस्थान अथवा अकार) शान्त, शब्दरहित, भयरहित, शोकरहित, आनन्दमय, सन्तुष्ट, स्थिर, अचल, अमृत, अच्युत, ध्रुव और विष्णु कहलाता है, ब्रह्म के सम्पूर्ण अपर अर्थात् शब्दातीत स्वरूप का अनुभव प्राप्त करने के लिए इसकी उपासना करनी चाहिए। इसी प्रकार से यह कहा गया है—

यह जो परात्पर देव अर्थात् परब्रह्म है, उसी का नाम है ओङ्कार। अभिप्राय यह कि यही शब्दब्रह्म है और जो निःशब्द परंब्रह्म है, निराकार है, उसका अभ्यास मूर्धा[1] में [या सर्वोत्कृष्ट स्थान हृदय में] करना चाहिए ।।२३।।

पूर्वोक्तप्रकारेण यथानिर्दिष्टं ब्रह्मोपासितवतो गतिं साधनविशेषो-पदेशपूर्वकमाह। यद्वा 'द्वे वाव ब्रह्मणी अभिध्येये' इत्यस्मिन्ननुवाके स्वमतेन शब्दब्रह्म प्रणवाख्यमुक्तं तन्निष्ठायां प्रकारविशेषमुपदिशन्नु-पासनाफलप्रकारमाह—

अथान्यत्राप्युक्तं धनुः शरीरमोमित्येतच्छरः शिखाऽस्य मनस्तमो-लक्षणं भित्त्वा तमोऽतमाविष्टमागच्छत्यथाऽऽविष्टं भित्त्वा

धनुः कोदण्डः प्रसिद्धं शरीरम्। ओमित्येतदक्षरं शरः, अस्य शरस्य शिखाऽग्रं शल्यस्थानीयं मनः, तमो भ्रन्तिज्ञानं लक्षणं सद्भावज्ञापकं यस्य तत्तमोलक्षणं तमो मूलाज्ञानं भित्त्वा शरप्रयोगेण लक्ष्यतमोभेदनं कृत्वा। अतमाविष्टं सन्धिश्छान्दसः। अतम आविष्टं तम आवेशनरहितं सङ्घाता-द्विविक्तमात्मानमागच्छति मनोरूपं शराग्रं तस्मिन्निवेशयतीत्यर्थः। एतदुक्तं भवति सम आसन आसीनः सममूर्ध्वं धृतं शरीरं धनुरिव किञ्चिद्वक्षसि चिबुकारोपणेनाऽऽयम्य तस्मिन् प्रणवं घोषवन्तं शरमिवाऽऽविष्कृत्य तस्य नादलयस्थाने मनः शरशल्यमिव बद्ध्वा तेन प्रणवशराग्रेण मनसाऽऽवरणं सविक्षेपमज्ञानं विदार्य तदाश्रयविषयतयोपलक्षितमात्मानं प्रवेशयेत्तन्मन

---

१. टीकाकार रामतीर्थ के अनुसार मूर्धा से यहाँ अभिप्राय हृदय है या दोनों भौंहों के बीच नासिका के ऊपर का स्थान है। अन्य ग्रन्थों में इसे ही 'अविमुक्त' कहा गया है।

इति। अथानन्तरमाविष्टं पूर्वमज्ञानाविष्टमात्मानमहङ्कारास्पदं भित्त्वा द्रष्टृरूपं दृश्यसापेक्षं विदार्य ब्रह्मापश्यदिति सम्बन्धः।

तस्य ब्रह्मण आत्माभेदत्वख्यापनाय पुंलिङ्गैर्विशेषणैस्तद्विशिनष्टि—

अलातचक्रमिव स्फुरन्तमादित्यवर्णमूर्जस्वन्तं ब्रह्म

अखण्डाकारस्फुरणेऽलातचक्रदृष्टान्तः। आदित्यवर्णमिति सर्वदृश्याभिभावकप्रकाशात्मत्वमादित्यरूपसादृश्यमुच्यते। ऊर्जस्वन्तमूर्जो रसस्तद्वन्तमानन्दरसमिति यावत्। तथा च श्रुतिः 'रसो वै सः। रसं ह्येवायं लब्ध्वाऽऽनन्दी भवति' (तैत्तिरीयो०) इति।

तमसः पर्यमपश्यत् ।

परत्रेतं पर्यं पारं तमसः परस्तादतमस्कमित्यर्थः। एवंभूतमात्मानं ब्रह्मापश्यत्पश्यतीत्यर्थः।

'यदादित्यगतं तेजो जगद्भासयतेऽखिलम् ।

यच्चन्द्रमसि यच्चाग्नौ तत्तेजो विद्धि मामकम्' ।। (गीता)

इति स्मृतेर्मूलभूतेन वाक्येन प्रकाशमात्रमस्य स्वाभाविकं स्वरूपं सर्वत्रोपलक्षणीयमित्यभिप्रेत्याऽऽह—

यदमुष्मिन्नादित्येऽथ सोमेऽग्नौ विद्युति विभा-
त्यथ खल्वेनं दृष्ट्वाऽमृतत्वं गच्छतीत्येवं ह्याह ।

अथैवं ब्रह्मात्मदर्शनसमये खल्वेनमात्मानं दृष्ट्वा ब्रह्माभेदेन साक्षात्कृत्यामृतत्वं गच्छति मुक्तो भवतीत्येवं ह्याहेति पूर्ववत् ।

ध्यानमन्तः परे तत्त्वे लक्ष्येषु च निधीयते।
अतोऽविशेषविज्ञानं विशेषमुपगच्छति।।

अन्तः प्रतीचि सर्वान्तरे परे तत्त्वे परे ब्रह्मणि ध्यानं निधीयते लक्ष्येषु च प्रथमं शरीरप्रणवमनस्तल्लयस्थानेषु च ध्यानं निधीयते क्रियते कुर्यादित्यर्थः। अतो ध्यानादविशेषविज्ञानमस्फुटोऽनुभव विशेषं स्फुटत्वमुपगच्छति।

स्फुटतरसाक्षात्कारोदये सति यदात्मनाऽवस्थानं सा मुक्तिरित्येतदाह—

मानसे च विलीने तु यत्सुखं चाऽऽत्मसाक्षिकम् ।
तद्ब्रह्म चामृतं शुक्रं सा गतिर्लोक एव सः ।।२४।।

मानसे मन:परिणामरूपेऽहङ्कारग्रन्थौ विलीने प्रलयं गते चकारात्तद्वासनायां च विलीनायाम्। तुशब्द: सुषुप्तेर्विशेषणार्थ:। यत्सुखं चकाराद्धेतुमत्त्वशङ्का व्यावर्त्यते। नित्यं यत्सुखमात्मसाक्षिकं स्वयमेव स्फुरन्न वेद्यमिति यावत्। तदेव ब्रह्म चकारादात्मा च। कीदृशममृतमविनश्वरं शुक्रं दीप्तिमज्ज्ञानस्वभावम्। यदेवंविधं ब्रह्मात्मतत्त्वं सा गति: पुरुषार्थ:। स एव लोक: फलं सर्वसाधनानामित्यर्थ:।।२४।।

इसके अनन्तर अन्यत्र भी कहा गया है—[साधक का] यह शरीर धनुष है। 'ओम्' अक्षर बाण है, उसका [अर्थात् साधक का] मन बाण की शिखा है, [इसके द्वारा वह अज्ञानमय] अन्धकाररूप लक्ष्य का भेदन करके, अन्धकार से मुक्त होकर, अन्धकार से अनावृत [आत्म-स्वरूप] तक पहुँच जाता है। [टीकाकार रामतीर्थ के अनुसार समतल आसन पर बैठा हुआ साधक अपने शरीर को कुछ-कुछ धनुष के समान बनाकर, वक्षस्थल पर ठोढ़ी को सटाकर, शरीर को खींचकर, उसमें प्रणवमन्त्र के नाद को बाण की तरह व्यक्त करके, उस नाद के लय स्थान पर अपने मन को बाण की नोंक की तरह केन्द्रित करके, उससे अज्ञान को फाड़कर अपनी आत्मा में मन को प्रविष्ट करे।] तदनन्तर आविष्ट अर्थात् अहङ्कार का भेदन करके, अलातचक्र (जलते हुए लकड़ी के पहिये) के समान चमचमाते हुए, आदित्य के वर्णवाले, परम ऊर्जस्वी ब्रह्म का साक्षात्कार [साधक] अन्धकार से परे करता है। [उस ब्रह्म का तेज] वैसा ही है जैसी आदित्य, सोम, अग्नि अथवा विद्युत् में चमकती हुई विभा होती है। ब्रह्मात्मदर्शन के बाद [साधक] अमरता अर्थात् मोक्ष को प्राप्त कर लेता है। इसे इसी प्रकार से कहा गया है—

[साधक] अपने अन्त:करण में परब्रह्म पर ध्यान केन्द्रित करता है—उसके ध्यान के लक्ष्यों में [शरीर, प्रणव, मन और नाद के लय स्थान हैं]।

इससे [उसका] सामान्य अनुभव विशेष रूप से स्फुट हो जाता है। [ध्यान की इस प्रक्रिया के माध्यम से जब साधक का] मन विलीन[1] हो जाता है, तो उसे आत्मसाक्षात्कार के माध्यम से जो सुख मिलता है, वह ब्रह्म है, अमृत है, उज्ज्वल है, वही [उस साधक की] गति है और वही [उसका] लोक है ।।२४।।

इदानीमुक्तां विद्यामनूद्य तद्वन्तं प्रशंसन् विद्यामेव मही करोति—

अथान्यत्राप्युक्तं निद्रेवान्तर्हितेन्द्रियः शुद्धितमया धिया स्वप्न इव यः पश्यतीन्द्रियविलेऽविवशः प्रणवाख्यं प्रणेतारं भारूपं विगतनिद्रं विजरं विमृत्युं विशोकं च सोऽपि प्रणवाख्यः प्रणेता भारूपो विगतनिद्रो विजरो विमृत्युर्विशोको भवतीत्येवं ह्याह।

निद्रेव निद्रित इव सुषुप्त इवान्तर्हितेन्द्रियः प्रविलीनेन्द्रियवृत्तिर्न निद्रावानित्यर्थः। तथा स्वप्न इव स्वप्नदृगिवेन्द्रियबिल इन्द्रियाणां निवासस्थाने देहेऽविवशः स्थूलदेहाभिमानशून्य इति यावन्न त्वयं स्वप्नदृगेवेत्यर्थः। अनेनैव देहाभिमानराहित्येन जाग्रदप्ययं नेत्युक्तप्रायं द्रष्टव्यम्। तथा चैवमवस्थात्रयातीतो लयविक्षेपरहितया शुद्धितमयाऽतिशयेन शुद्धिमत्या धिया प्रसन्नबुद्ध्या यः प्रणवाख्यं प्रणवैकात्मतामापन्नं प्रणेतारं पश्यति सोऽपि तदात्मा भवतीति योजना—'तं यथा यथोपासते तदेव भवति' इति श्रुतेः। प्रणेताऽन्तर्यामीश्वरस्तं प्रणेतारमन्तर्यामित्वेनोपलक्षितमित्यर्थः। भारूपं ज्ञानप्रकाशस्वरूपमित्यनेन स्वरूपलक्षणमुक्तम्। विगतनिद्रमित्यविद्यातत्कार्यरूपावरणविक्षेपाज्ञानरहिततया कूटस्थत्वमुच्यते। विजरं विमृत्युमिति स्थूलसङ्घातधर्मतत्त्वनिरासेन ततो विविक्तत्वमुच्यते। विशोकमित्यन्तःकरणधर्मराहित्यम्। चकारात्प्राणधर्मक्षुत्पिपासाराहित्यं गृह्यते। एतेन सूक्ष्मसङ्घातादपि विविक्ततोक्ता। तथा च कार्यकारणप्रपञ्चातीतं यथोक्तविशेषणं लयविक्षेपरहिततयाऽवस्थात्रयातीतया बुद्ध्या योऽनुभवति सोऽपि प्रणवाख्य इत्याद्युक्तात्मको भवतीत्येवं ह्याह।

---

१. रामतीर्थ के अनुसार मन के विलीन होने का तात्पर्य है उसकी वासना और अहङ्कार-ग्रन्थि का विलीन हो जाना।

एवं प्राणमथोङ्कारं यस्मात्सर्वमनेकधा।
युनक्ति युञ्जते वाऽपि तस्माद्योग इति स्मृतः ।।

किम्? एवं यथोक्तप्रकारेण प्राणं प्रणेतारमात्मानम्। अथ तथोङ्कारमोङ्कारात्मनैकीकृतं तत्त्वं प्रति यस्मादनेकधाऽनेकप्रकारं स्थूलसूक्ष्म-कारणात्मकं सर्वं जगद्युनक्ति योजयति प्रविलापयति कश्चित्। युञ्जते वाऽपि स्वयमेव वा विलीयमानं युञ्जते योजयन्ति वा केचित्। तस्मादियं निष्ठा योग इति स्मृतः कथितो योगज्ञैरित्यर्थः।

सिद्धनिष्ठाफलरूपं योगमुपलक्ष्य तत्साधकनिष्ठासाधकरूपं योगं लक्षयति—

एकत्वं प्राणमनसोरिन्द्रियाणां तथैव च ।
सर्वभावपरित्यागो योग इत्यभिधीयते ।।२५।।

प्राणादीनामेकत्वमेकविषयप्रवणतया प्रत्यक्प्रवाहकरणम्। सर्वभावपरित्यागः सर्वेषु क्रियाकारकफलेषु भावपरित्यागः सत्त्वबुद्धित्यागः। अथवा सर्वविषयको यो भावो भावनासंस्कारस्तस्य परित्यागः। अविषयात्मतत्त्वज्ञानाभ्यासेन बाह्यविषयवासनाभिभव इत्यर्थः।।२५।।

सोये हुए [व्यक्ति] के सदृश [अपनी] इन्द्रियों को भीतर ही भीतर समेट लेनेवाला [साधक], परमशुद्ध बुद्धि से, स्वप्न के सदृश, [इन्द्रियों की] पराधीनता से मुक्त होकर, इन्द्रियों की गहराई में, प्रणवसंज्ञक अन्तर्यामी (प्रणेता) को देखता है, जो प्रकाशरूप, निद्रा एवं वृद्धावस्थारहित तथा मृत्यु और शोक से परे है। [इस साक्षात्कार के बाद] वह [साधक स्वयं] भी प्रणवसंज्ञक प्रणेता, प्रकाशरूप, निद्रा एवं वृद्धावस्था से रहित तथा मृत्यु एवं शोक से परे हो जाता है। इसी प्रकार से कहा है—

[योग को] योग इसलिए कहा गया है कि उसमें इस [पूर्वोक्त] प्रकार से [साधक] प्राण, ओङ्कार और अनेक रूपात्मक समस्त [विश्व] को [एक साथ] जोड़ता है अथवा [ये सभी उसके लिए अपने को] जोड़ते हैं। [योग को] योग इसलिए कहा जाता है; क्योंकि इसमें प्राण, मन और इन्द्रियों की एकता हो जाती है और [अन्य] समस्त [हानिकारक मनो-] भावों का परित्याग हो जाता है ।।२५।।

पुनः प्रकारान्तरेण प्रणवनिष्ठायां भावनाविशेषं योगान्तरमाह—

अथान्यत्राप्युक्तं यथा वाऽप्सुचारिणः शाकुनिकः सूत्रयन्त्रेणोद्धृत्योदरेऽग्नौ जुहोत्येवं वाव खल्वि-मान्प्राणानोमित्यनेनोद्धृत्यानामयेऽग्नौ जुहोति।

यथा वा लोके कश्चिच्छाकुनिकः शकुनोपजीवी किरातकैवर्तादि-रप्सुचारिणो मत्स्यादीन् सूत्रयन्त्रेण जालसूत्रेणोद्धृत्योदर उदरस्थेऽग्नौ जुहोति जाठराग्निसात्करोत्येवं वावैवमेव खल्विमान् प्राणाञ्जलचर-स्थानीयान् देहान्तर्विचरतः सर्वानेव मुख्यामुख्यरूपानोमित्यनेनाक्षरेण जालसूत्रस्थानीयेन सर्वार्थसङ्ग्रहसमर्थेनोद्धृत्य पृथक्कृत्यानामये निर्दोषे ब्रह्मात्माग्नौ जुहोति तदात्मसात्करोतीत्यर्थः। उद्धृत्य होमे दृष्टान्तमुक्त्वा हुतस्याग्निग्रस्ततयाऽग्निमयत्वे दृष्टान्तमाह—

अतस्तप्तोर्वीव सः ।

अतो होमानन्तरं स आत्मरूपोऽनामयोऽग्निस्तप्तोर्वीवोर्वीशब्देनो-र्वीजं भाण्डमुच्यते यथा घर्मे महावीराख्यं भाण्डं तप्तं तादृशः स इत्यर्थः।

दृष्टान्तं विवृणोति—

अथ यथा तप्तोर्विसर्पिस्तृणकाष्ठसंस्पर्शेनोज्ज्वलतीत्येवं वाव खल्वसावप्राणाख्यः प्राणसंस्पर्शेनोज्ज्वलति ।

तप्ता, उर्वी, आधारो यस्य तत्तप्तोर्वि तच्च तत्सर्पिश्चेति विग्रहः। तद्यथा तृणादिसंस्पर्शेनोज्ज्वलत्यूर्ध्वज्वालं जायत एवमित्यादिदार्ष्टान्ति-कोक्तिः। एवं वावैवमेव खल्वसावप्राणाख्यः प्राणादिसङ्घाताद्विविक्ततया प्राणाख्यामलभमान आत्माग्निः प्राणसंस्पर्शेनोज्ज्वलति प्रकटी-भवतीत्यर्थः। एतदुक्तं भवति यथा सन्तप्ते भाण्डे विद्यमानोऽप्यग्निर्न स्वरूपेण संदृश्यते घृतेनोद्दीपितः संस्तदक्ततृणादिसम्बन्धे यथावद्दृश्यत एवमसावात्मा देहसंस्थो न यथावदवभासते प्राणादिप्रपञ्चप्रविलापने सति विलीयमानप्रपञ्चानुगतचिदाभासद्वारा यथावदवभासत इति। अथवा पूर्वोक्त-

स्याऽऽत्मनो यदग्निरूपकत्वमुक्तं तद्दृष्टान्तेन प्रपञ्चयति—तप्तोर्वीव स इत्यादिना। तप्तोर्विशब्देन तत्स्थं घृतं लक्ष्यते, तद्यथा स्वोर्व्या सह तप्यमानं स्वसंसर्गि सर्वं तृणादिकं सन्तपदभिज्वलत्येवमयमप्राणाख्य आत्मा चिदाभासव्याप्तं देहद्वयं सन्तपँस्तत्संसृष्टं सर्वमेव जगदभिज्वलयति प्रकाशयतीत्यग्नित्वेन रूपकमुक्तमिति।

अस्यैव सर्वोत्पत्तिस्थितिलयकारणत्वेन सर्वात्मत्वमाविष्करोति—

अथ यदुज्ज्वलत्येतद्ब्रह्मणो रूपं चैतद्विष्णोः परमं पदं चैतद्रुद्रस्य रुद्रत्वमेतत्तदपरिमितधा चाऽऽत्मानं विभज्य पूरयतीमाँल्लोकानित्येवं ह्याह।

एतद्ब्रह्मणो हिरण्यगर्भस्य स्रष्टू रूपं स्वरूपं विष्णोः पालकस्य परमं पदं स्वरूपमेतदेव च रुद्रस्य संहर्तू रुद्रत्वं स्वरूपमेतदेव तदात्मरूपं ब्रह्मापरिमितधा चाऽऽत्मानं विभज्य देवतिर्यङ्मनुष्यादिभेदेनाविद्ययाऽऽत्मानमनेकधा विभज्येमाँल्लोकान् पूरयतीत्येवं ह्याह।

वह्नेश्च यद्वत्खलु विस्फुलिङ्गाः सूर्यान्मयूखाश्च तथैव तस्य ।
प्राणादयो वै पुनरेव तस्मादभ्युच्चरन्तीह यथाक्रमेण ।।२६।।

पूर्वार्धं स्पष्टार्थम्। प्राणादयो वै प्रसिद्धाः पुनरेवेति सुषुप्तिप्रलययोः प्रलीनाः पुनः पुनस्तस्मादभ्युच्चरन्तीह प्रबोधसृष्ट्योर्यथाक्रमेण पूर्वसृष्टिक्रमेणेत्यर्थः। तथा च श्रुत्यन्तरे—'यथाऽग्नेः क्षुद्रा विस्फुलिङ्गा व्युच्चरन्त्येवमेवास्मादात्मनः सर्वे प्राणाः सर्वे लोकाः सर्वे देवाः सर्वाणि भूतानि व्युच्चरन्ति' (बृहदा० अ० ४) इति ।।२६।।

और [इसी प्रकार से] अन्यत्र भी कहा गया है—जैसे मछेरा जल में रहनेवाले [मछली इत्यादि] जीवों को जाल के द्वारा पकड़कर पेट की आग में [उनसे] होम करता है [अर्थात् उन्हें खा लेता है], इसी प्रकार [साधक] इन प्राणों को ओङ्कार [-साधना] के माध्यम से ऊपर उठाकर [आत्मा अथवा ब्रह्मरूपी] निर्दोष अग्नि में होम करता है। इसलिए वह साधक तपी हुई पृथ्वी [-यज्ञ-वेदी] की तरह हो जाता है। और जैसे तपी हुई भूमि [-वेदी] पर डाला गया घी तृणों और लकड़ियों के साथ [आग

के संस्पर्श से] जलने लगता है, इसी प्रकार यह अप्राण नामक तत्त्व अर्थात् आत्मा प्राण के संस्पर्श से प्रदीप्त हो उठता है और यह जो प्रज्वलित होता है, [वह] ब्रह्म का रूप है। यही विष्णु का सर्वोच्च स्थान है। यही रुद्र का रौद्रस्वरूप है। यही अपने को असंख्य रूपों में विभाजित करके इन सभी लोकों को व्याप्त कर लेता है। इसी प्रकार से कहा गया है—

जिस प्रकार अग्नि से चिनगारियाँ [छिटकती हैं] तथा सूर्य से किरणें [निकलती हैं] उसी प्रकार प्राण इत्यादि भी उसी [ब्रह्म] से बार-बार क्रमश: ऊपर आते हैं[१] ।।२६।।

इदानीं प्रकारान्तरेण हृद्यन्तर्ज्योतिषमात्मानमुपलम्भयन् सफलामात्मनिष्ठामुपदिशति—

अथान्यत्राप्युक्तं ब्रह्मणो वावैतत्तेजः परस्यामृतस्य।

ब्रह्मणो वाव परमात्मन एवैतद्वक्ष्यमाणं तेज:। किंलक्षणस्य परस्य सर्वदृश्यस्वभावातीतस्यात एवामृतस्य जन्मादिमरणान्तविक्रियारहितस्येति यावत्।

स्वत: परममृतमपि ब्रह्मतेज: शरीरसम्बन्धाद्विपरीतं स्यादित्यतो विशिनष्टि—

अशरीरस्यौष्ण्यमस्यैतद्घृतम् ।

शरीरसम्बन्धरहितस्य। न हि निरवयवस्यासङ्गस्य जतुकाष्ठवच्छरीरसंश्लेषोऽस्तीति भाव:। एवंविधस्य ब्रह्मणो वावैतत्तेज इति सम्बन्ध:। किं तदित्याह—यच्छरीरस्यौष्ण्यं शरीरसम्बन्ध्याग्नेयं यदौष्ण्यमुपलभ्यते स्पर्शनेन प्रत्यक्षेण यद्ब्रह्मणस्तेज इत्यर्थ:। तथा च च्छान्दोग्ये—'यदत: परो दिवो ज्योतिर्दीप्यते' इत्युपक्रम्य 'इदं वाव तद्यदिदमस्मिन्नन्त:पुरुषे ज्योतिस्तस्यैषा दृष्टिर्यत्रैतदस्मिञ्शरीरे संस्पर्शेनोष्णिमानं विजानाति' इति। अस्य तेजस एतत्प्रसिद्धं शरीरं घृतम्। अनेन हि तद्ब्रह्मतेजोऽन्यत्राप्रकाशमानमग्निरिव घृतेन दीप्यते।

---

१. बृहदारण्यकोपनिषत् (२.१.२०) में भी इसी प्रकार का कथन उपलब्ध होता है—'यथाऽग्नेः क्षुद्रा विस्फुलिङ्गा व्युच्चरन्त्येवमेवास्मादात्मनः सर्वे प्राणाः सर्वे लोकाः सर्वे देवाः सर्वाणि भूतानि व्युच्चरन्ति'।

एवं सामान्येन देहगतौष्ण्यात्मना ब्रह्मतेजः सम्भावनापदं नीतमिदानीं तस्य साक्षात्कारपदवीमुपदिशति—

अथाऽऽविः सन्नभसि निहितं वैतदेकाग्रेणैवमन्तर्हृदयाकाशं विनुदन्ति यत्तस्य ज्योतिरिव सम्पद्यतीत्यतस्तद्भावमचिरेणैति

अथैवं सम्भावितं तत्तेज आविः प्रकटं सन्नभसि हृदयाकाशे निहितं स्थित वै निश्चितं सर्वश्रुतिष्वेतदित्यर्थः। तथा च मुण्डके—'आविः सन्निहितं गुहाचरं नाम महत्पदम्' इति। तत्तेज एवमुक्तप्रकार-मुद्दिश्यान्तर्हृदये हृदयपुण्डरीके यदाकाशं तदेकाग्रेण चित्तसमाधानेन विनुदन्ति विशेषेण नुदन्ति हृदयपुण्डरीकविकासनेन तत्स्थमाकाश-माविष्कुर्वन्तीत्यर्थः। एवं क्रियमाणे तस्याऽऽकाशस्य सम्बन्धि यज्ज्योतिरिव प्रकाश इव नित्यसिद्धमप्यावरणतिरोधानमात्रापेक्षयो-द्भूतप्रकाश इव सम्पद्यति सम्पद्यतेऽभिव्यक्तं जायत इत्यर्थः। इति यतः स्वतः सिद्धं तेजोऽभिव्यज्यतेऽतस्तद्भावं तस्य तेजसो भावं स्वभाव-मचिरेणाल्पकालेन सद्य एवैति प्राप्नोत्युपासकः। तस्य प्रत्यग्रूपत्वेन नित्यप्राप्तत्वात्तदावरणतिरोधानमात्रमपेक्ष्य प्राप्तिरुपचर्यत इति भावः।

तत्रोपाध्याकारप्रतिबन्धनिवृत्त्याऽचिरेण स्वस्वरूपापत्तौ दृष्टान्तमाह—

भूमावयस्पिण्डं निहितं यथाऽचिरेणैति भूमित्वम् ।

भूमौ निहितमन्तर्भूमौ निक्षिप्तमयस्पिण्डं पिण्डीभूतमयो यथाऽचिरेण भूमित्वं मृद्भावमुपैति गच्छति मृदेव भवतीत्यर्थः।

तथा सम्यक्स्वरूपापन्नस्य पुनरनुत्थानमेवेत्यत्रापि दृष्टान्तमाह—

मृद्वत्संस्थमयस्पिण्डं यथाऽग्न्ययस्कारादयो नाभिभवन्ति।

मृद्वत्साक्षान्मृत्तिकेव संस्था स्थितिर्यस्य तन्मृद्वत्संस्थम्। अत्र वतिप्रयोग उक्तिभङ्गीमात्रपरो मृदात्मना स्थितमित्यर्थः। यथा मृदात्मतां गतमयस्पिण्ड-मग्न्ययस्कारादयो नाभिभवन्त्यग्निना प्रागयस्पिण्ड इव तस्मिन्नभिव्यक्त-प्रकाशेन न दह्यते न वाऽयस्कारैर्लोहकारैर्विकारीक्रियत इत्यर्थः।

दार्ष्टान्तिकमाह—

प्रणश्यति चित्तं तथाऽऽश्रयेण सहैवमित्येवं ह्याह ।

यथेमौ दृष्टान्तौ तथा चित्तं चित्तस्थश्चिदाभासो जीवाख्य आश्रयेणोपाधिना चित्तेन सह प्रणश्यति निराभासज्योतीरूपमापद्यत इत्यर्थः। यद्वा चित्तं साभासमन्तःकरणमाश्रयेण वासनात्मकलिङ्गेन सह प्रणश्यति प्रकर्षेण नश्यत्युच्छिन्नसंस्कारं भवति पुनर्नोत्पत्त्यर्हं भवतीत्यर्थः। एवमेवैतन्नान्यथेत्येवमर्थमाह श्लोक इत्यर्थः।

हृद्याकाशमयं कोशमानन्दं परमालयम् ।
स्वं योगश्च ततोऽस्माकं तेजश्चैवाग्निसूर्ययोः ।।२७।।

हृद्याकाशमयमाकाशवदसङ्गं यद्वा हृदये यदाकाशं तत्स्वरूपं हृद्याकाशमयम्। कोशो भाण्डागारस्तद्वत्सर्ववस्त्वाश्रयत्वात्। कोशमिव कोशं लिङ्गव्यत्ययश्छान्दसः। तथा च हार्दाकाशं प्रकृत्य श्रुत्यन्तरम्— 'उभे अस्मिन् द्यावापृथिवी अन्तरेव समाहिते उभावग्निश्च वायुश्च सूर्याचन्द्रमसावुभौ विद्युन्नक्षत्राणि यच्चास्येहास्ति यच्च नास्ति सर्वं तदस्मिन् समाहितम्' (छा० अ० ८) इति। आनन्दयतीत्यानन्दम्। 'एष ह्येवाऽऽनन्दयति' इति श्रुतेः। परमालयमासमन्ताल्लीयतेऽस्मिन् सर्वमित्यालयं परमं च तदालयं च परमालयं मुक्तिरूपमित्यर्थः। एवंभूतं यद्ब्रह्मरूपं तेजस्तदस्माकं स्वं स्वरूपं योगश्च युज्यत इति योगः फलं पुरुषार्थः सोऽप्येतदेवेति योजना। यत एवमतोऽस्य सर्वात्मकत्वादग्निसूर्ययोश्च तेज एतदेवेत्यर्थः। तथा च भगवद्वचनम्—

"अविभक्तं च भूतेषु विभक्तमिव च स्थितम् ।
भूतभर्तृ च तज्ज्ञेयं ग्रसिष्णु प्रभविष्णु च ।।
ज्योतिषामपि तज्ज्योतिस्तमसः परमुच्यते"[१] इति ।।२७।।

---

१. गीता में भी इसी प्रकार का कथन उपलब्ध होता है—

अविभक्तं च भूतेषु विभक्तमिव च स्थितम् ।
भूतभर्तृ च तज्ज्ञेयं ग्रसिष्णु प्रभविष्णु च ।।
ज्योतिषामपि यज्ज्योतिः तमसः परमुच्यते ।।

और अन्यत्र भी कहा गया है—यह जो शरीर की ऊष्मा (गर्मी) है, वह उसी अमृत और अशरीरी परब्रह्म का ही तेज है। यह शरीर उस [तेज] का घृत है। यह तेज प्रकट होकर हृदयाकाश में निहित रहता है। एकाग्रता [के अभ्यास] से [साधक] हृदयाकाश को परिचालित करते हैं, जिससे वह ज्योतिर्मय-सा हो उठता है और [साधक] शीघ्र ही उस भाव अर्थात् ज्योतिष्मत्ता के साथ एकात्मता को प्राप्त कर लेता है। जैसे जमीन के नीचे गाड़ा गया लोहे का टुकड़ा शीघ्र ही मिट्टी में मिल जाता है और फिर लुहार आग में उसे नहीं तपाते [अर्थात् वह उनके काम का नहीं रह जाता], इसी प्रकार इसके सहारे [साधक के] चित्त [में स्थित वासनाएँ] पूरी तरह नष्ट हो जाती हैं। इसी प्रकार से कहा गया है—

हृदयाकाश में स्थित कोश आनन्दमय परमधाम है, वह हमारा अपना [आश्रय] है, वही हमारी योग [-साधना का लक्ष्य] है। वह अग्नि और सूर्य के तेज के सदृश प्रकाशमय है।।२७।।

इदानीमुक्तस्य ब्रह्मतेजस उपलम्भे योगविशेषमुपदिशति—

अथान्यत्राप्युक्तं भूतेन्द्रियार्थानतिक्रम्य ततः प्रव्रज्याज्यं धृतिदण्डं धनुर्गृहीत्वाऽनभिमानमयेन चैवेषुणा तं ब्रह्मद्वारपारं निहत्याऽऽद्यं

भूतपदेन तत्सङ्घातो देहो गृह्यते। इन्द्रियाणि प्रसिद्धानि। अर्थाः शब्दादयो विषयाः। देहेन्द्रियविषयानतिक्रम्य तेष्वहंममाभिमानं त्यक्त्वा ततोऽनन्तरं प्रव्रज्या संन्यास एव ज्या यस्य तत्प्रव्रज्याज्यं धृतिधैर्यं दण्डः काण्डं यस्य तद्धृतिदण्डमेवंविधं धनुर्गृहीत्वा धैर्यमास्थाय तस्मिन्नसङ्गता-लक्षणां ज्यामारोप्येत्यर्थः। तस्मिन् धनुषि संहितेनानभिमानमयेन चकाराद्विवेकशितेन चेषुणैव विद्याचारकुलादिनिमित्ताभिमानपरित्यागात्मकेन दृग्दृश्यविवेकोपकृतेन च यथोक्तानभिमानमयेन यथोक्तविवेकतीक्ष्णेनेषुणेति यावत्। तमाद्यमिति सम्बन्धः। तं प्रसिद्धमाद्यं सर्वानर्थकारणमहङ्काराख्यं ब्रह्मद्वारपारं हार्दस्य ब्रह्मणः प्राप्तिद्वारस्य पारं पालं रलयोरभेदाद्द्वार-निरोधकरमित्यर्थः। एवंभूतं निहत्य हत्वा ब्रह्मशालां विशेदित्युत्तरत्र सम्बन्धः।

सङ्ग्रहेणोक्तं विवृण्वती श्रुतिरहङ्कारस्य हन्तव्यत्वे हेतुं सूचयति—

सम्मोहमौली तृष्णेर्ष्याकुण्डली तन्द्रीराघवेत्र्यभिमानाध्यक्षः क्रोधज्यं प्रलोभदण्डं धनुर्गृहीत्वेच्छामयेन चैवेषुणेमानि खलु भूतानि हन्ति तं हत्वोङ्कारप्लवेनान्तर्हृदयाकाशस्य पारं तीर्त्वाऽऽविर्भूतेऽन्तराकाशे शनकैः,

सम्मोहो मिथ्याज्ञानं मौलिरुष्णीषमस्यास्तीति सम्मोहमौली। तृष्णा विषयचापलमीर्ष्या परोत्कर्षासहनं च कुण्डले यस्य विद्येते स तृष्णेर्ष्याकुण्डली। तन्द्री सत्कर्मस्वालस्यमिरा निद्राऽघं पापं चेत्येतानि वेत्रं यष्टिविशेषो यस्य स तन्द्रीराघवेत्री। अभिमानः स्वोत्कर्षाभिनिवेशस्तस्याध्यक्षोऽधिष्ठाय प्रवर्तयिता प्रागुक्तोऽहङ्कारः साभासः स क्रोधज्याकं प्रलोभदण्डं धनुर्गृहीत्वेच्छामयेन स्वच्छन्दापरपर्यायवाच्यरूपेण चकारादविवेकनिशितेन चैवेषुणेमानि प्रसिद्धानि खलु भूतानि स्थावरजङ्गमात्मकानि हन्ति पीडयति तमेनं सर्वपीडाकरत्वाद्धन्तव्यं हत्वोन्मूल्योङ्कारप्लवेन तरणसाधनेनान्तर्हृदयाकाशस्य सर्वजगदाश्रयतयाऽव्याकृताख्यस्य पारं परतीरं तदधिष्ठानं सर्वसाक्षिभूतं तीर्त्वा प्राप्याऽऽविर्भूतेऽन्तराकाशे ब्रह्माकारेऽभिव्यक्ते सति शनकैः शनैरसम्भ्रमेण ब्रह्मशालां विशेदिति सम्बन्धः।

शनैरस्तदनुप्रवेशे दृष्टान्तमाह—

[१]अवटैवावटकृद्धातुकामः संविशत्येवं ब्रह्मशालां विशेत्ततश्चतुर्जालं ब्रह्मकोशं प्रणुदेद्गुर्वागमेनेत्यतः शुद्धः पूतः शून्यः शान्तोऽप्राणो निरात्माऽनन्तोऽक्षय्यः स्थिरः शाश्वतोऽजः स्वतन्त्रः स्वे महिम्नि तिष्ठत्यतः स्वे महिम्नि तिष्ठमानं दृष्ट्वाऽऽवृत्तचक्रमिव[२] संसारचक्रमालोकयतीत्येवं ह्याह ।

---

१. 'अवटे + इव' में हुई सन्धि (अवटैव) मैत्रायणी शाखागत विशेष सन्धि-प्रक्रिया के अनुरूप है।

२. 'आवृत्तचक्रमिव संसारचक्रम् आलोकयति' की शतपथ ब्राह्मणगत 'यथा रथोपस्थे तिष्ठन् उपरिष्टाद् रथचक्रे पल्ल्यङ्गमाने उपावेक्षेत' (२.३. ३.१२) के साथ तुलना करने पर दोनों में विपुलसाम्य परिलक्षित होता है।

सन्धिवृद्धी छान्दसे। अवट इवेत्येतत्। यथा कश्चिद्धातुकामः सुवर्णादिधातूनन्तरभूमौ निहितान् कामयमानोऽवटकृद्गर्तकर्ताऽवटे तस्मिञ्शनैः संविशति प्रकटीभूतं धातुं पश्यन्नेव प्रादुर्भूतब्रह्मशालां ब्रह्मप्रकाशस्थानं साक्षित्वेनावशेषितं प्रत्यगेकरसमात्मानं विशेत्। ततस्तत्प्रवेशानन्तरं चत्वारि जालान्युपर्युपरि वेष्टनानि यस्मिंस्तच्चतुर्जालं ब्रह्मकोशं ब्रह्मणः कोशवदाच्छादकमन्नमयप्राणमयमनोमयविज्ञानमयाख्यैश्चतुर्भिः कोशैः परिवेष्टितमानन्दमयकोशं प्रणुदेत्प्रेरयेद्भिन्द्यादिति यावत्। केन साधनेन गुर्वागमेन गुरूपदिष्टेनाऽऽगमेन वेदान्तवाक्येनाऽऽनन्दमयकोशाश्रयं ब्रह्मैव प्रत्यगात्मेत्यागमाचार्याभ्यां निश्चित्य कोशेष्वात्माभिमानं त्यजेदित्येष क्रम इत्यर्थः। अतोऽनन्तरमतः कारणात्सर्वप्रतिबन्धनिवृत्तेरिति वा शुद्धः पूत इत्यादिविशेषणः स्वे महिम्नि तिष्ठति। अतोऽनन्तरं स्वे महिम्नि स्वस्वरूपे तिष्ठमानमवतिष्ठमानमात्मानं दृष्ट्वाऽऽवृत्तचक्रमिव परावृत्तचक्रमिव संसारचक्रमालोकयति यथा रथादुत्तीर्णो रथचक्रं परावृत्तव्यापारं दूरत एवावेक्षते कश्चित्तथा विद्वान् ब्रह्मसम्पन्नः संसारचक्रं दूरादेवावलोकयति न पूर्ववत्स्वसम्बन्धितयेत्यर्थः। इत्येवं ह्याह श्लोकाभ्यामुक्तमर्थजातमित्यर्थः।

षड्भिर्मासैस्तु युक्तस्य नित्यमुक्तस्य देहिनः।
अनन्तः परमो गुह्यः सम्यग्योगः प्रवर्तते ।।

नित्यमुक्तस्य जितेन्द्रियस्याभिमानशून्यस्य षड्भिर्मासैस्तु युक्तस्य योगनिरतस्य प्रागुक्तवर्त्मना प्रणवाभ्यासं कुर्वतो देहिनोऽनन्तः परमो गुह्यः सम्यग्योगः परमात्मसम्पत्तिलक्षणः प्रवर्तते सिध्यतीत्यर्थः।

रजस्तमोभ्यां विद्धस्य सुसमिद्धस्य[1] देहिनः ।
पुत्रदारकुटुम्बेषु सक्तस्य न कदाचन ।।२८।।

---

१. अन्तिम श्लोक में आये 'सुसमिद्धस्य' पद की व्याख्या टीकाकार रामतीर्थ ने भिन्न रूप में की है। उनके अनुसार इसका अर्थ है– विद्या, विनय और सदाचार से समुज्ज्वल।

सुसमिद्धस्य विद्याविनयाचारैः सुदीप्तस्यापि देहिनो रजस्तमोभ्यां गुणाभ्यां विद्धस्य परवशस्य तावमुञ्चतः पुत्रादिष्वत एव सक्तस्य न कदाचन सम्यग्योगः प्रवर्तत इत्यर्थः॥२८॥

और अन्यत्र भी कहा गया है—महाभूतों [से निर्मित देह] इन्द्रियों और उनके विषयों का अतिक्रमण करके अर्थात् उन्हें पार करके [साधक] संन्यासरूपी प्रत्यञ्चा वाले और धैर्यरूपी दण्ड वाले धनुष को लेकर, उस पर निरभिमानितारूपी बाण को चढ़ाकर, ब्रह्म [की प्राप्ति में बाधक बने हुए] ब्रह्मद्वार के प्रथम द्वारपाल को मारकर [आगे बढ़े]। [ऐसा न करने पर वह बाधक द्वारपाल] सम्मोहन के मुकुट को [शिर पर] धारण किये, तृष्णा एवं ईर्ष्या के कुण्डल [कानों में पहने हुए], आलस्य, निद्रा एवं पाप—इन तीनों से युक्त होकर, अभिमान भरी आँखों से [देखते हुए], क्रोधरूपी प्रत्यञ्चा तथा लोभरूपी दण्ड से युक्त धनुष को लेकर [और उस पर अपनी] कामनाओं के बाण [चढ़ाकर] प्राणियों का संहार करने लगता है। [अतः] उसे मार करके [साधक] ओङ्काररूपी नौका [की सहायता] से भीतर हृदयाकाश [रूपी समुद्र] को पार करके, अन्तराकाशगत ब्रह्म के प्रकट होने पर, धीरे से ब्रह्मधाम में उसी प्रकार प्रवेश करे जैसे [स्वर्ण, रजतादि] धातुओं का इच्छुक व्यक्ति [खोदी गई] खान में प्रवेश करता है। इसके अनन्तर, [अपने] गुरु के द्वारा बतलाये गये शास्त्रीय सिद्धान्त के अनुसार चार-जालों [-अन्नमय, प्राणमय, मनोमय तथा विज्ञानमय कोशों] से युक्त ब्रह्मकोश पर तब तक आघात करे [जब तक वह अन्तिम अर्थात् आनन्दमय कोश तक नहीं पहुँच जाता, जिसमें ब्रह्म के साथ एकता की अनुभूति होती है। [इस स्तर पर पहुँचकर] यहाँ से [वह साधक] शुद्ध, पवित्र, शून्य [निर्विचार], शान्त, अप्राण, निरात्मा, अनन्त, अक्षय, स्थिर, शाश्वत, अजन्मा और स्वतन्त्र [होकर] अपनी महिमा में स्थित हो जाता है। इसके बाद [वह] आत्मसाक्षात्कार करके और अपनी महिमा में स्थित रहकर संसार-चक्र का अवलोकन इस प्रकार करता है, जैसे [रथ से उतरने के बाद व्यक्ति चलते हुए रथ के] घूमते हुए पहिए [निरासक्त भाव से देखता है—उससे उसका कोई सम्बन्ध नहीं रह जाता]। इसे इस प्रकार से कहा गया है—

यदि कोई [साधक बाह्यजगत् से] पूर्णतया मुक्त होकर छह मास तक [इस प्रकार] योगाभ्यास करता है, तो उसका अनन्त, परम, निगूढ और परिपूर्ण योग [अर्थात् ब्रह्म] के साथ ऐक्य सम्पन्न हो जाता है।

लेकिन उस व्यक्ति का, जो रजोगुण और तमोगुण से आच्छन्न है, [वासना से जिसका अन्तःकरण] भलीभाँति जल रहा है तथा पुत्र, पत्नी और कुटुम्ब में आसक्त है, उसकी योग-साधना कदाचित् सफल नहीं हो पाती ।।२८।।

इदानीं वालखिल्याख्यायिकामुपसंहरन्नुक्तयोः सगुणनिर्गुणविद्ययोः सम्प्रदानविशेषमुपदिशति शाकायन्य इत्याह—

एवमुक्त्वाऽन्तर्हृदयः शाकायन्यस्तस्मै नमस्कृत्वाऽनया ब्रह्मविद्यया राजन् ब्रह्मणः पन्थानमारूढाः पुत्राः प्रजापतेरिति सन्तोषं द्वन्द्वतितिक्षां शान्तत्वं योगाभ्यासादवाप्नोतीत्येतद्गुह्यतमं नापुत्राय नाशिष्याय नाशान्ताय कीर्तयेदित्यनन्यभक्ताय सर्वगुणसम्पन्नाय दद्यात् ।।२९।।

एवममुना प्रकारेण ब्रह्मविद्यामनेकप्रकारां बृहद्रथायोक्त्वाऽन्तरेव प्रत्यक्तत्वे हृदयं बुद्धिर्यस्य सोऽन्तर्हृदयः शाकायन्य ऋषिस्तस्मै ब्रह्मणे स्वगुरवे वा नमस्कृत्वाऽनया मया तुभ्यमुक्तया ब्रह्मविद्यया परापरब्रह्म-विषयया हे राजन्! ब्रह्मणो यथोक्तस्य पन्थानं ब्रह्मप्राप्तिमार्गमारूढाः प्रजापतेः क्रत्वाख्यस्य पुत्रा वालखिल्यसंज्ञिता मुनय इत्युवाचेति योज्यम्। योगाभ्यासात्सन्तोषाद्यवाप्नोतीत्येवं चोवाचेत्यध्याहारः। एतदुक्तं ब्रह्मज्ञानं गुह्यतममतिगोप्यं रहस्यतममपुत्राय न कीर्तयेन्नोपदिशेत्। तथाऽशिष्याय शिष्यवृत्तिरहिताय न कीर्तयेत्। शिष्यत्वे पुत्रत्वे च यद्यशान्तः साभिमान-स्तस्मै, अशान्ताय न कीर्तयेत्। तस्माच्छान्ताय शिष्याय पुत्राय वा कीर्तयेन्नान्यस्मै कस्मैचनेत्यर्थः। तथा चोक्तं श्रुत्यन्तरे—"वेदान्तं परमं गुह्यं पुराकल्पप्रचोदितम्। नाप्रशान्ताय दातव्यं नापुत्राशिष्याय वा पुनः" (श्वे०) इति। फलितमाह—अनन्यभक्तायाऽऽचार्यैकभजनपराय सर्वगुण-सम्पन्नाय दद्यादिदं ज्ञानमित्यर्थः। शिष्यगुणाश्च श्रुतिस्मृतिपुराणसिद्धाः सङ्गृह्य भगवत्पादैराचार्यैरुक्ताः—

''प्रशान्तचित्ताय जितेन्द्रियाय प्रहीणदोषाय यथोक्तकारिणे ।
गुणान्वितायानुगताय सर्वदा प्रदेयमेतत्सततं मुमुक्षवे'' ।। इति ।।२९।।

विचारों में लीन हृदयवाले शाकायन्य [बृहद्रथ से] इस प्रकार कह करके [तथा ब्रह्म अथवा अपने गुरु को] नमस्कार करके [बोले-]'हे राजन्! इसी ब्रह्मविद्या [की सहायता] से प्रजापति के पुत्र [वालखिल्य ऋषि] ब्रह्म [-प्राप्ति] के मार्ग पर चल पड़े। योगाभ्यास से [साधक] सन्तोष, द्वन्द्वों [सुख-दुःख, सर्दी-गर्मी इत्यादि] को सहन करने की क्षमता और शान्त स्वभाव को प्राप्त करता है। यह ज्ञान अन्त्यन्त गोपनीय है। इसका वर्णन उसके लिए नहीं करना चाहिए, जो न तो पुत्र हो, न शिष्य हो और न ही शान्त स्वभाव वाला हो। यह ज्ञान केवल अनन्यभक्त [तथा] सर्वगुण सम्पन्न व्यक्ति को [ही] दिया जाना चाहिए[१]।।२९।।

इदानीमध्यायशेषेण प्रकीर्णानि कानिचित्साधनानि साधारणानि क्वचिदसाधारणानि चोपदेष्टुं प्रवर्तते श्रुतिः—

ॐ शुचौ देशे शुचिः सत्त्वस्थः सदधीयानः सद्वादी सद्ध्यायी सद्याजी स्यादित्यतः सद्ब्रह्मणि सत्यभिलाषिणि निर्वृत्तोऽन्यस्तत्फलच्छिन्नपाशो निराशः परेष्वात्मवद्विगतभयो निष्कामोऽक्षय्यमपरिमितं सुखमाक्रम्य तिष्ठति।

शुचौ देशे गिरिनदीपुलिनगुहादिशुद्धस्थान उपविश्येति योज्यम्। शुचिर्बाह्याभ्यन्तरशुद्धिसम्पन्नः। सत्त्वस्थः सत्त्वगुणस्थः प्रसन्नचित्त इति यावत्। सदधीयानः सदध्यात्मशास्त्राद्यभ्यसन्। सद्वादी सद्ब्रह्म

---

१. पारमार्थिक ज्ञान के सम्प्रेषण के सम्बन्ध में तत्त्वज्ञानियों के मध्य प्रारम्भ से ही गहरी सतर्कता की भावना दिखाई देती है। श्वेताश्वतर उपनिषत् में भी इसी प्रकार का कथन है—

वेदान्तं परमं गुह्यं पुराकल्पप्रचोदितम् ।
नाप्रशान्ताय दातव्यं नापुत्राशिष्याय वा पुनः ।।

आचार्य भगवत्पाद ने भी इसी प्रकार से सुपात्र की गुणवत्ता का निरूपण किया है—

प्रशान्तचित्ताय जितेन्द्रियाय प्रहीणदोषाय यथोक्तकारिणे ।
गुणान्वितायानुगताय सर्वदा प्रदेयमेतत्सततं मुमुक्षवे ।।

तद्वदनशील:। सद्ध्यायी ब्रह्मध्यानपरायण:। सद्याजी ब्रह्मयजनशील:। यजनं तस्येश्वररूपस्य मानसैरुपचारैरभ्यर्चनम्। एवं कुर्वन् स्याद्भवेत्। मुमुक्षुरिति शेष:। इति यतोऽत: सद्ब्रह्मणि निर्वृत्तोऽपरिमितं सुखमाक्रम्य तिष्ठतीति सम्बन्ध:। सदेव सोम्येदमिति ब्रह्मणि सच्छब्दश्रवणात्सदाख्यं ब्रह्म, तस्मिन् सदाख्ये ब्रह्मणि। किंलक्षणे सत्यभिलाषिणि सति सद्धर्मनिरते पुंस्यभिलाषवति सदनुग्रहेच्छावतीति यावत्। निर्वृत्तो निष्पन्नो ब्रह्मणि सम्पन्नो ब्रह्मात्मभावमुपगतोऽत एवान्य: सङ्घाताभिमानिनो जीवरूपादन्योऽपरिच्छिन्न:। तत्फलच्छिन्नपाशस्तस्य ब्रह्मणो यत्फलं स्फूर्ति: प्रतिभासस्तेन च्छिन्नसंसारवासनापाशोऽत एव निराश: प्राप्तव्यविषया-शाशून्य: सर्वात्मब्रह्मरूपत्वात्परेषु जीवान्तरेष्वात्मवदात्मनीव विगतभयो निरातङ्को न चास्य द्वितीयदर्शननिमित्तं भयं भवतीत्यर्थ:। आत्मा ह्येषां स भवतीति श्रुत्यन्तरात्। यतो निष्काम: कामवतो हि तदुपघातनिमित्तं भयं भवति कामश्च देहाद्यभिमानपुर:सरस्तद्रहितोऽयं निष्कामत्वान्निर्भय इत्यर्थ:। अतोऽक्षय्यं क्षेतुमशक्यमविनाशीति यावत्। अपरिमितमपरिच्छिन्नं वैषयिकसुखविलक्षणमित्येतत्। एवंविधं सुखमाक्रम्याऽऽत्मसात्कृत्वा तिष्ठति परमानन्दमश्नुत इत्यर्थ:।

निष्कामत्वमुक्तं स्तौति तस्य सर्वसाधनेभ्य: श्रैष्ठ्यं द्योतयितुम् —

परमं वै शेवधेरिव परस्योद्धरणं यन्निष्कामत्वम् ।

यन्निष्कामत्वं तच्छेवधेर्निधेरिव परस्य परमात्मन: परमं सर्वोत्तममुद्धरणं प्रकटीकरणं वै प्रसिद्धं विद्वज्जनेष्वित्यर्थ:।

एतच्च दुर्घटमिति द्योतयन् पुंस: स्वभावं सङ्कीर्तयति—

स हि सर्वकाममय: पुरुषोऽध्यवसायसङ्कल्पाभिमान-लिङ्गो बद्धोऽतस्तद्विपरीतो मुक्त: ।

हि यस्मात्स पुरुष: स्वभावत: सर्वकाममय: सर्वविषयकामाकुलो यतोऽध्यवसायसङ्कल्पादिलिङ्गस्तद्वत्तया काममयत्वमवगम्यत इत्यर्थ:। अत

एवायं बद्धो यतः काममयो बद्धोऽतस्तद्विपरीतोऽकाममयो मुक्त एवेत्य-कामात्मता सम्पाद्या मुमुक्षुणेति भावः।

इदानीमत्र मतान्तरं सांख्यदृष्टिविषयमुत्थापयति स्वमतपरिशुद्धये—

[१]अत्रैक आहुर्गुणः प्रकृतिभेदवशादध्यवसायात्म-बन्धमुपागतोऽध्यवसायस्य दोषक्षयाद्विमोक्षः[२]।

गुणो गुणकार्यं महदाख्यं बुद्धितत्त्वं प्रकृतिभेदवशात्पूर्ववासनात्मक-स्वभावविशेषवशादध्यवसायात्मबन्धं विषयाध्यवसायादिरूपं बन्धन-मुपागतो न चिदात्मेत्यर्थः। अध्यवसायस्य यो दोषो बहिर्विषयप्रवणता तस्य क्षयान्नाशाद्विषयवासनाविच्छेदाद्विमोक्षः पूर्वोक्तस्य गुणस्यैवेत्यर्थः। अत्रेतिशब्दोऽध्याहार्यो मोक्ष इत्येक आहुरिति सम्बन्धः।

उत्थापितं मतं व्युत्थापयति—

मनसा ह्येव पश्यति मनसा शृणोति कामः सङ्कल्पो विचि-कित्सा श्रद्धाऽश्रद्धा धृतिरधृतिर्ह्रीर्धीर्भीरित्येतत्सर्वं मन एव।

अन्तःकरणाभिमतस्य बुद्धितत्त्वस्य करणविभक्त्या परामर्शात्सर्व-श्रुतिषु न तस्य कर्तृत्वमवगन्तुं शक्यं यतो मनसैव हि पश्यति लोकश्चक्षुषा यद्रूपं पश्यति तन्मनसैव पश्यति मनोव्यासङ्गे सति चक्षुःसम्बद्धस्याप्यप्रतिभासात् "अन्यत्र मना अभूवं नादर्शमन्यत्रमना अभूवं नाश्रौषमिति मनसा ह्येव पश्यति" (बृहदा०) इत्यन्वयव्यतिरेकाभ्यां श्रुत्यन्तरे मनोबुद्ध्यहङ्कारशब्दवाच्यस्यान्तरात्मनः करणत्वावधारणान्न तस्य कर्तृत्वमिति तात्पर्यार्थः। विचिकित्सा संशयः। प्रसिद्धार्थमन्यत्। एतत्सर्वं

१. 'अत्रैका आहुः' में मैत्रायणी शाखीय सन्धि-प्रक्रिया दिखलाई देती है।

२. 'अत्रैका आहुः' से लेकर 'दोषक्षयात् विमोक्षः' तक की *व्याख्या टीकाकार* रामतीर्थ ने सांख्यसिद्धान्त के अनुसार की है। सांख्य के अनुसार पुरुष का न तो बन्धन होता है और न मोक्ष ही, क्योंकि वह निर्गुण और अपरिणामी है। वास्तव में बुद्धि आदि रूपों में अवस्थित प्रकृति का ही बन्धन और मोक्ष होता है। सांख्यकारिका के अनुसार 'अध्यवसाय' का अभिप्राय है बुद्धि—अध्यवसायो बुद्धिः। वही निश्चय करने वाला तत्त्व है।

मन एव मनोविकारत्वात्। सुवर्णं कुण्डलमितिवन्मनोभेदेन तद्धर्मत्वं कामादीनामवधार्यते कर्तृधर्मत्वभ्रान्तिव्यावृत्तय इत्यर्थः।

ननु यद्येते कामादयो न कर्तृधर्माः कथं तर्हि कर्त्राश्रयतयाऽहं कामीत्यादिरूपेण प्रतिभास इति चेन्नायं दोषोऽन्तःकरणोपाधिनिबन्धनत्वात्कर्तृत्वस्य चाऽऽत्मना तादात्म्याध्यासाधीनत्वादेव प्रतिभासोपपत्तिः स्फटिकमणेरिवौपाधिको लौहित्यप्रतिभास इत्यभिप्रेत्याऽऽह—

गुणौघैरुह्यमानः कलुषीकृतश्चास्थिरश्चञ्चलो लुप्यमानः सस्पृहो व्यग्रश्चाभिभानित्वं प्रयात इत्यहं सो ममेदमित्येवं मन्यमानो निबध्नात्यात्मनाऽऽत्मानं जालेनेव खचरोऽतः पुरुषोऽध्यवसायसङ्कल्पाभिमानलिङ्गो बद्धोऽतस्तद्विपरीतो मुक्तः ।

गुणानां सत्त्वादीनां मायागुणानामोघाः प्रवाहा देहद्वयतद्धर्मरूपास्तैरुह्यमानः परवशीक्रियमाणोऽभिमानित्वं प्रयात इत्यन्वयः। जालेनेव खचर इत्यन्तं तृतीयप्रपाठके द्वितीयानुवाके व्याख्यातम्। यस्मादेवमचेतनस्य बुद्धितत्त्वस्य स्वसत्तास्फूर्त्योरस्वतन्त्रस्य कर्तृत्वबन्धमोक्षभाक्त्वमनुपपन्नं कूटस्थस्यापि चिदात्मनः परोपाधिवशात्प्रातिभासिकं तत्सर्वमुपपन्नमतोऽस्माद्धेतोः पुरुषोऽध्यवसायेत्यादिप्रासङ्गिकार्थोपसंहारः स्पष्टार्थः।

प्रकृतमुपसंहरति—

तस्मान्निरध्यवसायो निःसङ्कल्पो निरभिमानस्तिष्ठेदेतन्मोक्षलक्षणमेषाऽत्र ब्रह्मपदव्येषोऽत्र द्वारविवरोऽनेनास्य तमसः पारं गमिष्यति ।

मुमुक्षुश्चेदकामः सन् विषयाध्यवसायादिरहितः स्यादित्यर्थः। एतद्यदकामादिलक्षणमवस्थानमेतन्मोक्षलक्षणं मोक्षसाधनं यत एषाऽत्र श्रेयोमार्गेषु मध्ये ब्रह्मपदवी साक्षाद्ब्रह्मप्राप्तिमार्गः। एषोऽत्र द्वारविवरो मोक्षद्वारस्योद्घाटनमित्यर्थः। विधेयाविष्टलिङ्गभेदैर्निरध्यवसायाद्यात्मनाऽकामात्मत्वावस्थानं निर्दिश्यते। किं बहुनाऽनेनाकामात्मत्वावस्थानेनास्य

संसाररूपस्य तमसः पारं परतीरं विष्णोः परमं पदं गमिष्यन्ति। अचिरेणैवाऽऽत्मतत्त्वज्ञानेनोपैष्यतीत्यर्थः।

एतां पदवीमधिगतस्य न पुनः प्राप्तव्यमवशिष्यत इत्याह—

अत्र हि सर्वे कामाः समाहिता इत्यत्रोदाहरन्ति ।

तथा च श्रुतिस्मृती—'यो वेद निहितं गुहायां परमे व्योमन् सोऽश्नुते सर्वान् कामान् सह' (तैत्तिरीयो०) इति।

'यावानर्थ उदपाने सर्वतःसम्प्लुतोदके ।
तावान् सर्वेषु वेदेषु ब्राह्मणस्य विजानतः' ।। (गीता) इति।

अत्रोक्तेऽर्थे निरभिमानस्य ब्रह्मपदप्राप्तिरित्यत्रोदाहरन्ति कठाः (कठोप० ६) इति शेषः।

यदा पञ्चावतिष्ठन्ते ज्ञानानि मनसा सह।
बुद्धिश्च न विचेष्टते तामाहुः परमां गतिम् ।

यदा यस्मिन् काले पञ्च ज्ञानानि ज्ञानेन्द्रियाणि श्रोत्रादीनि मनसा सह मनःसहितानि सर्वेन्द्रियाणीति यावत्। अवतिष्ठन्ते निश्चलानि भवन्ति बुद्धिश्चाध्यवसायलक्षणा न विचेष्टते नेङ्गते किन्तु निर्वातदेशस्थ-प्रदीपवन्निश्चला भवतीत्यर्थः। येयमिन्द्रियमनोबुद्धीनां निश्चलावस्था तां परमां गतिं परमं ब्रह्मप्राप्तिसाधनमाहुर्ब्रह्मविद इत्यर्थः।

इदानीं शाकायन्यस्य वृत्तान्तं कथयन्ती श्रुतिः सगुणब्रह्मोपासकानां ब्रह्मप्राप्तिद्वारमुपदिशति तच्चिन्तनार्थम् —

एतदुक्त्वाऽन्तर्हृदयः शाकायन्यस्तस्मै नमस्कृत्वा यथावदु-पचारी कृतकृत्यो मरुदुत्तरायणं गतो न ह्यत्रोद्वर्त्मना गतिरेषोऽत्र ब्रह्मपथः सौरं द्वारं भित्त्वोर्ध्वेन विनिर्गता इत्यत्रोदाहरन्ति।

एतदुक्तं सर्वं दर्शनं ससाधनमुक्त्वाऽन्तर्हृदयोऽन्तरात्मनि हृदयं बुद्धिर्यस्य सोऽन्तर्हृदयः शाकायन्य उपररामेत्यव्याहारः। मरुन्मरुन्नामा

बृहद्रथस्तस्मै शाकायन्याय नमस्कृत्वा यथावदुपचारी यथाशास्त्रं शुश्रूषापूजाद्युपचारपरः कृतकृत्योऽवाप्तकाम उत्तरायणं ब्रह्मपथं गतः सगुणनिर्गुणब्रह्मज्ञानमुपगत इत्यर्थः। न ह्यत्रोक्ततत्त्वनिष्ठायामुद्वर्त्मनोन्मार्गेण तिर्यगादिमार्गेण गतिर्गमनमस्तीति शेषः। यत एष उक्तविद्यारूपोऽर्थोऽत्र श्रेयोमार्गेषु ब्रह्मपथो ब्रह्मप्राप्तिमार्ग इत्यर्थः। अत्र "न तस्य प्राणा उत्क्रामन्त्यत्रैव समवनीयन्ते ब्रह्मैव सन् ब्रह्माप्येति" (शतप० ब्रा० का० १४ अ० ७) इति श्रुतेर्निर्गुणब्रह्मात्मतत्त्वविदो नोत्क्रमणमस्तीत्येतत्सिद्धवत्कृत्य सगुणब्रह्मविदो ब्रह्मलोकमार्गं क्रममुक्तेर्द्वारं विस्पष्टमाह श्रुतिः— **सौरमिति**। सौरं द्वारं सूर्यमण्डलमध्यगतमविदुषामभेद्यं द्वारं भित्त्वा विदार्योर्ध्वेनोपरितनेन विद्युदादिना विनिर्गता उपासका इत्यत्रास्मिन्नर्थे रश्मिविशेषनिर्धारणार्थमुदाहरन्ति श्लोकानिति शेषः। अथवा मरुदुत्तरायणं गत इति मरुन्नाम्नो राज्ञ एव वृत्तान्तः कथ्यते। तथा चायमर्थः। उत्तरायणं देवयानं पन्थानं गतः कालेनाऽऽरूढो न साक्षात्कैवल्यमत्रैव गत इत्यर्थः। यदि साक्षान्मुक्तिं न प्राप तर्हि भोगान्ते संसारः स्यादित्यत आह—**न ह्यत्रेति**। अत्रोपासनायां सत्यामुद्वर्त्मना संसारमार्गेण पुनर्गतिर्गमनं न ह्यस्ति "न हि कल्याणकृत्कश्चिद्दुर्गतिं तात गच्छति" इति भगवत्स्मरणात्। यत एष देवयानोऽत्रोपासनायां ब्रह्मपथो ब्रह्मणः परस्यापि क्रमेण प्रापकत्वाद् ब्रह्मपथ इत्यर्थः। सौरं द्वारं भित्त्वोर्ध्वेन विनिर्गतो मरुन्नामा राजर्षिः। अत्रोदाहरन्तीति पूर्ववत्।

अनन्ता रश्मयस्तस्य दीपवद्यः स्थितो हृदि ।
सितासिताः कद्रुनीलाः कपिला मृदुलोहिताः ।।

तस्य रश्मयो निर्गमननाड्यश्चिदाभासव्याप्ता अनन्ताः। कस्य यो हृदि ध्यानकाले दीपवत्प्रकाशमान आत्मा स्थितस्तस्येत्यर्थः। आत्मनिर्गमननाड्यन्तर्गतानां रसानां वातपित्तकफानां समन्यूनाधिकभाववशात्सितादिवर्णास्तासु भवन्ति तद्व्युत्पादनं तु वैद्यके सिद्धं तदेतदाह— **सितेति**। सिताश्चासिताश्च सितासिताः कफबाहुल्ये सिता वायुबाहुल्ये त्वसिता इत्यर्थः। कद्रवश्च नीलाश्च कद्रुनीला वायुकफयोः कुपितयोः सङ्करे

कद्रवः कद्रुवर्णा ईषच्छ्यामा इत्यर्थः। पित्तवाय्वोः सङ्करे नीलवर्णाः। पित्ताधिक्ये कपिलाः। मृदवश्च ते लोहिताश्च मृदुलोहिताः। उद्रिक्तेन पित्तेनांशतो वायुकफयोर्योगान्मृदुलोहिता रश्मयो नाड्यन्तर्गता भवन्तीत्यर्थः। तथा च श्रुत्यन्तरम्—'तस्मिञ्शुक्लमुत नीलमाहुः पिङ्गलं हरितं लोहितं च' (बृहदा० अ० ६) इति। तथा नाडीः प्रकृत्य 'ताः पिङ्गलस्याणिम्नस्तिष्ठन्ति शुक्लस्य नीलस्य पीतस्य लोहितस्य पूर्णाः' (छान्दो० अ० ८) इति च।

ऊर्ध्वमेकः स्थितस्तेषां यो भित्त्वा सूर्यमण्डलम्।
ब्रह्मलोकमतिक्रम्य तेन यान्ति परां गतिम्॥

तेषां रश्मीनां मध्य एको रश्मिः सुषुम्नाख्य ऊर्ध्वं ब्रह्मरन्ध्रपर्यन्तं स्थितः। कोऽसौ यः सुषुम्नाख्येन सूर्यरश्मिविशेषेणैकीभूतत्वात्सूर्यमण्डलं भित्त्वा स्थितः स इत्यर्थः। तेन रश्मिमार्गेण कार्यब्रह्मलोकं गत्वा तत्र भोगान्ते तमतिक्रम्य परां गतिं तद्विष्णोः परमं पदं शाश्वतं परं ब्रह्म यान्त्युपासका इत्यर्थः।

"शतं चैका च हृदयस्य नाड्यस्तासां मूर्धानमभिनिःसृतैका। तयोर्ध्वमायन्नमृतत्वमेति विष्वङ्ङन्या उत्क्रमणे भवन्ति" (कठो० ६) इत्यस्मिन्मन्त्रे तासां मूर्धानमभिनिःसृतैका तयोर्ध्वमायन्नमृतत्वमेतीति पादद्वयस्यार्थमुक्त्वा प्रथमपादोपात्तशतरश्म्युपयोगमाह—

यदस्यान्यद्रश्मिशतमूर्ध्वमेव व्यवस्थितम्।
तेन देवनिकायानां स्वधामानि प्रपद्यते॥

अस्य हृदयस्य सम्बन्धि यद्रश्मिशतमस्ति तदप्यूर्ध्वमेवोर्ध्वगतिहेतुभूतमेव व्यवस्थितम्। तेन रश्मिशतेन निर्गतो देवनिकायानां देववृन्दानां स्वधामानि तत्तद्देवस्थानानि प्रपद्यते देवनिकायमध्ये यं देवविशेषं यः कर्मणा विद्यया चोपास्ते स रश्मिशतस्यैकेन केनचिद्रश्मिना तस्य देवस्य पदं यातीत्यर्थः।

विष्वङ्ङन्या उत्क्रमणे भवन्तीति चतुर्थपादार्थमाह—

ये नैकरूपाश्चाधस्ताद्रश्मयोऽस्य मृदुप्रभाः।
इह कर्मोपभोगाय तैः संसरति सोऽवशः ।।

ये त्वस्य हृदयस्य रश्मयोऽनेकरूपा अधस्तादधोमुखा मृदुप्रभा अत्यल्पप्रकाशास्तमोबहुला रश्मयस्तैर्निर्गतः स विहितज्ञानकर्मसाधनरहितः पुमान् दुःखकर्मोपभोगायेहैव भूमावेवावशः सन् संसरति दुःखमनुभवतीत्यर्थः। तथा च श्रुत्यन्तरम्—'य एतौ पन्थानौ न विदुस्ते कीटाः पतङ्गा यदिदं दन्दशूकम् (बृहदा० अ० ८) इति।

सूर्यमण्डलान्तर्गतब्रह्मोपासनमुपसंहारव्याजेन प्रशंसति—

तस्मात्सर्गस्वर्गापवर्गहेतुर्भगवानसावादित्य इति ।।३०।।

असावादित्यो भगवानादित्यात्मनाऽभिव्यक्त ईश्वरोऽनुपासितः संसर्गहेतुरुपासितस्तु स्वर्गापवर्गयोर्हेतुः। देवताबुद्ध्योपासितः स्वर्गहेतुर्ब्रह्मात्मनोपासितोऽपवर्गहेतुरिति विभागः।।३०।।

पवित्र स्थान पर, शुद्ध तथा सात्विकभाव से सम्पन्न होकर, सद्ग्रन्थों (अर्थात् आध्यात्मिक ग्रन्थों) का अध्ययन करता हुआ, सत्य बोलता और सत्य का ही चिन्तन अथवा ध्यान करता हुआ सत्ययज्ञ का अनुष्ठान [साधक] करे। इससे सत्यब्रह्म की अभिलाषा से युक्त होने पर वह निवृत्त होकर [कुछ] दूसरा ही हो जाता है; [इसके फलस्वरूप] उसके बन्धन कट जाते है; [लौकिक] आशाओं से वह मुक्त हो जाता है; दूसरे व्यक्तियों के मध्य में उसे अपने ही जैसी अनुभूति होती है, भय से वह रहित हो जाता है, [और इस प्रकार] निष्काम [भाव से जीवन जीते हुए वह] अक्षय और अपरिमित सुख को प्राप्त करके [अपने आप में] स्थित हो जाता है। परमात्मा ही निष्कामभाव का आगार है, उसी से निष्काम भाव को [साधक] प्राप्त करता है [लेकिन यह बहुत कठिन है, क्योंकि] करके जो सभी कामनाओं से युक्त पुरुष है, वह अध्यवसाय [इच्छा] सङ्कल्प और अभिमान [इन] लक्षणों से युक्त होने के कारण बन्धनग्रस्त है। लेकिन इनसे भिन्न [साधक] मुक्त है। इस सन्दर्भ में कुछ का कथन है—[यह] गुण [ही]

है, जो प्रकृति की भिन्नतावश अध्यवसायात्मक बन्धन में पड़ता है [-सांख्य के अनुसार महत् तत्त्व अर्थात् बुद्धि गुण का परिणाम है] और जब अध्यवसाय [इच्छा] का दोष नष्ट हो जाता है, तो [बुद्धि या महत् तत्त्व, जो] गुण [का परिणाम है,] मुक्त हो जाता है। [लेकिन इस उपनिषत् का मन्तव्य टीकाकार रामतीर्थ के अनुसार इससे भिन्न है। उनका कथन है कि इसे चाहे गुण कहें या बुद्धि, मन, चित्त, अहङ्कार, इत्यादि—यह वास्तव में कर्ता नहीं है, यह तो करण अर्थात् साधन मात्र है, क्योंकि साधक] मन से ही देखता है, मन से सुनता है। [हम इसे] काम, सङ्कल्प, विचिकित्सा [संशय], श्रद्धा, अश्रद्धा, धारणा, अधारणा [-अथवा धैर्य-अधैर्य], लज्जा, बुद्धि, भय, [इत्यादि कुछ भी नाम दे दें, वास्तव में यह] सब मन ही है। गुणों के प्रवाह में बहता हुआ और कलुषग्रस्त कर दिया गया अस्थिर, चञ्चल, विह्वल, कामनाओं से भरा और बेचैन [लौकिक व्यक्ति इस] अभिमान में पड़ जाता है कि 'मैं अमुक हूँ, यह जगत् मेरा है'—इस प्रकार से मानते हुए वह स्वयं ही अपने को बन्धन में उसी प्रकार बाँध लेता है, जैसे [शिकारी के] जाल से पक्षी [बँध जाता है]। इससे [यही निश्चित हुआ कि] पुरुष अध्यवसाय, सङ्कल्प और अभिमान रूप लक्षणों से बँधा हुआ है। इनसे विपरीत होने पर [वह] मुक्त हो जाता है। अतएव [साधक के लिए यही उचित है कि वह] अध्यवसाय, सङ्कल्प और अभिमान से रहित होकर रहे। मोक्ष का यही लक्षण है। यही वह मार्ग है, जो उसे ब्रह्म तक पहुँचाता है। इस सन्दर्भ में इसी प्रकार द्वार खुलता है। इसी से वह इस अन्धकार के पार जा पायेगा। इसी में सभी कामनाएँ समाविष्ट हैं। इस विषय में [तत्त्ववेत्ताजन इस श्लोक को] उद्धृत करते हैं—

'जब पाँचों ज्ञानेन्द्रियाँ मन के साथ निश्चल रूप से स्थित रहती हैं और बुद्धि विचलित होकर नाना प्रकार की चेष्टाएँ नहीं करती, उसी [स्थिति] को [अनुभवी व्यक्तियों ने] परमगति कहा है'। यह कहकर शाकायन्य अपने हृदय [गत विचारों में लीन] हो गये [और] मरुत् संज्ञक राजा बृहद्रथ उन्हें प्रणाम करके, यथोक्त विधि से उनके प्रति शिष्टाचार का पालन करके [अपने मन में] कृतकृत्यता [की अनुभूति करते हुए] उत्तरायण की ओर चले गये, क्योंकि इस सन्दर्भ में अन्य किसी मार्ग से नहीं जाया जाता। यह ब्रह्ममार्ग है। [राजा बृहद्रथ] सूर्य से सम्बन्धित द्वार का भेदन करके

ऊपर उठते चले गये। इस विषय में [जानकार व्यक्ति निम्नलिखित श्लोक] उद्धृत करते हैं—

हृदय में दीपक के सदृश [आलोकमय] जो आत्मा है, [नाडियाँ] उसकी अनन्त किरणें हैं, जो श्वेत, श्याम, भूरी, नीली, हल्की पीली (कपिल) और कुछ-कुछ लाल रंग की हैं। उनमें से एक [अर्थात् सुषुम्ना नाम्नी नाडी] सूर्यमण्डल का भेदन करके ऊपर ले जाती है। इसके द्वारा साधक [कार्यरूप] ब्रह्मलोक को पार करके [भोग का अन्त होने पर] परमगति [विष्णु के परमधाम] को प्राप्त कर लेते हैं । ऊपर ही स्थित अन्य जो सौ किरणें [नाडियाँ] हैं, उनके द्वारा [साधक] विभिन्न देवगणों के निजी धामों में पहुँचता है। [इनके अतिरिक्त] हल्के प्रकाशवाली तथा अनेक रूपोंवाली जो किरणें [नाडियाँ] नीचे स्थित हैं, उनके माध्यम से [साधक या उपासक] अमुक्त अवस्था में [अपने द्वारा किये गये विभिन्न] कर्मों के [फलों का] उपभोग करने के लिए इस संसार में पदार्पण करता है।

इससे [यह निश्चय होता है कि] सृष्टि, स्वर्ग और अपवर्ग [मोक्ष] इन सभी के मूल कारण भगवान् आदित्य ही हैं।

समाप्ता शाकायन्यबृहद्रथाख्यायिका। इदानीं श्रुतिरेव प्रश्नप्रतिवचनरूपेण चेन्द्रियादितत्त्वं नामरूपात्मककार्यतत्त्वमित्याद्यनेकानर्थान् प्रागनुक्तानुपदेष्टुं प्रवर्तते—

किमात्मकानि वा एतानीन्द्रियाणि प्रचरन्त्युद्गन्ता चैतेषामिह को नियन्ता वेत्याह प्रत्याहाऽऽत्मात्मकानीत्यात्मा ह्येषामुद्गन्ता नियन्ता वाऽप्सरसो[1] भानवीयाश्च मरीचयो नामाथ पञ्चभीरश्मिभिर्विषयानत्ति।

एतानि ज्ञानकर्मार्थानीन्द्रियाणि किमात्मकानि वै किमुपादानकानीत्यर्थः। प्रचरन्ति स्वस्वविषयेष्विति शेषः। एषामिन्द्रियाणामुद्गन्तोद्गमन-

१. रामतीर्थ की टीका के अनुसार 'अप्सरसः' पद विषयों का वाचक है। जैसे कामुक पुरुषों को अप्सराएँ लुभाती हैं, उसी प्रकार लोगों को शब्दादि विषय अपनी ओर आकृष्ट करते हैं—'अप्सरस इति विषया उच्यन्ते। शब्दादयो हि विषयाः कामिनामप्सरस इव विषयिणामभिलाषगोचरा भवन्ति, तेऽपीन्द्रियाणां नियन्तारः'।

कर्ता च निमित्तभूतोऽधिष्ठाता च क इत्यर्थः। इह व्यवहारसमये को वैतेषामिन्द्रियाणां नियन्ता तैर्व्यवहर्ता वा को भवतीत्याह कश्चित्प्रष्टेत्यध्याहारः। कश्चिदन्यः प्रत्याह प्रत्युत्तरमाह प्रश्नक्रमेणेत्यर्थः। आत्मात्मकान्यात्मा वक्ष्यमाणलक्षणस्तदात्मकानि तदुपादानकानीत्यर्थः। इतीत्थमात्मा ह्येवैषामिन्द्रियाणामुद्गन्ता नियन्ता च नान्यश्च घटादेरिवेत्यर्थः। अप्सरस इति विषया उच्यन्ते, शब्दादयो हि विषयाः कामिनामप्सरस इव विषयिणामभिलाषगोचरा भवन्ति तेऽपीन्द्रियाणां नियन्तारः। तथा च बृहदारण्यके ग्रहातिग्रहशब्दाभ्यामिन्द्रियाणि विषयांश्चोक्त्वा—'श्रोत्रं वै ग्रहः स शब्देनातिग्रहेण गृहीतः' इत्यादिनाऽतिग्रहशब्दवाच्यविषयनियम्यत्वं ग्रहशब्दवाच्यानामिन्द्रियाणां समाम्नायते। तथा च विषयाश्चेन्द्रियाणां नियन्तार इत्यर्थः। भानवीयाश्च मरीचयः सूर्यकिरणाश्चेन्द्रियाणां नियन्तार इति नाम प्रसिद्धमेतदित्यर्थः। भानुशब्द उपलक्षणं सर्वेन्द्रियदेवतानां दिगाद्यानाम्। तैस्तैर्देवताविशेषैः केनचिद्द्वारेणानुगृहीतानीन्द्रियाणि स्वं स्वं विषयं ग्राहयन्तीति देवा अपि नियन्तार इत्यर्थः। अथैवं सति पञ्चभिः श्रोत्रादिभिर्ज्ञानेन्द्रियै रश्मिभी रश्मिशब्दनिर्दिष्टैर्विषयाञ्शब्दादीनत्ति भुङ्क्तेऽयमात्मेति सिद्धमित्यर्थः। कर्मेन्द्रियैर्हयशब्दनिर्दिष्टैर्विषयान् प्राप्नोतीत्यपि द्रष्टव्यम्। तथा चोक्तं प्राग्द्वितीये प्रपाठके—'बुद्धीन्द्रियाणि यानीमान्येतान्यस्य रश्मयः कर्मेन्द्रियाण्यस्य हयाः' इति। एतदुक्तं भवति। इन्द्रियाणामचेतनानां भौतिकत्वेऽपि चेतनैकायत्तत्वं परमार्थत इत्यात्मात्मकानीत्याद्युच्यते व्यवहारतस्तु विषयालोकाद्यधीनत्वेन तन्नियम्यता चेति।

यदधीनत्वमित्थमिन्द्रियाणामुक्तं स आत्मा कतम इति पृच्छति—

कतम आत्मेति।

देहेन्द्रियमनोबुद्धिप्राणेष्वहमहमित्युल्लिख्यमानेषु कतमः किं तेष्वन्यतमः किं वाऽन्य एव तेभ्य इति प्रश्नार्थः।

उत्तरमाह—

योऽयं शुद्धः पूतः शून्यः शान्तादि-
लक्षणोक्तः स्वकैर्लिङ्गैरुपगृह्यः।

योऽयमात्मा शुद्धः पूतः शून्यः शान्त इत्यादिना द्वितीयप्रपाठके शुद्धत्वादिलक्षण उक्तः स्वकैरसाधारणैर्लिङ्गैः स्वरूपसद्भावसाधकैरुपगृह्यो देहादिप्राणान्तेषु सङ्घातात्मकेषूप समीपे तत्सन्निहितरूपतया ग्राह्य इत्यर्थः। सङ्घातादन्योऽचेतनसङ्घातं चेतयमानोऽतस्तत्साक्षितया भासमान आत्मेत्युत्तरमुक्तं भवति।

स्वकैर्लिङ्गैरुपगृह्य इत्युक्तं तत्र कानि स्वकानि लिङ्गानीति जिज्ञासायां तानि मतभेदेनानेकधोपदिशति—

तस्यैतल्लिङ्गमलिङ्गस्याग्नेर्यदौष्ण्यमाविष्टं चापां यः शिवतमो रस इत्येकेऽथ वाक्श्रोत्रं चक्षुर्मनः प्राण इत्येकेऽथ बुद्धिर्धृतिः स्मृतिः प्रज्ञानमित्येके ।

तस्याऽऽत्मनोऽलिङ्गस्य परमार्थतो निर्धर्मकत्वेन लिङ्गरहितस्यैतद्वक्ष्यमाणं लिङ्गं लिङ्ग्यते ज्ञाप्यतेऽनेनेति लिङ्गं ज्ञापकमित्यर्थः। किं तदित्यपेक्षायां दृष्टान्तोक्त्यैव तदाह—**अग्नेरिति**। यद्यद्वदौष्ण्यमग्नेर्लिङ्गं तप्तोदकादिगतेनौष्ण्येन यथा तत्राग्निर्लिङ्ग्यत आविष्टं चेन्धनावेशादिनिमित्तं धूमादि च लिङ्गमग्नेर्यथा चापां लिङ्गं यः शिवतमो निरुपाधिमधुरो रसः क्षीरादिष्वप्युपलभ्यमानः। रसस्य हि स्वाभाविकं स्वरूपं माधुर्यमेवान्यथात्वं तु तस्य पार्थिवेषु परिणामविशेषोपाधिकृतमिति मधुररसो यत्र क्वाप्युपलभ्यमानोऽपां सद्भावज्ञापक इत्यर्थः। तथाऽऽत्मनोऽचेतनेषु देहादिषूपलभ्यमानं चैतन्यं देहद्वयावेशकृतं प्राणादिकं च लिङ्गमिति दार्ष्टान्तिकं योज्यम्। इत्येके शाखिनो वदन्तीत्यर्थः। तथा च श्वेताश्वतराणां मन्त्रोपनिषत्—'नित्यो नित्यानां चेतनश्चेतनानाम्' इति। वागादिकमात्मनो लिङ्गमित्येके 'श्रोत्रस्य श्रोत्रं मनसो मनो यद्वाचो ह वाचं स उ प्राणस्य प्राणश्चक्षुषश्चक्षुरतिमुच्य धीराः' इति तलवकारादयः श्रोत्रादिप्रकाशकतयाऽऽत्मानं साधयन्तीत्यर्थः। अथैके बुद्ध्यादि यत्तल्लिङ्गमात्मन इति वर्णयन्तीत्यर्थः। 'न विज्ञातेर्विज्ञातारं विजानीया एष त आत्मा सर्वान्तरः' इति बृहदारण्यके (अ० ५) 'तदेतत्संज्ञानमाज्ञानं विज्ञानं प्रज्ञानं मेधा

दृष्टिर्धृति: स्मृति:' इत्यादि 'प्रज्ञानस्य नामधेयानि भवन्ति' इत्यन्तम्। 'प्रज्ञानेत्रो लोक:' इति चैतरेयकोपनिषत्सु।

उक्तानां धर्माणामात्मविशेषणत्वाभावेऽपि तत्कार्यतया स्वनिमित्तभूतात्मलिङ्गत्वं सम्भवतीत्येतद्दृष्टान्तेनोपपादयति—

अथ ते वा एतस्यैवं यथैवेह बीजस्याङ्कुरा
वाऽथ धूमार्चिर्विष्फुलिङ्गा इवाग्नेश्चेत्यत्रोदाहरन्ति।

अथायमपेक्षितार्थविशेष: कथ्यते ते वा उक्ता लिङ्गविशेषा एतस्याऽऽत्मन एवं ज्ञापका इति शेष:। कथं यथैवेह व्यवहारभूमौ बीजस्य भूम्यन्तर्गततयाऽदृश्यस्य सद्भावज्ञापका अङ्कुरा वाऽथवाऽग्नेश्च सद्भावसाधका धूमादय इवेति। अत्र चैतन्याभासाश्चैतन्यस्यावस्थाविशेषा अङ्कुरा इव चिदात्मानं ज्ञापयन्ति। वाक्चक्षुर्बुद्धिधृत्त्यादयस्तु धूमादय इवाग्ने: स्वप्रवृत्त्यादिनाऽऽत्मानं तद्धेतुभूतं कल्पयन्तीति विभाग:। अत्रास्मिन्नुक्तेऽर्थे श्लोकमुदाहरन्ति।

तमेवाऽऽह—

वह्नेश्च यद्वत्खलु विष्फुलिङ्गा: सूर्यान्मयूखाश्च तथैव तस्य।
प्राणादयो वै पुनरेव तस्मादभ्युच्चरन्तीह यथाक्रमेण ॥३१॥

स्पष्टार्थ: ॥३१॥

[पूछा गया कि] ये इन्द्रियाँ किस आधार पर आरूढ़ होकर अपना-अपना कार्य करती हैं? कौन उन्हें ऊपर उठानेवाला है और कौन उनका नियन्त्रण करनेवाला है? [इसके] उत्तर में कहा गया है कि ये इन्द्रियाँ आत्मा के आधार पर अवस्थित हैं। आत्मा ही इन्हें ऊपर ले जाने वाली तथा नियन्त्रित करने वाली है। इन्हें अपने-अपने व्यापार में प्रेरित करती हैं, सूर्य की किरणें [-अप्सराएँ-] हैं। इन्हीं पाँचों रश्मियों के द्वारा [क्रियाशील इन्द्रियों के माध्यम से] आत्मा विषयों का आस्वादन करता है। [प्रश्न उठता है कि फिर यह] आत्मा कौन-सा है? [उत्तर में कहा जाता है कि] जो यह शुद्ध, पवित्र, शून्य [और] शान्त इत्यादि लक्षणों से कहा गया है और

जिसे उसके अपने ही विशिष्ट लक्षणों से समझा जा सकता है, [वही आत्मा है]। उसका एक विशिष्ट लक्षण यह है कि उसका अपना कोई विशिष्ट लक्षण [ही] नहीं है। कुछ [तत्त्वज्ञानियों का कथन है कि] अग्नि की जो उष्णता है और जल का जो परमकल्याणकारक आस्वाद या रस है [वह उसके सदृश है]। अन्य [तत्त्वज्ञानी कहते हैं कि] वाणी, श्रवणेन्द्रिय, नेत्र, मन [और] प्राण आत्मा हैं। अन्य [तत्त्वज्ञों का विचार है कि] बुद्धि, धृति, (धारणा एवं धैर्य), स्मृति और प्रकृष्ट ज्ञान [आत्मा] हैं। अब ये सभी उस [आत्मा] के लक्षण उसी प्रकार से हैं, जैसे [भूमिगत] बीज का लक्षण है अङ्कुर, अग्नि के लक्षण हैं धूम, ज्वाला, अङ्गारे इत्यादि। इस सन्दर्भ में [इस श्लोक को] उद्धृत किया जाता है—

जैसे अग्नि से चिनगारियाँ और सूर्य से किरणें निकलती हैं, ठीक उसी प्रकार प्राण और अन्य सभी तत्त्व यथोचित क्रमानुसार बार-बार उसी [आत्मा] से प्रवर्तित होते हैं ।।३१।।

प्राणादयोऽस्मादात्मनः कथं क्रमेणाभ्युच्चरन्तीत्यपेक्षायां तदुपपादयति—

तस्माद्वा एतस्मादात्मनि सर्वे प्राणाः सर्वे लोकाः सर्वे वेदाः सर्वे देवाः सर्वाणि च भूतान्युच्चरन्ति तस्योपनिषत्सत्यस्य सत्यमिति।

तस्माच्छुद्धः पूत इत्याद्युक्तलक्षणाद्वा एवैतस्मादुक्तानेकलिङ्गानुमितसद्भावादात्मनि स्वस्वरूपे स्थितादविकृतादिति यावत्। सर्वे प्राणा वागादयः सर्वे लोकास्तेषां विषयाः सर्वे वेदा वेदनानि तत्तद्विषया बुद्धिवृत्तयः सर्वे देवा इन्द्रियाधिष्ठातारोऽग्न्यादयः सर्वाणि च भूतानि भूतसङ्घातोपाधिकानि भोक्तृरूपाणि स्थावरजङ्गमात्मकानि चोच्चरन्ति व्युच्चरन्ति विविधमुत्तिष्ठन्ति पूर्वकृतप्रज्ञाकर्मवासनानुसारेणोद्भवन्तीत्यर्थः। यस्मादेते व्युच्चरन्ति तस्याऽऽत्मन उपनिषदुपनिगमयितृत्वात्साक्षाद्रहस्यं नाम । किम् । सत्यस्य सत्यमिति। यदेतत्तस्योपनिषदिति योजना। सदिति पृथिव्यप्तेजांसि त्रीणि भूतानि त्यदिति वाय्वाकाशौ द्वे भूते सच्च त्यच्च सत्यमितिव्युत्पत्त्या पञ्च भूतानि स्वविकारैः

सह सत्यमुच्यन्ते। तस्य सत्यं परमार्थरूपमधिष्ठानम्। 'वाचारम्भणं विकारो नामधेयं मृत्तिकेत्येव सत्यम्' (छान्दो०) इति श्रुत्यन्तरादनृतस्य पञ्चभूतात्मकप्रपञ्चस्याधिष्ठानमात्मा सत्यस्य सत्यमित्युच्यत इत्यर्थः।

तदेवं वाच्यस्य जगत आत्मविवर्ततामुक्त्वा वाचकस्य तस्योत्पत्तिं वेदोत्पत्तिकथनेनाऽऽह—

अथ यथाऽऽर्द्रैधाग्नेरभ्याहितस्य पृथग्धूमा निश्चरन्त्येवं वा एतस्य महतो भूतस्य निश्वसितमेतद्यदृग्वेदो यजुर्वेदः सामवेदोऽथर्वाङ्गिरसः[1] इतिहासः[2] पुराणं[3] विद्योपनिषदः श्लोकाः सूत्राण्यनुव्याख्यानानि व्याख्यानान्यस्यैवैतानि विश्वा भूतानि ।।३२।।

अथ नामसृष्टिकथनोपक्रमे दृष्टान्तो यथा लोक आर्द्रैधाग्नेरार्द्रमेधो यस्य स आर्द्रैधाः स चासावग्निश्चेत्यार्द्रैधाग्निस्तस्याऽऽर्द्रैधोग्नेरित्येतत्। अभ्याहितस्य सन्धुक्षितस्य पृथगनेकप्रकारा धूमा धूमज्वाला विष्फुलिङ्गा विनिश्चरन्त्यात्मान एव सन्त उपाधिकृताकारभेदे प्रभवन्तीत्यर्थः। एवं वा एवमेवैतस्य प्रकृतस्याऽऽत्मनो महतोऽपरिच्छिन्नस्य भूतस्य सिद्धस्य यथाभूतस्य परमार्थस्य निश्वसितं निश्वसितमिव निश्वसितमबुद्धिपूर्वकमप्रयत्नकृतमेतत्। किम्। यदृग्वेद ऋग्वेदादिरूपं यदस्त्येतदिति योजना। अथर्वणा चाङ्गिरसा च दृष्टा मन्त्रा अथर्वाङ्गिरसः। अत्रर्ग्वेदादिशब्दैर्मन्त्रभागश्चतुर्णां वेदानां गृह्यते। इतिहासादिशब्दैस्तेषामेवाष्टविधं ब्राह्मणमभिधीयते। तत्रेतिहासः पुरावृत्तकथनम्। 'हरिश्चन्द्रो ह वै नाम राजाऽऽसीत्'

---

१. अथर्ववेद को अथर्वाङ्गिरसवेद इसलिए कहा जाता है, क्योंकि उसमें अथर्वा और अङ्गिरा दोनों ही ऋषियों के द्वारा साक्षात्कृत मन्त्रराशि सङ्कलित है।

२. टीकाकार रामतीर्थ के अनुसार 'इतिहास' शब्द आठ ब्राह्मण ग्रन्थों का द्योतक है। इसका अभिप्राय यह है कि रामतीर्थ के समय आज जैसे सामवेद के आठ ब्राह्मण ग्रन्थ हैं, उसी प्रकार यजुर्वेदादि प्रत्येक वेद के थे। 'इतिहास' शब्द का तात्पर्य उनके अनुसार 'पुरावृत्त कथन' है।

३. 'विद्या' शब्द उपनिषदों का वाचक है, क्योंकि उनमें विभिन्न उपासनाओं का निरूपण है।

इत्यादि। यथाऽत्रैव 'वालखिल्या इति श्रूयन्तेऽथ क्रतुं प्रजापतिमब्रुवन्' इति। तथा 'जानश्रुतिर्ह पौत्रायणः श्रद्धादेयो बहुदायी बहुपाक्य आस' इत्यादि। 'ते ह समित्पाणयो भगवन्तं पिप्पलादमुपसन्नाः' इत्यादि। पुराणं सृष्ट्यादिवाक्यसन्दर्भः 'तस्माद्वा एतस्मादात्मनि' इत्यादि। विद्योपासन-विद्यावाक्यसन्दर्भः। उपनिषदः 'तस्योपनिषत्सत्यस्य सत्यमित्याद्या रहस्योपदेशवाक्यरूपाः। श्लोकाः 'अत्रोदाहरन्त्येवं ह्याहाचित्तं चित्तमध्य-स्थम्' इत्येवमादयः। सूत्राणि वस्तुसङ्ग्रहवाक्याणि 'अयं वाव खल्वात्मा ते' इत्येवंविधानि। अनुव्याख्यानानि तत्सूत्रमनु तस्य विस्पष्टार्थकल्पनानि यथाऽनन्तरमेव 'अथ य एषोच्छ्वासाविष्टम्भनेन' इत्येवमादीनि। व्याख्या-नानि तस्य सूत्रार्थस्योपपादनपराणि वाक्यान्यत्रैव वालखिल्यक्रतु-संवादप्रबन्धेन प्रवृत्तानीति। अथवा ऋग्वेदादिशब्दैर्मन्त्रब्राह्मणात्मको वेद-शब्दवाच्यः सर्व एव गृह्यते। इतिहासादिशब्दैश्च महाभारतादिः प्रसिद्ध एव ग्रन्थसन्दर्भोऽभिधीयते। ब्रह्मण एव प्रत्यगात्मनस्तत्तदृष्ट्याद्यात्मनाऽभि-व्यज्य व्यवस्थितस्येतिहासादिकर्तृत्वोपगमात्।

'यद्यद्विभूतिमत्सत्त्वं श्रीमदूर्जितमेव वा ।
तत्तदेवावगच्छ त्वं मम तेजोंऽशसम्भवम्' ।।

इति भगवद्वचनात् सर्वज्ञेश्वरतन्त्र एव सर्वो व्यवहार इति तात्पर्यार्थः। एतदेवोपसंहारव्याजेनाऽऽहास्यैवैतानि विश्वा विश्वानि भूतानि सवाचकानीत्यर्थः।।३२।।

इसलिए इस आत्मा से ही समस्त [वागादि] प्राण, सभी लोक, सभी वेद, सभी देवगण और समस्त प्राणी आविर्भूत होते हैं। उसका रहस्य [यह है कि वह] सत्य का भी सत्य है। जैसे गीली लकड़ियों से जलाई गई अग्नि से धुएँ की राशि निकलती [है और] पृथक् से [दिखाई देती] है, उसी प्रकार परमेश्वर के निःश्वास से ही ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद, अथर्वाङ्गिरसवेद [अर्थात् अथर्ववेद], इतिहास, पुराण, विद्या (उपासनाप्रधान उपनिषदें), श्लोक, सूत्र और अनुव्याख्यान [प्रभृति] निकले हैं। [विश्व के] समस्त प्राणी [और अन्य तत्त्व] उसी [परमसत्ता] की व्याख्यास्वरूप ही हैं ।।३२।।

ब्रह्मविद्यायां वक्तव्यं विशेषमुक्त्वा पुनः संवत्सरात्मकालावयवानग्न्यवयवेषु सम्पाद्योपासनविशेषं पूर्वत्रानुक्तमनुक्रामति खिलरूपत्वादस्य नात्रातीव सङ्गत्यादर इति—

पञ्चेष्टको वा एषोऽग्निः संवत्सरस्तस्येमा इष्टका यो वसन्तो ग्रीष्मो वर्षाः शरद्धेमन्तः स शिरःपक्षसीपृष्ठपुच्छवानेषोऽग्निः पुरुषविदः सेयं प्रजापतेः प्रथमा चितिः।

अग्निहोत्र्यधिकारकमिदमुपासनमुपदिश्यते सोऽग्निहोत्रहोमकाले गार्हपत्यादिष्वग्निषु क्रमेणैतच्चिन्तयेत्। तद्यथा। पञ्चेष्टको वक्ष्यमाणाभिः पञ्चभिरिष्टकाभिश्चीयमान एषोऽग्निर्गार्हपत्याख्यो वै संवत्सरः संवत्सरात्मत्वेन ध्येय इत्यर्थः। तस्य संवत्सरात्मनोऽग्नेरिमा अनन्तरमेव वक्ष्यमाणा इष्टका वसन्तादयः। तत्र वसन्तः शिरो ग्रीष्मो दक्षिणः पक्षो वर्षा उत्तरः पक्षः शरत्पृष्ठं हेमन्तशिशिरावृतू एकीकृत्य पुच्छमित्येवं विभागमभिप्रेत्याऽऽह—**शिरःपक्षसीत्यादि**। शिरः पूर्वभागः पक्षसी पक्षौ दक्षिणोत्तरभागौ पुच्छं पश्चाद्भागः पृष्ठं मध्यभाग एतदङ्गवानेषोऽग्निः। पुरुषविदः पुरुषं विराजमात्मानं वेत्त्युपास्त इति पुरुषवित्तस्य पुरुषविदः प्रजापतेः संवत्सरात्मनो विराजो या प्रथमा चितिः सेयं पृथिवीति योजना। अयं गार्हपत्योऽग्निः पृथिवी संवत्सरात्मा विराड्वसन्तादीष्टकाभिश्चितः शिरःपक्षपुच्छपृष्ठवानहमस्मीति ध्यायेदिति तात्पर्यार्थः। पुरुषविध इति पाठे पुरुषाकार एषोऽग्निरित्यर्थः।

एवं ध्यायतो यजमानस्यैतदग्निकृतमुपकारमाह—

करैर्यजमानमन्तरिक्षमुत्क्षिप्त्वा वायवे प्रायच्छत्।

यजमानस्य परलोकगमनावसरे तं यजमानमग्निहोत्रिणमुपासकं करैर्हस्तैरन्तरिक्षं प्रत्युत्क्षिप्त्वोत्क्षिप्य वायवे हिरण्यगर्भाय सूत्रात्मने प्रायच्छत्प्रयच्छतीत्येतत्।

स्थूलवायुशङ्कां वारयति—

प्राणो वै वायुः।

प्राणश्च हिरण्यगर्भः सर्वश्रुतिषु प्रसिद्धः। इति गार्हपत्याग्निविषयं ध्यानं फलं चोक्तम्।

इदानीं हिरण्यगर्भप्राणदृष्ट्या दक्षिणाग्निध्यानप्रकारमाह—

प्राणोऽग्निस्तस्येमा इष्टका यः प्राणो व्यानोऽपानः समान उदानः स शिरःपक्षसीपृष्ठपुच्छवानेषोऽग्निः पुरुषविदस्तदिदमन्तरिक्षं प्रजापतेर्द्वितीया चितिः करैर्यजमानं दिवमुत्क्षिप्तेन्द्राय प्रायच्छदसौ वा आदित्य इन्द्रः सैषोऽग्निस्तस्येमा इष्टका यदृग्यजुः-सामाथर्वाङ्गिरसा इतिहासः पुराणं स शिरःपक्षसी-पुच्छपृष्ठवानेषोऽग्निः पुरुषविदः सैषा द्यौः प्रजापतेस्तृतीया चितिः करैर्यजमानस्याऽऽत्मविदे[1]ऽवदानं करोत्यथाऽऽत्मविदु-त्क्षिप्य ब्रह्मणे प्रायच्छत्तत्राऽऽनन्दी मोदी भवति ।।३३।।

तस्य प्राणरूपस्य दक्षिणाग्नेरिमा इष्टकास्ताः का इति ता आह—प्राणादयः पञ्च वायवः शरीराभ्यन्तरचारिणो यथाक्रमं शिर आद्यवयवतया चितेष्टकारूपा इत्ययमप्यग्निः शिरःपक्षपुच्छपृष्ठवानित्यादि सर्वं पूर्ववद्योज्यम्। तदिदमन्तरिक्षमन्तरिक्षात्मको दक्षिणाग्निः प्रजापतेर्द्वितीया चितिः। करैरित्याद्यपि पूर्ववत्। कोऽसाविन्द्र इत्येतदाह—असौ वै प्रसिद्ध आदित्य इन्द्रः परमेश्वरः। सैषोऽग्निः स एष इन्द्रोऽग्निराहवनीयस्तस्येमा इष्टकाः सेतिहासपुराणाश्चत्वारो वेदाः पूर्ववत्क्रमेण शिरःप्रभृत्यवयवात्मना चितेष्टकारूपा ध्येयाः। इहापीतिहासपुराणयोरेकत्वं द्रष्टव्यम्। सैषा द्यौर्दिवात्मकोऽयमाहवनीयोऽग्निः प्रजापतेस्तृतीया चितिः। अयं पुनरिन्द्रः सविता दिवाहवनीयाग्निरूपो यजमानस्याऽऽत्मविदे त्रैलोक्यात्मकः प्रजापतिर्यजमानस्याऽऽत्मविद्यजमानेन त्रिष्वग्निष्वात्मत्वेन भावितस्तस्मा अवदानमवदानकं तत्प्रीतिकरं यजमानं करोति तदात्मसात्करोतीत्यर्थः। अथवाऽऽत्मविदे पूर्वोपासकः फलावस्थ आत्मवित्तस्मा आत्मविदे यजमानस्यावदानं करोतीति सम्बन्धः। यजमानं तस्मै समर्पयतीत्यर्थः।

---

१. टीकाकार रामतीर्थ के अनुसार 'आत्मविदे' का प्रथम अभिप्राय त्रैलोक्यात्मक प्रजापति है। 'अथवा' के रूप में उन्होंने इस की दूसरी व्याख्या 'पूर्वोपासक आत्मज्ञानी, जो इस समय फल-प्राप्ति की स्थिति में है, के रूप में भी की है।

अथानन्तरमात्मविद्यजमानमुत्क्षिप्य ब्रह्मणे समष्टिसूत्रात्मने कार्यावस्थाय प्रायच्छत्प्रदत्तवान्। तत्र ब्रह्मणि स्थितो यजमान आनन्दी मोदी सामान्यतो विशेषतश्च यथासङ्कल्पमानन्दवान् भवतीत्यर्थ:। अस्या ब्रह्मप्राप्तेर्गत्यायत्तत्वान्नात्र ब्रह्मशब्द: परब्रह्मविषय: 'कार्यं बादरिरस्य गत्युपपत्ते:' (ब्र० सू०, ४.३.७) इति न्यायात् ।।३३।।

[सम्प्रति अग्निहोत्रविषयिणी उपासना बतलाई जा रही है—] यह [गार्हपत्य संज्ञक] अग्नि, जिसमें पाँच इष्टकाएँ (ईटें) [चुनी गई] हैं, संवत्सर हैं [अर्थात् इसका ध्यान संवत्सर के रूप में करना चाहिए]। ये पाँच ईटें [वास्तव में] पाँच ऋतुएँ हैं, [जो क्रमश: इस प्रकार हैं-] वसन्त, ग्रीष्म, वर्षा, शरद्, और हेमन्त। यह अग्नि पुरुषाकार है, जिसके एक शिर, दो पक्ष, पीठ और पूँछ (ये अङ्ग) हैं। यह पृथिवी प्रजापति की प्रथम चिति (चयन) है [अर्थात् सबसे पहले गार्हपत्याग्नि के रूप में पृथिवी का ही प्रथम चयन सम्पन्न हुआ]। [इसने अपने] हाथों से [अग्निहोत्र के अनुष्ठाता] यजमान को ऊपर अन्तरिक्ष में उछाल कर वायु को सौंप दिया। प्राण ही वायु है। प्राण अग्नि है। प्राण, अपान, व्यान, समान और उदान [संज्ञक ये पाँच दक्षिणाग्निसंज्ञक अग्नि की] इष्टकाएँ हैं। वह अग्नि पुरुषाकार है— शिर, दो पक्ष, पीठ और पूँछ उस अग्नि के [अंग] हैं। यह अन्तरिक्ष प्रजापति की द्वितीया चिति है [जिसका सम्बन्ध दक्षिणाग्नि से है]। इसने यजमान को हाथों से उछालकर उसे इन्द्र को सौंप दिया है। यह इन्द्र आदित्य [ही] है। यह [आहवनीय संज्ञक] अग्नि है। इसकी पाँच इष्टकाएँ ये हैं—ऋक्, यजुष्, साम, अथर्वाङ्गिरस, इतिहास और पुराण यह अग्नि भी पुरुषविध हैं, जिसके शिर, दो पक्ष, पीठ और पूँछ [ये अंग] हैं। यह द्युलोक के प्रजापति की तृतीया चिति है। [जिसमें आहवनीय संज्ञक अग्नि का चयन हुआ है]। हाथों से यजमान को ऊपर उछालकर [यह आहवनीय संज्ञक अग्नि] उसे आत्मज्ञानयुक्त [ब्रह्मा] को समर्पित कर देती है। तदनन्तर आत्मज्ञाता [ब्रह्मा] उसे ऊपर उछालकर ब्रह्म को प्रदान कर देते हैं। वहाँ अर्थात् ब्रह्म में रहते हुए वह [यजमान] आनन्दित और प्रसन्न रहता है ।।३३।।

पुन: प्रकारान्तरेण गार्हपत्याद्यग्निविषये सम्पाद्यविशेषमुपदिशन्नुपासनान्तरमाह—

पृथिवी गार्हपत्योऽन्तरिक्षं दक्षिणाग्निर्द्यौराहवनीयस्तत एव पवमानपावकशुचय आविष्कृतमेतेनास्य यज्ञम् ।

गार्हपत्यादिष्वग्निषु यथानिर्देशं पृथिव्यादिदृष्टिर्विधीयते। तत एवेति त एवेत्येतत्। पवमानपावकशुचयोऽऽग्निविशेषा ये प्रसिद्धास्त एत एव गार्हपत्यः पवमानो दक्षिणाग्निः पावक आहवनीयः शुचिरिति भेदः। अस्य गार्हपत्यादिसङ्घातस्य सम्बन्धि यज्ञं यजमानमेतेन पवमानादिदेवता-सङ्घातेनाऽऽविष्कृतं प्रवर्तितमित्यर्थः। आधानेनाग्निषु संस्कृतेषु प्रथमं पवमानादयो हीष्टाः सन्तोऽग्नीनामुत्तरक्रत्वङ्गतां सम्पादयन्ति तस्मात्पवमानादिरूपा एते ध्येया इत्यभिप्रायः।

तथा जाठरोऽपि योऽग्निः सोऽपि पवमानादिसङ्घात एवेति ध्येयत्वमभिप्रेत्याऽऽह—

यतः पवमानपावकशुचिसङ्घातो हि जाठरस्तस्मा-दग्निर्यष्टव्यश्चेतव्यः स्तोतव्योऽभिध्यातव्यः ।

यस्मादेवमध्यात्ममधिभूतमधिदैवमधियज्ञं चाग्निराहवनीयादिरूप-स्तस्मादग्निर्यष्टव्यः पय आदिभिर्हविर्भिः। चेतव्य इष्टकाभिरधियज्ञमध्यात्मं च यथाशास्त्रम्। स्तोतव्य उपस्थानादिमन्त्रैः। अभिध्यातव्य आभिमुख्येन प्रत्यगात्मतया ध्यातव्य इत्यग्निप्रशंसया तन्निष्ठताकर्तव्यतोपदिष्टा।

इदानीं होमकालेऽग्नौ चिन्तनीयं मन्त्रेणोपदेष्टुं तत्प्रसञ्जयति—

यजमानो हविर्गृहीत्वा देवताभिध्यानमिच्छति।

इच्छतीच्छेत्कुर्वीतेत्यर्थः।

हिरण्यवर्णः शकुनो हृद्यादित्ये प्रतिष्ठितः।
मद्गुर्हंस[१]स्तेजोवृषः सोऽस्मिन्नग्नौ यजामहे ।।

---

१. टीकाकार रामतीर्थ के अनुसार हंस विशुद्ध जीवात्मा का प्रतीक है, जो देहसंघात से विलक्षण है। २. मैक्समूलर ने अपने अंग्रेजी-अनुवाद में 'लय' का अनुवाद Sloth अर्थात् आलस्य किया है, जो उचित नहीं प्रतीत होता। वास्तव में इसका तात्पर्य है—विलीन हो जाना, अपारमार्थिक कार्यों में खो जाना।

हिरण्यवत्प्रकाशमानः शकुनः पक्षी पक्षीव नीडस्थो नीडादन्यो देहसङ्घाताद्विलक्षणो हृद्यन्तर्हृदय आदित्ये सवितृमण्डले च प्रतिष्ठितो वर्तते। केन केन रूपेणेत्यपेक्षायामाह—मद्गुर्जलचरः पक्षी स यथा जले निमग्न इव गच्छति तथा हृद्यात्मा जीवरूपः सम्पूर्णोऽपि यथावदनवभासनान्मद्गुसदृशः। हंसो मानससरोऽम्भोरुहवनविहारी पक्षिविशेषः। स यथा शुद्धस्तथाऽऽदित्ये पुरुषो ब्रह्मरूपो यतः स तेजोवृषस्तेजसा श्रेष्ठस्तेजोबहुल इत्यर्थः। तमेव पुरुषमुभयत्र वर्तमानमित्यध्याहारः। अस्मिन्नग्नौ यथोपदिष्टस्वरूपे यजामहे वयं पूजयाम इति मन्त्रस्यार्थः।

इति चापि मन्त्रार्थं विचिनोति।

इति च मन्त्रमुच्चार्यापि मन्त्रार्थमपीति योजना। विचिनोति विचारयति चिन्तयतीत्यर्थो धातूनामनेकार्थत्वात् । यद्वा विचिनोति विशेषेण मन्त्रतात्पर्यसम्बद्धतया चिनोति सङ्घट्टयतीत्यर्थः ।

तदेव तात्पर्यमुपन्यस्यति—

तत्सवितुर्वरेण्यं भर्गोऽस्याभिध्येयं यो बुद्ध्यन्तस्थो ध्यायीह मनःशान्तिपदमनुसरत्यात्मन्येव धत्तेऽत्रेमे श्लोका भवन्ति ।

सवितुरादित्यस्य सम्बन्धि तत्स्वरूपं वरेण्यं वरणीयं सम्भजनीयं कीदृशं तद्भर्गः 'भाभिर्गतिरस्य हि' इत्यादिना (खं० ७) पूर्वत्र व्याख्यातरूपम्। अस्य यजमानस्याभिध्येयम्। यो बुद्ध्यन्तस्थो ध्यायीध्याता हृदि प्रतिष्ठितो ध्यातेति चिन्तयेदित्यर्थ। एवं कुर्वन्निह मनःशान्तिपदं मनसो विक्षेपपरित्यागेन शान्तिपदमालम्बनमनुसरति प्राप्नोति यत आत्मन्येव प्रतीचि ध्येयं रूपं धत्तेऽनुसन्धत्त इत्यर्थः। अत्रोक्तेऽस्मिन्नर्थ इमे वक्ष्यमाणाः श्लोका भवन्ति।

यथा निरिन्धनो वह्निः स्वयोनावुपशाम्यते।
तथा वृत्तिक्षयाच्चित्तं स्वयोनावुपशाम्यते ।।

स्वयोनौ भूतसूक्ष्मलक्षणे स्वकारणे। तथा चित्तं स्वयोनौ स्वाधिष्ठाने साभासाज्ञानोपलक्षित उपशाम्यते शाम्यतीत्यर्थः।

स्वयोनावुपशान्तस्य मनसः सत्यकामतः ।
इन्द्रियार्थविमूढस्यानृताः कर्मवशानुगाः ।।

इन्द्रियार्थविमूढस्य मनसः कर्मवशानुगा अनृता मिथ्याप्रवृत्तयो यास्ताः सत्यकामतो यथार्थात्मवस्तुन्युपरागात्स्वयोनावुपशान्तस्य पुनर्न प्रभवन्तीत्यध्याहारेण योजना।

यस्मादेवं तस्मात्—

चित्तमेव हि संसारं तत्प्रयत्नेन शोधयेत् ।
यच्चित्तस्तन्मयो भवति गुह्यमेतत्सनातनम् ।।

संसरत्यनेन पुमानिति वा संसरति पुरुषमभिभूय प्रवर्तत इति वा चित्तमेव संसारं तत्संसर्गं विना पुरुषस्य संसारादर्शनादित्यर्थः। तत्प्रयत्नेन शास्त्रोक्तशुभविषयनिवेशनं कृत्वा शोधयेन्निवृत्ताशुभवासनं सम्पादयेत् । यतो यच्चित्तो यस्मिन्निवेशितचित्तः पुरुषः स तन्मयस्तत्स्वभावो भवतीत्येतद्गुह्यं प्राकृतबुद्ध्यगम्यं सनातनमव्यभिचारीत्यर्थः।

चित्तस्य हि प्रसादेन हन्ति कर्म शुभाशुभम् ।
प्रसन्नात्माऽऽत्मनि स्थित्वा सुखमव्ययमश्नुते ।।

प्रसन्नात्मा प्रसन्नचित्तः। आत्मनि प्रत्यक्स्वरूपे। सुगममन्यत्।

समासक्तं यथा चित्तं जन्तोर्विषयगोचरे ।
यद्येवं ब्रह्मणि स्यात्तत्को न मुच्येत बन्धनात् ।।

स्पष्टार्थः।

मनो हि द्विविधं प्रोक्तं शुद्धं चाशुद्धमेव च ।
अशुद्धं कामसम्पर्काच्छुद्धं कामविवर्जितम् ।।

तस्मात्कामस्त्याज्य इत्यर्थः।

[१]लयविक्षेपरहितं मनः कृत्वा सुनिश्चलम् ।

यदा यात्यमनीभावं तदा तत्परमं पदम् ।।

लयो निद्रा विक्षेपो बहिर्विषयस्मृत्यादिः। अमनीभाव आत्मनो मन उपाधिप्रवेशकृतविशेषपरित्यागस्तं यदा याति तदा तदेव निरुपाधिक-स्वस्त्ररूपं परमं पदं याति। न पुनरप्राप्तप्राप्तिरस्येत्यर्थः।

तावन्मनो निरोद्धव्यं हृदि यावद्गतक्षयम् ।

एतज्ज्ञानं च मोक्षं च शेषान्ये ग्रन्थविस्तराः[२] ।।

हृदि हृदयसाक्षिणि। गतः प्राप्तः क्षयो विनाशो येन तत्तथा। उत्तरार्धं स्पष्टार्थम्।

समाधिनिर्धौतमलस्य चेतसो निवेशितस्याऽऽत्मनि यत्सुखं भवेत् ।

न शक्यते वर्णयितुं गिरा तदा स्वयं तदन्तःकरणेन गृह्यते ।।

आत्मनि निवेशितस्य सत इत्यर्थः। अन्तःकरणेनान्तःकरणा-वस्थासाक्षिणा गृह्यते स्वानुभवमात्रसिद्धं तन्नान्यस्मै वक्तुं शक्यमित्यर्थः।

अपामापोऽग्निरग्नौ वा व्योम्नि व्योम न लक्षयेत् ।

एवमन्तर्गतं यस्य मनः स परिमुच्यते ।।

यथेत्यध्याहारः। अपामिति षष्ठी सप्तमीत्वेन विपरिणेया प्रथमाश्च द्वितीयात्वेन। तथा चाप्सु यथा निक्षिप्ता अपः पृथङ् न लक्षयेत्कश्चिदग्नौ वाऽग्निं व्योम्नि वा प्रविष्टं घटाकाशाद्येवं यस्य मनोऽन्तर्गतमात्मैकतां गतं स परिमुच्यते सर्वसंसारबन्धनादित्यर्थः।

---

१. कुछ हस्तलेखों में 'ग्रन्थविस्तराः' के स्थान पर 'ग्रन्थिविस्तराः' पाठान्तर भी मिलता है, जिसका अनुवाद मैक्समूलर ने 'extensions of the ties (which bind us to this life)' किया है, लेकिन हमें 'ग्रन्थविस्तराः' पाठ ही सन्दर्भ सङ्गत प्रतीत होता है। कावेल ने भी इसी पाठ को स्वीकार कर उसका अनुवाद किया है— 'by book-prolexity'.

किं बहुना मनःकृतः संसारस्तद्विलयनाच्च मोक्ष इति निश्चित्य तन्निरोधे यत्नः कार्य इत्यभिप्रेत्योपसंहरति—

मन एव मनुष्याणां कारणं बन्धमोक्षयोः।

बन्धाय विषयासङ्गि मोक्षं निर्विषयं स्मृतम् ।। इति।

स्पष्टार्थः।

मनोनिरोधस्य चोपायं व्यतिरेकोक्तिपूर्वकं विदधती प्रकृतमुपसंहरति—

अतोऽनग्निहोत्र्यनग्निचिदज्ञानभिध्यायिनां ब्रह्मणः

पदव्योमानुस्मरणं विरुद्धं तस्मादग्निर्यष्टव्य-

श्चेतव्यः स्तोतव्योऽभिध्यातव्यः ।।३४।।

अतो यस्मादनग्निहोत्रिणां यथोक्तविधाग्निहोत्रहीनानामनग्निचितां पञ्चेष्टक इत्याद्युक्तप्रकाराग्निचयनमकुर्वतामज्ञानां चित्तवृत्तान्तं संसारमोक्षहेतुमजानतामनभिध्यायिनां पूर्वोक्तसवितृमण्डलस्थात्माभिध्यानरहितानां पुंसां ब्रह्मणः पदमात्मतत्त्वं तदेव व्योम व्योमवन्निराकारत्वात्तस्यानुस्मरणमनुसन्धानं विरुद्धं विशेषेण रुद्धं चित्ताशुद्धिक्षयाभावाद् ब्रह्मानुसन्धानमशक्यमित्यर्थः। तस्मादित्यादि व्याख्यातम् ।।३४।।

पृथिवी गार्हपत्याग्नि है। अन्तरिक्ष दक्षिणाग्नि है। द्युलोक आहवनीयाग्नि है। इसी कारण ये [क्रमशः] पवमान (पवित्र), पावक (पवित्र करनेवाली) और शुचि [प्रकाशमयी] हैं—[इन तीनों देवों से] तीनों [अग्नियों] का यज्ञ प्रकट हो जाता है। चूँकि जठराग्नि [उदराग्नि] भी पवमान, पावक और शुचि—इन तीनों अग्नियों की समूहभूत ही है, इसलिए अग्नि से यज्ञानुष्ठान करना चाहिए, [अग्नि का] चयन करना चाहिए, [अग्नि की] स्तुति करनी चाहिए [और उसकी] उपासना [ध्यान रूप में] करनी चाहिए। यजमान हविष् को लेकर देवता का ध्यान करना चाहता है।

हृदय के भीतर [और] सूर्य में सुनहरे रंग का पक्षी विराजमान है। वह आनन्दपूर्वक चहचहाने वाले, तेजस्वी और चमकदार हंस [के सदृश]

है। हम इस अग्नि में उसका यजन करते हैं। [इस मन्त्र का पाठ करने के अनन्तर साधक अथवा उपासक] उसके अर्थ का भी अनुसन्धान करे। सविता देवता का वरणीय और भजनीय सर्वव्यापक [तेज] भी [साधक के] ध्यान का केन्द्र हो सकता है, जो बुद्धि के भीतर स्थित तत्त्व पर ध्यान केन्द्रित करता है, वह वहाँ मन की शान्ति के स्थान का अनुसरण करता है और अपने भीतर ही उसकी धारणा कर लेता है। इस सन्दर्भ में ये श्लोक हैं—

जैसे ईंधन न मिलने से आग अपने आविर्भाव स्थान पर ही बुझ जाती है, उसी प्रकार वृत्तियों अर्थात् व्यावहारिक क्रियाशीलता के नष्ट हो जाने से चित्त [भी] अपने स्थान पर शान्त हो जाता है।

सत्यानुरागी और शान्त मन को भी यदि इन्द्रियों के विषय विमूढ़ बना देते हैं, तो पूर्व कर्मों के अनुरूप उसमें मिथ्या [-भाषण प्रभृति विभिन्न दोष उत्पन्न हो जाते हैं]। चित्त ही संसरण अर्थात् जन्म-मरण का मूल कारण है, अत: उसका परिष्कार प्रयत्नपूर्वक करना चाहिए। व्यक्ति के जैसे विचार होते हैं, वैसा ही वह बनता है, यह अत्यन्त प्राचीन एवं निगूढ रहस्य है।

चित्त की प्रसन्नता से [साधक अपने] शुभ और अशुभ सभी प्रकार के कर्मों को नष्ट कर देता है। प्रसन्नस्वरूपवाला साधक अपने में ही स्थित रहकर अविनाशी सुख को प्राप्त कर लेता है।

प्राणी का मन जितना [लोक में] दिखाई पड़ने वाले विषयों में फँसा रहता है, उतना ही यदि ब्रह्म में केन्द्रित हो जाये, तो कौन नहीं बन्धन से मुक्त हो सकता है! मन दो प्रकार का बतलाया गया है— शुद्ध तथा अशुद्ध। कामवासना से संयुक्त होने पर वह अशुद्ध हो जाता है और उससे मुक्त होने पर शुद्ध हो जाता है। मन को लय अर्थात् लौकिक विषयों में खो जाने तथा इधर-उधर भटकने से बचाकर एवं सुस्थिर करके [साधक] जब मन के प्रभाव से रहित स्थिति अर्थात् अमनीभाव को प्राप्त कर लेता है, तो वही मन उसका परम पद हो जाता है।

हृदय में मन को तब तक रोकना चाहिए, जब तक उसका प्रभाव समाप्त न हो जाये [अर्थात् जब तक वह नियन्त्रित न हो जाये]। 'यही [तत्त्व] ज्ञान है और यही मोक्ष है। इसके अतिरिक्त ग्रन्थों में जो कुछ कहा गया है, वह सब विस्तार मात्र है।

समाधि [पर्यन्त विभिन्न यौगिक प्रक्रियाओं] के द्वारा [जिसके] मल [दूर कर दिये गये हैं, ऐसे] प्रक्षालित मन को आत्मा में समाविष्ट करने से जो सुखानुभूति होती है, उसका वर्णन वाणी से नहीं किया जा सकता है—इसे तो केवल अन्तःकरण में अनुभव ही किया जा सकता है।

जैसे जल में जल, अग्नि में अग्नि और आकाश में आकाश पृथक् से दिखाई नहीं देते, उसी प्रकार जिसका मन भी [अपनी आत्मा में] लीन हो जाता है, वह मुक्त हो जाता है।

मनुष्यों के बन्धन और मोक्ष का कारण केवल [उनका] मन है। [लौकिक] विषयों में आसक्त मन बन्धन-कारक होता है और उन विषयों से रहित हो जाने पर वही मोक्ष [-प्राप्ति] में [सहायक सिद्ध होता] है।

इसलिए जो न अग्निहोत्र करते हैं, न अग्नि-चयन करते हैं, और न उपासना ही करते हैं, उनके लिए ब्रह्म के सर्वोच्च स्थान की कल्पना करना भी सम्भव नहीं है [—वहाँ तक पहुँचना तो बिल्कुल असम्भव ही है], अतएव अग्निहोत्र का अनुष्ठान[१] करना चाहिए, अग्निचयन करना चाहिए और [आध्यात्मिक भाव से] उपासना करनी चाहिए ।।३४।।

इदानीं पूर्वोक्ताग्निहोत्रमग्निचयनं चानुतिष्ठतो ध्यायिनः स्तोतव्य इत्युक्तमग्न्यादित्योपस्थानं कैर्मन्त्रैः कार्यमित्यपेक्षायां तान् मन्त्रान् पठति—

नमोऽग्नये पृथिवीक्षिते लोकस्मृते लोकमस्मै यजमानाय धेहि नमो वायवेऽन्तरिक्षक्षिते लोकस्मृते लोकमस्मै यजमानाय धेहि नम आदित्याय दिविक्षिते लोकस्मृते लोकमस्मै यजमानाय धेहि नमो ब्रह्मणे सर्वक्षिते सर्वस्मृते सर्वमस्मै यजमानाय धेहि ।

एतेऽग्न्युपस्थानमन्त्रा गार्हपत्यादिक्रमेण त्रयो योज्याश्चतुर्थस्तु सर्वाग्निसाधारणोऽन्ते सकृत्प्रयोज्यः। पृथिवीक्षिते पृथिवीलोकनिवासाय लोकस्मृते पृथिवीलोकस्य स्मर्त्रे यजमानार्थं चिन्तयतेऽग्नये गार्हपत्यात्मने नमः प्रह्वीभावोऽस्तु। अस्मै यजमानाय मह्यं लोकं पृथिवीलोकं धेहि मदर्थं

---

१. रामतीर्थ की टीका से ज्ञात होता है कि अग्निहोत्रादि के अनुष्ठान का प्रयोजन चित्तगत अशुद्धि का क्षय है, जिसके बिना ब्रह्म का अनुसन्धान असम्भव है।

धारयाहमुत्तरकाले त्वदात्मा सन्निमं लोकं प्राप्स्यामीत्यर्थः। एवमेवोत्तरे मन्त्रा योज्याः।

आदित्योपस्थानमन्त्रान् पठति—

हिरण्मयेन पात्रेण सत्यस्याभिहितं मुखम् ।
तत्त्वं पूषन्नपावृणु सत्यधर्माय विष्णवे ।
योऽसा आदित्ये पुरुषः सोऽसा अहमिति।

हिरण्मयेन ज्योतिर्मयेन पात्रेण मण्डलरूपेणामत्रेण सत्यस्य सत्यात्मनो ब्रह्मणो मुखं प्राप्तिद्वारमभिहितमपिहितमाच्छादितं वर्तते। हे पूषन् हे सूर्य त्वं तदपावृणु तद्द्वारमुद्घाटय। किमर्थं सत्यधर्माय। किंलक्षणाय विष्णवे व्यापनशीलाय व्याख्यास्यमानसत्यधर्मविष्णुस्वरूपप्राप्तय इत्यर्थः। योऽसौ परोक्ष आदित्ये मण्डलोपलक्षिते देवतात्मनि पुरुषः पूर्णोऽन्तर्यामी सोऽसौ स एवाहं नाहं तस्मादन्य इत्यर्थः। यद्वेत्थं योजना। य आत्मनि पुरुषोऽसावादित्ये पुरुष आत्मा यश्चासावादित्ये पुरुषः सोऽहमात्मनि पुरुषः। अतोऽन्तःकरणोपलक्षिततस्याऽऽदित्यदेवतोपलक्षितस्य चाऽऽवयोर्न भेदोऽस्तीत्यर्थः। इतिशब्द उपस्थानमन्त्रसमाप्त्यर्थः।

सत्यधर्मपदस्यार्थमाह—

एष ह वै सत्यधर्मो यदादित्यस्याऽऽदित्यत्वं तच्छुक्लं पुरुषमलिङ्गं

एष हैव वै प्रसिद्धः सत्यधर्मः। कः। आदित्यस्याऽऽदित्यत्वमिति यदेष हीति योजना। आदाय यातीत्यादित्यः। तथा च श्रुत्यन्तरे निर्वचनम्—'यदिदं सर्वमाददाना यन्ति तस्मादादित्याः' (बृहदा० अ०५) इति। तथा च भौमानां रसानामुत्तरायण आदानं ग्रहणं कुर्वन् दक्षिणायने वृष्टिरूपेण तान् रसानासमन्ताद्ददच्च परिभ्रमन्यदादित्यशब्देन निरुच्यत एतदेव सत्यधर्मत्वमेष आदित्य एव सत्यधर्म इत्यर्थः। तदादित्यात्मत्वं शुक्लं शुद्धं भास्वरमिति वा। पुरुषं पुरुषाकारम्—'य एषोऽन्तरादित्ये हिरण्मयः पुरुषः' (छान्दो० अ० १) इति श्रुतेः। अलिङ्गं स्वतो लिङ्गवर्जितं स्त्रीपुंनपुंसकादिभेदरहितम्—

'नैव स्त्री न पुमानेष न चैवायं नपुंसकः।
यद्यच्छरीरमादत्ते तेन तेन स युज्यते' ।। (श्वे० अ० ५)

इति श्रुतेः।

इदानीं विष्णुत्वमस्योपपादयति—

नभसोऽन्तर्गतस्य तेजसोंऽशमात्रमेतद्यदादित्यस्य मध्य इवेत्यक्षिण्यग्नौ चैतद्ब्रह्मैतदमृतमेतद्भर्गः।

नभसोऽन्तर्गतस्य दिड्मण्डलव्यापिनस्तेजसः प्रकाशस्यन्द मात्रं लेशमात्रमेतद्यदादित्यस्य मध्य इवाऽऽदित्यमण्डलस्थमिव न तु तत्त्रैव वर्त्तते किन्तु सर्वव्यापीत्यर्थः। इत्येवंप्रकारेण सर्वप्राणिचक्षुर्देशेऽग्नौ च प्रसिद्धेऽन्यत्र तेजसोंऽशमात्रमित्यर्थः। किं तत्तेजः। एतद्ब्रह्म परिपूर्णमत एवैतदमृतमनागमापायि नित्यमिति यावत्। एतदेव भर्गः सर्वकारणत्वादिरूपं पूर्वं व्याख्यातम्। तेजस्तेजस्वि नामहमिति भगवद्वचनात्सर्वत्रव्यापि तेजोरूपं ब्रह्मामृतं विष्णुरित्युक्तं भवति।

एतत्सत्यधर्मो नभसोऽन्तर्गतस्य तेजसोंऽशमात्रमेतत्।

इदानीमुक्तमेव स्वरूपमनूद्य तस्य सर्वात्मत्वमाविष्कुर्वती ध्येय-विशेषमर्थादुपदिशति—**एतत्सत्यधर्म इत्यादिना।**

यदादित्यस्य मध्येऽमृतं

किं तत्सत्यधर्मपदाभिधेयं तदाह—**यदादित्यस्य मध्येऽमृतमिति।**

किं तदमृतं तदाह—

यस्य हि सोमः प्राणा वाऽप्ययङ्कुरा एतद्ब्रह्मैतदमृतमेतद्भर्गः।

सोमश्चन्द्रमाः। प्राणाः प्राणिनां जीवनाख्याः प्राणादिवृत्तयः। वाशब्दात्प्राणस्थित्यर्थमन्नं गृह्यते। एते सर्वेऽप्यमृतरूपाः पदार्था यस्याङ्कुराः कार्याण्यमृताङ्कुरकारणत्वादमृतमित्यर्थः। अप्ययङ्कुरा इति यकारः प्रमादपतितः। एतद्ब्रह्मेत्याद्युक्तार्थम्।

अमृतात्मत्वमुपपाद्यास्य पुनरपि यजुरात्मत्वमाह—

**एतत्सत्यधर्मो नभसोऽन्तर्गतस्य तेजसोंऽश-
मात्रमेतद्यदादित्यस्य मध्ये यजुर्दीप्यति ।**

यदादित्यस्य मध्ये यजुर्दीप्यति दीप्यते। किं तद्यजुरिति तदाह—

ओमापो ज्योती रसोऽमृतं ब्रह्म भूर्भुवः स्वरोम् ।

ओङ्कारोऽनुज्ञापनात् । आप्यायनादापः। प्रकाशनाज्ज्योतिः। रसः सर्वकर्मपरिपाकनिर्वृत्तत्वादादित्यस्य रसत्वं सर्वकर्मफलाश्रय इत्यर्थः। अमृतं देवानां मोदनहेतुत्वात् । ब्रह्म भूर्भुवः स्वरोमिति। त्रैलोक्यमोङ्कारार्थभूतमोङ्कारश्च सर्वमेतदेवेत्यर्थः। एतत्सर्वं छान्दोग्ये—'असौ वा आदित्यो देवमधु' इत्यत्र मधुविद्यायां स्पष्टमाम्नातम् ।

अत्रैष श्लोकः—

**अष्टपादं शुचिं हंसं त्रिसूत्रमणुमव्ययम् ।
द्विधर्मोन्धं तेजसेन्धं सर्वं पश्यन् पश्यति ।।**

अष्टौ दिशः पादा यस्य सोऽष्टपादस्तम् । सविता ह्यन्तरिक्षस्थः पादैरिव दिग्भिः प्रतितिष्ठतीव विभाव्यते। यद्वा 'आरोगो भ्राजः पटरः पतङ्गः स्वर्णरो ज्योतिषीमान्विभासः कश्यपोऽष्टमः स महामेरुं न जहाति' इति तैत्तिरीयारण्यकोक्ता आरोगादयोऽष्टौ पादा ज्ञेयाः। शुचि शुद्धमलेपकमित्येतत्। हंसं हन्ति गच्छतीति हंसस्तं परिभ्रमन्तमिति यावत्। अथ वा हंस इति सूर्यनाम 'हंसः शुचिषत्' इति 'असौ वा आदित्यो हंसः शुचिषत्' इति ब्राह्मणदर्शनात्। त्रिसूत्रं त्रीणि सूत्राणि सूचकानि बन्धनानि वा यस्य स त्रिसूत्रस्तम्। ऋग्यजुःसामभिर्हि प्रतिपाद्यते सविता त्रय्यात्मकमण्डलनिबद्धश्च। तथा च श्रुतिः—'सैषा त्रय्येव विद्या तपति' इति। अणुं सूक्ष्ममिन्द्रियागोचरम्। अव्ययं शाश्वतम् । द्विधर्मोन्धं द्वाभ्यां धर्माभ्यां पुण्यपापाभ्यामन्धमनवभासमानं पुण्यपापरहितमित्यर्थः। धर्मोन्धमितिच्छान्दसः। तेजसेन्धं तेजसेद्धं दीप्तमतितेजस्विनमित्यर्थः।

एवंविधमीश्वरं सवितारं पश्यन् सर्वं पश्यति तदात्मभावनां कुर्वन् सर्वज्ञो भवतीत्यर्थः।

किं बहुनाऽयमेव सर्वात्मको नातःपरमस्तीति तं महीकर्तुं पुनरुपादत्ते—

नभसोऽन्तर्गतस्य तेजसोंऽशमात्रमेतद्यदादित्यस्य मध्ये उदित्वा मयूखे भवत एतत्सवित्सत्यधर्म एतद्यजुरेतत्तप एतदग्नि-रेतद्वायुरेतत्प्राण एतदाप एतच्चन्द्रमा एतच्छुक्रमेतदमृतम् ।

किं तद्यदादित्यस्य मध्य उदित्वोद्गम्य मयूखे अंशू भवतः प्रभवतः समर्थौ भवतो जगत्प्रकाशयितुमित्यर्थः। द्विवचनं प्राधान्याभिप्रायम्। उदुत्वा मयूखे इति पाठ उदूर्ध्वमुत्वोद्गम्य मयूखे उत्प्रभवत इत्यन्वयः। उदयाचलमारूढे सवितरि ततः प्रथमं निर्गते मयूखे मण्डलमतिक्रम्य ब्रह्माण्डमण्डलमखिलमवभासयन्ती उच्चैः प्रसर्पत इत्यर्थः। यदेतन्मयूख-द्वयं प्राधान्येनोक्तमेतत्सवित्सवितृरूपम्। सत्यधर्मो मयूखोपलक्षितं सवितृ-स्वरूपं सत्यधर्म इत्यर्थः। एतद्यजुरित्याद्यस्य महिमोपयासः स्पष्टार्थः।

एतद्ब्रह्मविषयमेतद्भानुरर्णवस्तस्मिन्नेव यजमानाः सैन्धव इव लीयन्त एषा वै ब्रह्मैकताऽत्र हि सर्वे कामाः समाहिता इत्यत्रोदाहरन्ति।

ब्रह्म विषयो यस्मिंस्तत्तथा ब्रह्मप्राप्तिद्वारमित्यर्थः। एतद्भानुरर्णव इत्येकं पदं तेजोराशिरित्यर्थः। यद्वा भानुः प्रकाशस्वभावोऽर्णवोऽर्ण उदकं वहति प्रापयति वृष्टिद्वारेणेत्यर्णव इत्यर्थः। तस्मिन्नर्णव एव यजमानाः कर्मिणस्तदविरोधेनोपासकाश्च सैन्धव इव सैन्धवखिल्य इवोदके निक्षिप्तो व्लीयन्ते विलीयन्ते तदात्मतां गच्छन्तीत्यर्थः। यदेवमस्मिन् यजमानानां विलयनमेषा वा एषैव ब्रह्मैकता कार्यब्रह्मसायुज्यप्राप्तिरेवोपासनाफलं न परब्रह्मसायुज्यमित्यभिप्रायः। तत्र हेतुरत्र हि यस्मात्सर्वे कामाः काम्यमाना विषयाः समाहिताः स्थिताः सन्तीत्यर्थः कार्यब्रह्मलोके हि सङ्कल्पमात्र-सिद्धाः पित्रादिलक्षणाः कामाः श्रूयन्ते 'स यदि पितृलोककामो भवति सङ्कल्पादेवास्य पितरः समुत्तिष्ठन्ति तेन पितृलोकेन सम्पन्नो महीयते'

(छान्दो० अ० ८) इत्यादौ। इतिशब्दो महिमोपवर्णनसमाप्त्यर्थः। अत्रोक्त-फल उदाहरन्ति ऋषय इत्यर्थः।

अंशुधारय इवाणुवातेरितः संस्फुरत्यसावन्तर्गः सुराणाम्।
यो हैवंवित्स सवित्स द्वैतवित्सैकधामेतः स्यात्तदात्मकश्च ।।

असौ सवितारमीशं प्रविष्टो मुक्तो यजमानः सुराणां सर्वेषां देवानामन्तर्गोऽन्तर्गतः संस्फुरति सर्वदेवतात्मा भवति। क इवेत्युच्यते। अणुवातेरितोऽल्पवायुना प्रेरितोंऽशुधारय इवांशून् धारयतीत्यंशुधारोंऽशुधार एवांशुधारयः प्रदीपः। धर्ता च विधर्ता च विधारय इतिवत्प्रयोगः। यो हैवंवित्स सवित्। विदा ज्ञानेन सह वर्तत इति सविद्विद्वानित्यर्थः। स द्वैतवित्। द्वैतं परापरब्रह्मभेदं वेत्तीति द्वैतवित्। यद्वा जीवानां द्वैतं भेदतत्त्वं वेत्तीति द्वैतवित्। स विद्वानेकधामैकं मुख्यं धामेतः प्राप्तः स्याद्भवेत्। यस्य धाम प्राप्नोति तदात्मकश्च तत्स्वरूपश्च भवेत्। ब्रह्मैव क्रमेण स भवतीत्यर्थः।

द्वैतवित्त्वं प्रपञ्चयति—

ये बिन्दव इवाभ्युच्चरन्त्यजस्रं

ये महासमुद्राद्बिन्दव इव वायूद्धताः परमात्मनः सकाशादविद्या-कार्योद्धूता अजस्रं पुनः पुनर्जागरितादावभ्युच्चरन्ति पृथगुत्तिष्ठन्ति तेऽर्चिषो वा इत्युत्तरेणान्वयः।

पृथग्भावावभासमात्रांशे दृष्टान्तमुक्त्वा पृथग्भूतस्यैव सतः पृथक्परिच्छेदप्रतिभासे दृष्टान्तमाह—

विद्युदिवाभ्रार्चिषः परमे व्योमन्। तेऽर्चिषो वै यशस
आश्रयवशाज्जटाभिरूपा इव कृष्णवर्त्मनः ।।३५।।

परमे व्योम्नि महाकाशे यथाऽभ्रार्चिषोऽभ्रान्तर्गतस्याखण्डस्यार्चिषो विद्युद्विद्युदाकारावभासस्तथा ते जीवात्मानो यशसः परमात्मनः, 'तस्य नाम महद्यशः' इति श्रुतेर्यशः परमात्मा तस्य यदर्चिश्चैतन्यप्रकाशस्तस्य वा आश्रंयवशाच्चैतन्याभासखचितत्वात्तत्प्रतिबिम्बाधारत्वाद्वाऽविद्या कार्यदेह-

द्वयरूपा विविक्ता जीवा इति व्यपदिश्यन्त इति योज्यम्। यथा कृष्णवर्त्मनोऽग्नेरभिरूपा जटा ज्वालाः स्फुलिङ्गाः प्रकाशाश्रयत्वादनेकाग्नित्वमापद्यन्ते स्फुलिङ्गादिव्यपदेशभेदं च तथेत्यर्थः।।३५।।

अग्नि को नमन! [उस अग्नि को नमस्कार,जो] पृथिवी पर निवास करती है, लोक की रक्षा करती है। [हे अग्निदेव! तुम] इस [यज्ञानुष्ठान अथवा उपासना में संलग्न] यजमान को यह [पृथिवी] लोक प्रदान करो। अन्तरिक्षनिवासी और उस लोक के संरक्षक वायुदेव को नमस्कार! [हे वायुदेव! तुम] इस यजमान को [अपने] लोक [की सुख-सुविधाएँ] प्रदान करो।

द्युलोक में निवास करने वाले और उस लोक की सुरक्षा करनेवाले आदित्य को नमस्कार! [हे आदित्यदेव! तुम अपना] लोक इस [कर्मनिष्ठ] यजमान को प्रदान करो।

सर्वत्र निवास करने वाले और समस्त [लोकों] की रक्षा करनेवाले ब्रह्म को नमस्कार! तुम इस यजमान को सर्वस्व प्रदान करो।

सत्य [स्वरूप ब्रह्म] का मुख स्वर्णमय पात्र से ढका है, हे पूषन् [आदित्य] देव! तुम इसे खोल दो, ताकि हम सत्यस्वरूप परमात्मा, जो सर्वव्यापक है, [तक पहुँच सकें अथवा उसका] साक्षात्कार कर सकें।

आदित्य में वह जो पुरुष है, वह यह मैं [ही] हूँ। यह जो आदित्य का आदित्य भाव है, वह सत्यधर्म [निष्ठ] है। वह शुक्लवर्ण है, पुरुष है, लिङ्गरहित है, आकाश के अन्तर्गत तेज का वह अंशमात्र है। यह जो [तैजस अंश] आदित्य के मध्य में है, उसी तरह वह आँख और अग्नि में [भी] है। यह ब्रह्म है। यह कभी मरता नहीं है। यह भजनीय अर्थात् सेवनीय है। यह सत्यधर्म आकाशान्तर्गत तेज का अंशमात्र है, वह जो आदित्य के मध्य में अमृत [तत्त्व] है।

जिसके सोम [चन्द्रमा] और प्राण भी अङ्कुर हैं, वह यह ब्रह्म है। यह [कभी] मरता नहीं है। यह दीप्तिमान् है। यह सत्यधर्म आकाशान्तर्गत तेज का अंशमात्र है, जो आदित्य के मध्य में यजुष् के समान चमक रहा है, वह ओम्, जल, ज्योति, रस, अमृत, ब्रह्म, भूः, भुवः, स्वः तथा ओम् है।

यह जो आठ पैरोंवाला, चमकता हुआ, हंस [विवेकी तथा सर्वत्र गमन करनेवाला], तीन धागों में बँधा, अत्यन्त सूक्ष्म, अविनाशी, [अच्छाई-बुराई रूप] दोनों धर्मों में अन्धा अर्थात् उनसे परे, तेज से प्रदीप्त होनेवाला [परमतत्त्व है, उसे] देखनेवाला सब कुछ देख लेता है। आकाश के अन्तर्गत तेज का यह अंशमात्र है, जो सूर्य के मध्य में उदित होकर दो किरणों [के रूप में] हो जाता है। यह सत्यधर्म सविता है। यह यजुष् है। यह तप है। यह अग्नि है। यह वायु है। यह प्राण है। यह जलतत्त्व है। यह चन्द्रमा है। यह शुक्र [शुक्ल] है। यह अमृत है। यह ब्रह्म का विषय अर्थात् क्षेत्र है। यह किरणों का समुद्र है। इसी सिन्धु में यजमान लवण की भाँति विलीन हो जाते हैं, यह ब्रह्म के साथ उनकी अभिन्न स्थिति अथवा एकता है। इस स्थान पर पहुँचकर उनकी समस्त कामनाएँ पूर्ण हो जाती हैं। इस विषय में [तत्त्वज्ञानी जन] यह उद्धरण देते हैं—

सूक्ष्मवायु के द्वारा आन्दोलित दीपक के समान वह, जो देवों के मध्य में रहता है, भलीभाँति चमकता है। जो इस [रहस्य] को जानता है, वह [आत्म] ज्ञानपूर्वक द्वैत को समझ लेता है, [ब्रह्म के साथ] एकता की [अनुभूति] को प्राप्त करके वह स्वयं भी ब्रह्ममय ही हो जाता है।

जो [साधक समुद्र से उठनेवाले] जल-बिन्दुओं और सर्वोच्च आकाश में मेघों के मध्य से छिटकनेवाले विद्युत्कणों की भाँति निरन्तर [बिना रुके हुए साधनामार्ग में क्रमशः] उन्नति करते हुए चलते रहते हैं, वे यश अर्थात् ब्रह्म के अर्चिष्मान् (प्रकाशमय) लोक में आश्रय प्राप्त करने पर अग्नि की जटाओं [ज्वालाओं] के सदृश प्रतीत होते हैं ।।३५।।

जीवद्वैततत्त्वमेवमाविष्कृत्य जीवेश्वरद्वैतमाविष्करोति—

द्वे वाव खल्वेते ब्रह्मज्योतिषो[१] रूपके शान्तमेकं समृद्धं चैकमथ यच्छान्तं तस्याऽऽधारं खमथ यत्समृद्धमिदं तस्यान्नम् ।

ब्रह्मज्योतिषो ब्रह्मात्मकस्य चित्प्रकाशस्य द्वे वाव खलु रूपके ज्ञापके। एकं शान्तं समृद्धं चैकम्। ते एवाऽऽश्रयभेदनिर्देशेन विभजते।

---

१. ब्रह्मज्योति और उसके भोक्ता जीव के सन्दर्भ में, रामतीर्थ ने अपनी टीका में इस सुप्रसिद्ध मन्त्र को उद्धृत किया है—

अथ तयोर्मध्ये यच्छान्तं तस्य खमाकाशमाधारमाश्रय:। क्लैब्यं छान्दसम्। खे व्याप्य व्यवस्थितोऽखण्डप्रकाश:। शान्तं रूपकमीश्वरस्याभोक्तु: स्वरूपज्ञापकमित्यर्थ:। अथ यत्समृद्धं तस्येदमन्नमाधार इत्यनुवर्तते। अन्ने भोक्तृत्वेन व्यवस्थितं ब्रह्मज्योतिस्तस्य जीवत्वज्ञापकं भोक्ता जीव इत्यर्थ:। तथा च मन्त्र:—

"द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया समानं वृक्षं परिषस्वजाते।
तयोरन्य: पिप्पलं स्वाद्वत्त्यनश्नन्नन्यो अभिचाकशीति" ।। इति।
(ऋ० सं० मं० १सू० १६४)

विभागनिर्देशप्रयोजनमाह—

तस्मान्मन्त्रौषधाज्यामिषपुरोडाशस्थालीपाकादिभिर्यष्टव्यमन्तर्वेद्याम् ।

यस्मादेवं ब्रह्मैव जीवेश्वररूपेण विभक्तं वर्तते तस्मान्मन्त्रौषधाज्यादिभिर्मन्त्रोपबृंहितैरौषधादिभिर्हविर्भिरन्तर्वेद्यां त्रेताविहितायां गृह्योक्तायामपि स्थण्डिलादिरूपायां यष्टव्यमीश्वरात्मकब्रह्मयजनं कर्तव्यमित्यर्थ:। औषधं चरुधानादि। आमिषं पश्वङ्गावदानम्। पुरोडाशो मन्त्रसंस्तुत: पिष्टपाकविशेष:। स्थालीपाक: स्मार्तश्चरु:। आदिशब्दात्पय:-सोमादि गृह्यते।

'द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया समानं वृक्षं परिषस्वजाते ।
तयोरन्य: पिप्पलं स्वाद्वत्त्यनश्नन्नन्यो अभिचाकशीति' ।।

ऋग्वेद [प्रथम मण्डल] के इस १६४वें सूक्तगत मन्त्र के अनुसार दो सुन्दर पक्षी एक ही पीपल वृक्ष की एक ही शाखा पर बैठे हैं। वे दोनों सुन्दर पंखों वाले और परस्पर मित्र हैं। उनमें से एक वृक्ष के स्वादिष्ट फलों का उपभोक्ता है और दूसरा उनका उपभोग न करके केवल दृष्टिपात भर कर रहा है। कहा जा सकता है कि इनमें से उपभोक्ता है जीव और द्रष्टा है परमात्मा।

उपर्युक्त अंशों से स्पष्ट है कि मैत्रायणी उपनिषत् की दृष्टि में, कर्मकाण्ड का अनुष्ठान, आत्मज्ञान की दिशा में बाधक न होकर साधक ही है। उपासना की दिशा में उन्मुख साधक के लिए चित्त-शुद्धि-हेतु कर्मकाण्ड का अनुष्ठान एक प्रकार से आवश्यक ही है। इस प्रकार यह उपनिषत् कर्मकाण्ड और ज्ञानकाण्ड के मध्य परस्पर समन्वय करने का प्रयत्न करती हुई परिलक्षित होती है।

तथा जीवरूपब्रह्मयजनमपि कार्यमित्यभिप्रेत्याऽऽह—

आस्न्यवशिष्टैरन्नपानैश्चाऽऽस्यमाहवनीयमिति मत्वा

अवशिष्टैरन्नपानैश्च महायज्ञाद्यवशिष्टैः स्वभोजनत्वेन पश्चाद्विहितैरिति वाऽन्नपानैरास्न्यास्ये यष्टव्यमिति पूर्वेणान्वयः। यस्मिन्नास्येऽन्नपानाभ्यां जीवरूपब्रह्मयजनं क्रियते तदास्यमाहवनीयं मत्वाऽऽस्यात्मकेऽस्मिन्ना-हवनीयेऽग्नौ प्रत्यग्रूपाय वैश्वानरात्मने हविरिदं हूयते मयेति चिन्तयन् भुञ्जीतेत्यर्थः।

किमर्थमेवं कार्यमिति तत्राऽऽह—

तेजसः समृद्ध्यै पुण्यलोकविजित्यर्थाय,

तेजो ज्ञानबलादिनिमित्तं प्रागल्भ्यं तद्वृद्ध्यर्थमास्याहवनीये यजनं पुण्यलोकस्य स्वर्गादेर्विजितिर्विजयस्तदर्थाय तत्प्रयोजनाय श्रौतस्मार्तयजनं कार्यमित्यर्थः।

अमृतत्वाय च।

एतदेव श्रौतादिकर्म सकामस्य पुण्यलोकजयहेतुरपि निष्कामस्य मोक्ष-हेतुर्भवत्यतो मुमुक्षुभिरपि यष्टव्यमित्यभिप्रेत्याऽऽह—**अमृतत्वाय चेति।**

कुतः प्रमाणात्पुण्यलोकसाधनं कर्मेत्यवगतमित्यत आह—

अत्रोदाहरन्ति।

विधिवाक्यानि श्रूयन्त इत्यर्थः।

तान्येव वाक्यानि पठति—

अग्निहोत्रं जुहुयात्स्वर्गकामो यमराज्यमग्निष्टोमेनाभियजति सोमराज्यमुक्थेन सूर्यराज्यं षोडशिना स्वाराज्यमतिरात्रेण प्राजापत्यमासहस्रसंवत्सरान्तक्रतुनेति ।

अत्राग्निहोत्रादिशब्दाः कर्मनामधेयानि। अग्निहोत्रग्रहणं च सर्वहविर्यज्ञानामुपलक्षणम्। अग्निष्टोमः सर्वसोमयागानां प्रथमो यज्ञः 'एष

वै प्रथमो यज्ञो यज्ञानां यदग्निष्टोमः' इति श्रुतेः। यमराज्यं यमाधिष्ठितः स्वर्गविशेषः। एवमेव सोमराज्यमित्यादि योज्यम्। स्वराज्यमिन्द्राधिष्ठितो लोकविशेषः। एतच्चात्यग्निष्टोमवाजपेयाप्तोर्यामाणां बृहस्पतिसवादीना-मेकाहानामुपलक्षणम्। प्राजापत्यं प्रजापतिनाऽधिष्ठितं स्थानं तद्द्वादशरात्र-प्रभृतिसहस्रसंवत्सरसंज्ञान्तो यः क्रतुसमुदायः सत्रात्मकस्तेन यजतीत्यर्थः। एतेनाहीना अप्युक्ता वेदितव्याः।

वर्त्याधारस्नेहयोगाद्यथा दीपस्य संस्थितिः ।
अन्तर्याण्डोपयोगादिमौ स्थितावात्मशुची तथा ।।३६।।

पूर्वार्धः स्पष्टार्थः। अन्तरे भवमन्तर्यमन्तरीयं ब्रह्माण्डान्तर्वर्ति व्यष्टिशरीरमण्डं ब्रह्माण्डं चान्तरीयाण्डे तयोरुपयोगात्स्वीकारादिमावात्मा च शुचिश्चाऽऽत्मशुची पुरुषादित्यौ तथा स्थितौ। वर्त्याधारस्थस्नेहसमाप्ति-पर्यन्तं दीपस्थितिवत्पिण्डब्रह्माण्डगतवासनाक्षयपर्यन्तं पुरुषादित्यरूपेण ब्रह्मज्योतिषो भेदेनावस्थानं भवतीत्यर्थः।।३६।।

ब्रह्म-ज्योति के दो रूप हैं। [उनमें से] एक शान्त है और दूसरा समृद्ध अर्थात् सजीव है। जो शान्त रूप है, उसका आधार आकाश है और जो समृद्ध या सजीव है, उसका आधार अन्न है। इसलिए [ब्रह्म के प्रथम रूप के निमित्त] गृहस्थ अग्नि की वेदी में [विनियुक्त] मन्त्रों के पाठपूर्वक औषधियों [विभिन्न वनस्पतियों], घृत, पुरोडाश और स्थालीपाक [होम के निमित्त पकाये गये अन्न] इत्यादि द्रव्यों से यज्ञानुष्ठान करना चाहिए। [द्वितीय अर्थात् समृद्ध या सजीव स्वरूप के निमित्त] यज्ञावशिष्ट अन्न-पानादि द्रव्यों से मुख को आहवनीयाग्नि मानकर [उसमें डालना चाहिए अर्थात् खाना-पीना चाहिए]। [यह इसलिए किया जाता है, ताकि शारीरिक बल और] कान्ति की समृद्धि हो [और तब उस स्वस्थ एवं तेजस्वी शरीर से] पुण्यलोकों पर विजय प्राप्त किया जा सके। अमरता भी प्राप्त की जा सके। इस सन्दर्भ में ये [श्रुतिवाक्य] उद्धृत किये जाते हैं—

स्वर्ग की कामना से युक्त [यजमान] को अग्निहोत्रजन्य होम करना चाहिए। अग्निष्टोम याग का अनुष्ठाता [तो] यम का राज्य भी जीत लेता है। [अग्निष्टोम की विकृति] उक्थसंज्ञक याग के अनुष्ठान से सोम का राज्य

[यजमान प्राप्त कर लेता है]। षोडशीसंज्ञक याग के अनुष्ठान से सूर्य का राज्य [यजमान जीत लेता है]। अतिरात्र संस्थ [अग्निष्टोम के विकृति याग] के अनुष्ठान से स्वाराज्य [की प्राप्ति होती है]। अहीनयागों से लेकर सहस्र संवत्सर पर्यन्त किये जाने वाले यज्ञों के अनुष्ठान से [यजमान] प्रजापति के लोक को प्राप्त कर लेता है।

जैसे बाती के सहारे और तेल के संयोग से दीपक जलता रहता है (अर्थात् जब तक दीपक में बाती और तेल है, तब तक वह प्रज्वलित रहता है, ठीक उसी प्रकार आत्मा और यह प्रकाशमान् सूर्य भी अन्तःकरण में स्थित परमात्मा के द्वारा गृहीत होने के कारण [ही] संस्थित हैं ।।३६।।

इदानीं यथोक्तानि कर्माणि प्रणवोपबृंहितान्यनुष्ठेयानि कर्मसाद्गुण्यायेति विधानपूर्वकं तादृगनुष्ठितकर्ममाहात्म्यं प्रपञ्चयति—

[१]तस्मादोमित्यनेनैतदुपासीतापरिमितं

तेजस्तत्त्रेधाऽभिहितमग्नावादित्ये प्राणे ।

यस्मादुक्तानि कर्माण्यभीष्टफलदानि तस्मात्तेषां वीर्यवत्तरत्वायोमित्यनेन मन्त्रेणाऽऽदावुच्चारितेनैतत्कर्मजातमुपासीत तात्पर्येणानुतिष्ठेदित्यर्थः। तथा चाऽऽह भगवान्—

"तस्मादोमित्युदाहृत्य यज्ञदानतपःक्रियाः ।
प्रवर्तन्ते विधानोक्ताः सततं ब्रह्मवादिनाम्" ।। इति ।

यतोऽपरिमितं तेजोऽस्येति शेषः। अस्योङ्कारस्य तेजः प्रभावोऽनवधीत्यर्थः। ब्रह्मरूपत्वात्तस्येति भावः। तत्तेजस्त्रेधाऽभिहितमभितो हितं निहितं कथितमिति वा। अग्नौ होमाद्याधारतया कर्मनिर्वर्तक आदित्ये देवतात्मनि प्राणे च कर्मफलभोक्तरि यजमाने चेति त्रेधा विहितमित्यर्थः।

---

१. 'तस्मादोमित्यनेनैतद् उपासीत ' के सदृश ही गीता में भी कहा गया है—
'तस्मादोमित्युदाहृत्य यज्ञदानतपः क्रियाः ।
प्रवर्तन्ते विधानोक्ताः सततं ब्रह्मवादिनाम्' ।।

एतत्कथनोपयोगमाह—

अथैषा नाड्यन्नबहु[1]मित्येषाऽग्नौ हुतमादित्यं गमयत्यतो यो रसोऽस्रवत्स उद्गीथं वर्षति तेनेमे प्राणाः प्राणेभ्यः प्रजा इत्यत्रोदाहरन्ति यद्धविरग्नौ हूयते तदादित्यं गमयति तत्सूर्यो रश्मिभिर्वर्षति तेनान्नं भवत्यन्नाद्भूतानामुत्पत्तिरित्येवं ह्याह ।

अग्नौ प्रास्ताऽऽहुतिः सम्यगादित्यमुपतिष्ठते ।
आदित्याज्जायते वृष्टिर्वृष्टेरन्नं ततः प्रजाः[2] ।।३७।।

अथैवं सत्येषा शास्त्रसिद्धा नाडी द्वाररूपाऽन्नं बहुलयतीत्यन्नबहुः प्रथमार्थे द्वितीया। इत्येवंविधैषाऽग्नौ हुतं हविरादित्यं गमयत्यतो हविष आदित्यप्रविष्टाद्यो रसो रश्मिपरिपाकतोऽस्रवत्स रस उद्गीथं यथा स्यात्तथा वर्षति। उच्चैः शब्दं कुर्वन् वर्षतीत्यर्थः। तेन वर्षणेन वर्षणनिष्पन्नेनान्नेनेत्येतत्। इमे प्रसिद्धाः प्राणाः स्थिरा भवन्तीत्यर्थः। प्राणेभ्यः प्रजा जीवद्भ्यो हि बलवद्भ्यः प्रजा भवन्ति। इत्यत्रोक्तेऽर्थ उदाहरन्त्युदाहरणवाक्यं निगदव्याख्यानम्। एवं ह्याह मनुरपीति शेषः। 'यद्वै किञ्च मनुरवदत्तद्भेषजम्' इति श्रुत्यैव मनोः प्रशंसनात्प्रायः श्रुतिरेव मनुवचनमिति गम्यते। यद्वाऽग्नौ प्रास्ताऽऽहुतिः सम्यगिति वचनं क्वचिच्छाखान्तरगतमेवेदं मनुना निबद्धमिति न मनुप्रणीतमतोऽनादिसिद्धया श्रुत्या कथमर्वाग्भाविस्मृतिवचनमुदाह्रियत इति न शङ्कास्पदम्। श्लोक उक्तार्थः ।।३७।।

अतएव [साधक को] ओङ्कार के माध्यम से अपरिमित तेजोमय परमात्मा की उपासना करनी चाहिए। इस तेज का कथन तीन प्रकार से किया

१. 'अन्नबहुम्' में द्वितीया का प्रयोग रामतीर्थ ने प्रथमा के अर्थ में माना है।

२. 'अग्नौ प्रास्ताहुतिः' प्रभृति श्लोक मनुस्मृति में भी मिलता है। रामतीर्थ के अनुसार यह वहीं से उद्धृत किया गया है—इस कारण 'एवं ह्याह' के बाद 'मनुरपीह' को हमें समझ लेना चाहिए। टीकाकार के अनुसार यह भी हो सकता है कि यह वेद की ही किसी अन्य शाखा का हो, जहाँ से मनु ने इसे उद्धृत किया हो। अतएव यह शङ्का नहीं करनी चाहिए कि श्रुति में स्मृति का वचन कैसे उद्धृत हो सकता है?

गया है। [अर्थात् वह असीम तेज] अग्नि, आदित्य और [यजमान के] प्राणों में [सन्निहित] है। अन्न के प्रचुर [उत्पादन] की यह प्रणाली है— अग्नि में जो आहुति डाली जाती है, वह उसके द्वारा आदित्य तक पहुँचा दी जाती है। आदित्य में स्थित जो रस टपकता है, उससे उद्गीथ संज्ञक साम की ध्वनि (गान) के समान वर्षा होती है। वर्षा से ये प्राण स्थिर होते हैं। बलवान् प्राणों से प्रजाएँ [उत्पन्न] होती हैं। इस सन्दर्भ में ये [श्रुतिवाक्य] उद्धृत किये जाते हैं—अग्नि में जो हवि डाली जाती है, वह सूर्य को प्राप्त होती है। सूर्य अपनी किरणों से वर्षा करता है। वर्षा से अन्न [उत्पन्न] होता है। अन्न से सभी प्राणियों की उत्पत्ति होती है। इसी प्रकार से कहा है—अग्नि में विधिपूर्वक डाली गई आहुति सूर्य के पास पहुँचती है। सूर्य से वर्षा होती है, वृष्टि से अन्न उत्पन्न होता है और उससे प्रजाएँ [उत्पन्न होकर सुखी तथा समृद्ध होती हैं] ।।३७।।

इदानीं पृथिवी गार्हपत्य इत्यादिनोक्तप्रकारेणाग्निहोत्रं जुह्वतः फलप्राप्तिं सोपस्करामाह—

अग्निहोत्रं जुह्वानो लोभजालं भिनत्त्यतः सम्मोहं छित्त्वा न क्रोधान् स्तुन्वानः काममभिध्यायमानस्ततश्चतुर्जालं ब्रह्मकोशं भिन्ददतः परमाकाशमत्र हि सौरसौम्याग्नेयसात्त्विकानि मण्डलानि भित्त्वा ततः शुद्धः सत्त्वान्तरस्थमचलममृतमच्युतं ध्रुवं विष्णुसंज्ञितं सर्वापरं धाम सत्यकामसर्वज्ञत्वसंयुक्तं स्वतन्त्रं चैतन्यं स्वे महिम्न तिष्ठमानं पश्यत्यत्रोदाहरन्ति ।

यथोक्तप्रकारमग्निहोत्रं जुह्वानः कालेन शुद्ध्युपेतान्तःकरणः सँल्लोभमयं जालं श्रेयोमार्गनिरोधकं भिनत्ति विदारयाति। अतोऽनन्तरं लोभमूलं मोहमविवेकलक्षणं छित्त्वा विवेकेनोत्कृत्य क्रोधान्क्रोधमयान्भाविन्न स्तुन्वानोऽस्तुन्वानो न प्रशंसंस्तान् परित्यजन्निति यावत्। कामं मोक्षलक्षणमभिध्यायमानो मोक्ष एव मे फलमस्त्विति मनसोल्लिखन्नित्यर्थः। तत एवं सम्यग्विशुद्धेऽन्तःकरणे सति चतुर्जालं ब्रह्मकोशं चतुर्भिरन्नमयप्राणमयमनोमयविज्ञानमयाख्यैर्जालैः परिवेष्टितं ब्रह्मकोशं ब्रह्मणः परस्याऽऽच्छादकं मायामयमानन्दमयाख्यं तस्मिन् हि ब्रह्म निहितं

श्रूयते (तै० उ०) 'यो वेद निहितं गुहायां परमे व्योमन्' 'ब्रह्म पुच्छं प्रतिष्ठा' इति च। तं कोशं भिन्दत्साक्षिसाक्ष्यविवेकलक्षणेन तत्त्वज्ञानेन भिन्दन्नुन्मूलयन् प्रत्यगर्थमुद्धरन्नित्यर्थः। अतः परमाकाशं सच्छब्दवाच्यं कारणोपाधिकम्। 'आकाशो वै नाम नामरूपयोर्निर्वहिता ते यदन्तरा तद्ब्रह्म' इत्युक्तलक्षणं (छान्दो० अ० ८) प्रविशेदिति शेषः। अत्र ह्याकाशे ब्रह्मण्युपासनार्थं यानि सूर्यसोमाग्नीनां मण्डलानि सात्त्विकानि सत्त्वगुणात्मकानि कल्पितानि तानि भित्त्वा सूर्यादिदेवताकमखिलं प्रपञ्चं परे कारणे ब्रह्मणि प्रविलाप्येत्युक्तं भवति। तत उपास्योपासकभेदप्रतिभास-हेत्वभावाच्छुद्धः प्रत्यगात्ममात्रतया स्थितो विद्वान् सत्त्वान्तरस्थं शुद्ध-सत्त्वमयान्तः करणवृत्तावभिव्यक्तिं गतमचलमित्याद्यनेकविशेषणैरुपलक्षितं ब्रह्म पश्यति साक्षादुपलभते मुच्यत इत्यर्थः। अत्र सत्यकामसर्वज्ञत्व-संयुक्तमिति ब्रह्मविशेषणेन कारणे ब्रह्मणि प्रथमं प्रविश्य ततः कालेन शुद्धं ब्रह्म प्रविशतीति गम्यत उपासनाप्रकरणात्। अत एव सर्वापरं धामेति विशेषणम्। सर्वमपरं निकृष्टं यस्मात्तत्सर्वापरं धाम स्थानं कारणमित्यर्थः। न चैवं सति चतुर्जालं ब्रह्मकोशं भिन्ददित्यनुपपन्नमिति शङ्क्यं तस्य क्रमप्राप्यपरममुक्त्यपेक्षत्वात्। प्राक्कृतो हि विवेकः प्रारब्धप्रतिबन्धक्षये स्वफलं करिष्यतीति सर्वमनवद्यम्। अत्रोक्तेऽर्थ उदाहरन्ति ऋषय इत्यर्थः।

उदाहरणं पठति—

रविमध्ये स्थितः सोमः सोममध्ये हुताशनः।
तेजोमध्ये स्थितं सत्त्वं सत्त्वमध्ये स्थितोऽच्युतः ।।

तेजोऽग्निः। स्पष्टार्थमन्यत् ।

मण्डलभेदक्रमेण ब्रह्मप्रवेशनमुदाहृत्य कोशभेदनेन ब्रह्मदर्शनमुक्तमनूद्य तत्राप्युदाहरणमाह—

शरीरप्रादेशाङ्गुष्ठमात्रमणोरप्यणुं ध्यात्वाऽतः परमतां गच्छत्यत्र हि सर्वे कामाः समाहिता इत्यत्रोदाहरन्ति ।।

शरीरे प्रादेशमात्रपरिमितं हृदयं तत्राङ्गुष्ठमात्रं कमलं तदिदं शरीर-प्रादेशाङ्गुष्ठमात्रमित्युच्यते। तादृगङ्गुष्ठमात्रकमलान्तरभिव्यक्तत्वादात्माऽ-प्यङ्गुष्ठमात्रस्तम्। अणोरप्यणुमतिसूक्ष्मादपि सूक्ष्मतरं दुर्लक्ष्यम्। एवंविधमात्मानं ध्यात्वाऽतोऽनन्तरं चतुर्जालं ब्रह्मकोशं भिन्दन् परमतां परमात्मभावं गच्छति यथोपासितं परमात्मानमनुभवतीत्यर्थः। अत्र हि परमात्मनि सर्वे कामाः स्वमनोमात्रसङ्कल्पसाधनाः समाहिताः स्थिताः 'सर्वं तदत्र गत्वा विन्दते' इति श्रुत्यन्तरात्। इत्यत्रास्मिन्नुक्तेऽर्थ उदाहरन्ति।

अङ्गुष्ठप्रादेशशरीरमात्रं प्रदीपप्रतापवद्द्विस्त्रिधा हि। तद्ब्रह्माभिष्टूय-मानं महो देवो भुवनान्याविवेश। ॐ नमो ब्रह्मणे नमः ।।३८।।

।। इति मैत्र्युपनिषदि षष्ठः प्रपाठकः ।।६।।

अङ्गुष्ठपरिमितकमलयुक्तं प्रादेशशरीरमात्रं प्रादेशपरिमितहृदयान्तः-शरीराभिव्यक्तमिति यावत्। प्रदीपप्रतापवत्प्रदीपशिखावद्द्विस्त्रिधा द्विस्त्रि-प्रकारं मन्दमध्यमोत्तमप्रकारं तैलवर्त्यादितारतम्यवशात्प्रदीपप्रकाश इवाभि-व्यञ्जकान्तःकरणशुद्धितारतम्यादभिव्यक्तितारतम्यवत्। तद्ब्रह्मान्तर्यामित्व-लक्षणमभिष्टूयमानमभितः स्तूयमानं प्रशस्ततयोपलभ्यमानं महो देवो महान् देवोऽखण्डचिदात्मको भुवनान्याविवेश यदेवंविधमात्मतत्त्वं तदेव ब्रह्म यच्चेदं ब्रह्म तदेव महान्देवो भुवनानि स्थावरजङ्गमादिजीवरूपेणाऽऽ-विवेश तस्मादात्मैव ब्रह्म ब्रह्मैवाऽऽत्मेत्यभेदेन ध्यानं प्रशस्तं तत्कर्तव्यमिति भावः। ॐ नमो ब्रह्मणे नम इति शान्तिपाठो मङ्गलार्थः।।३८।।

।। इति श्रीरामतीर्थविरचितायां मैत्रीशाखोपनिषद्दीपिकायां षष्ठः प्रपाठकः समाप्तः ।।६।।

अग्निहोत्र का अनुष्ठान करते हुए [साधक] लोभ या लालच के जाल को काट देता है। उसके पश्चात् [अन्य आकर्षणों के] मोह को काटकर क्रोधजन्य भावों का अनुमोदन न करता हुआ [ब्रह्म-प्राप्तिरूप] केवल एक ही अभिलाषा की चिन्ता और तदनुरूप उपासना करता हुआ, ब्रह्मकोश के [अन्नमय, प्राणमय, मनोमय और विज्ञानमय इन-] चार जालों को काटता

हुआ आकाश अर्थात् ब्रह्म को प्राप्त कर लेता है। वहाँ पर सूर्य, सोम, अग्नि और सत्त्व के [चार] मण्डलों का भेदन करके और तदनन्तर शुद्ध होकर [वह साधक] सत्त्व में स्थित, अटल, अमृत, अच्युत, ध्रुव [स्थिर] 'विष्णु' संज्ञक सर्वोपरि धाम को [और] सत्यकाम तथा सर्वज्ञता से युक्त स्वतन्त्र चैतन्य स्वरूप को अपनी महिमा में प्रतिष्ठित होते हुए देखता है। इस सन्दर्भ में यह [वचन] उद्धृत किया जाता है—

सूर्य के मध्य में सोम स्थित है, सोम के मध्य में अग्नि स्थित है, तेजस् के मध्य में सत्त्व स्थित है और सत्त्व के मध्य में अच्युत स्थित है।

शरीर में [हृदय के भीतर] जिसका परिमाण मात्र अँगूठे के समान है, जो अणु से भी छोटे आकार का है, उस [आत्मा] का ध्यान करके [साधक] परमात्मा को प्राप्त कर लेता है, जहाँ उसकी सभी कामनाएँ पूर्ण हो जाती हैं। इस विषय में [ज्ञानीजन इस वचन को] उद्धृत करते हैं—

शरीर में [हृदयान्तर्गत] जिसका परिमाण मात्र अँगूठे के बराबर है, दीपशिखा की भाँति, जो दो या तीन प्रकार से जलती रहती है और ब्रह्म के रूप में जिसकी स्तुति की जाती है, [अखण्ड चैतन्यस्वरूप] महादेव [स्थावर जङ्गमादि जीवरूप से जो सर्वत्र व्याप्त है] उसमें अनुप्रविष्ट हो गया [इस कारण आत्मा ही ब्रह्म है और ब्रह्म ही आत्मा है—अत: उसका ध्यान करना चाहिए]। उस ब्रह्म को बारंबार प्रणाम है।।३८।।

।। इस प्रकार षष्ठ प्रपाठक सम्पन्न हुआ ।।६।।

●

अथ सप्तमः प्रपाठकः

सप्तमोऽप्ययं प्रपाठकः प्रकीर्णानेकोपदेशपरः। तत्राऽऽदितः सप्तभिरनुवाकैः सवित्राश्रयमुपासनं स्वतन्त्रं सविस्तरं सफलमात्मपर्यवसितमुपदिशति—

अग्निर्गायत्रं त्रिवृद्रथन्तरं वसन्तः प्राणो नक्षत्राणि वसवः पुरस्तादुद्यन्ति तपन्ति वर्षन्ति स्तुवन्ति पुनर्विशन्त्यन्तर्विवरेणेक्षन्ति ।

अग्निर्देवता। गायत्रं छन्दः। त्रिवृत्स्तोमः। रथन्तरं साम। वसन्त ऋतुः। प्राणः प्राणनवृत्तिरनः। नक्षत्राण्यश्विन्यादीनि। वसवो देवगणविशेषः। एते सर्वे मूर्तिमन्तः सवितुः पुरस्तात्पुरोभाग उद्यन्ति। एतैः पुरोभागे परिवृतः सविता ध्येय इति विवक्षितम्। तापकाल एते तपन्ति वर्षासु वर्षन्ति तत्तदवसरे सवितारं स्तुवन्ति पुनरस्तं गच्छन्ति सवितर्यन्तर्विशन्ति। अथवा भोगकाले सवित्राश्रितममृतं भोक्तुमन्तर्विशन्ति सवितृमण्डलमनुप्रविशन्ति। विवरेण द्वारेण किरणप्रवृत्तिमार्गेणेक्षन्ति भोज्यममृतमीक्षन्ते पश्यन्ति। अथवा विवरेण समयविशेषेण भोगप्रतीक्षां कुर्वन्तीत्यर्थः। एतदप्यग्न्यादीनां वृत्तान्तं ध्येयं वेदितव्यम्।

एवंविधैः पुरोवर्तिभिः स्तूयमानं सावित्रं स्वरूपं ध्येयं निर्दिशति—

अचिन्त्योऽमूर्तो गभीरो गुप्तोऽनवद्यो घनो गहनो निर्गुणः शुद्धो भास्वरो गुणभुग्भयोऽनिर्वृत्ति[१]र्योगीश्वरः सर्वज्ञो मघोऽप्रमेयोऽनाद्यन्तः श्रीमानजो धीमाननिर्देश्यः सर्वसृक्सर्वस्याऽऽत्मा सर्वभुक्सर्वस्येशानः सर्वस्याऽऽन्तरान्तरः[२]।।१।।

---

१. 'निर्वृत्ति' का अर्थ रामतीर्थ के अनुसार 'सर्वसिद्धिस्वरूप' है।

२. 'आन्तराऽन्तरः' का अभिप्राय अन्तर्यामित्व है ।।१।।

अमूर्त इति च्छेद:। अचिन्त्यो मनसोऽगोचर:। अमूर्तोऽपरिच्छिन्न:। गभीरो दुरवगाह: कर्मेन्द्रियागोचर इत्यर्थ:। गुप्तो ज्ञानेन्द्रियाविषय:। अनवद्य: पुण्यपापरहित:। घनोऽभेद्य:। गहनो दुर्विवेक:। निर्गुणो रूपादिगुणरहित:। शुद्धो निर्लेप:। भास्वर: सर्वावभासकभारूप:। गुणभुक्त्रिगणविकारसाक्षी। बिभेत्यस्मात्सर्वमिति भय: कालरूप:। अनिर्वृत्तिरकार्यरूप:। यद्वा निर्वृत्ति: सर्वसिद्धिरूप:। प्रसिद्धार्थमन्यत् । मघो मघवानिन्द्र: पूज्य इत्यर्थ:। सर्वस्याऽऽन्तरो भोक्ता जीवस्तस्याप्यान्तर आन्तरान्तरोऽन्तर्यामीत्यर्थ:।।१।।

सप्तम प्रपाठक की विषयवस्तु अनेक प्रकीर्ण उपदेशों से परिणूर्ण है। प्रथम सात अनुवाकों में सविता की उपासना स्वतन्त्र तथा विस्तारपूर्वक निरूपित है।

[अग्निदेव, गायत्री छन्द, त्रिवृत्स्तोम, रथन्तर साम, वसन्त ऋतु, प्राणवायु, नक्षत्रमण्डल [तथा] वसु [संज्ञक आठ देवों का समूह] इनका उदय पूर्व दिशा में होता है [अभिप्राय यह कि ये साकारस्वरूप में सूर्य अथवा सविता के पूर्व में उदित होते हैं—अत: पूर्व में इनसे परिवृत सविता का ध्यान करना चाहिए]। ये तपते हैं, वर्षा करते हैं, [सूर्य की] स्तुति करते हैं और पुन: [सूर्य में ही] प्रविष्ट हो जाते हैं [और सूर्य के मध्य में ही रहकर लोकों की] देखभाल करते हैं। [सूर्य] अचिन्तनीय, निराकार, गहरा, आवृत, निर्दोष, ठोस, अपरिमेय, गुणातीत, शुद्ध, प्रकाशमय [सत्त्वादि तीनों] गुणों [की लीला] का उपभोक्ता, निर्भय, निर्वृत्ति, योगीश्वर, सर्वज्ञाता, बुद्धिमान्, अवर्णनीय, सबका स्रष्टा, सबकी आत्मा, सभी का भोक्ता, सबका स्वामी [और] सभी के हृदयों का हृदय है[1] ।।१।।

इन्द्रस्त्रिष्टुप्पञ्चदशो बृहद्ग्रीष्मो व्यान: सोमो रुद्रा दक्षिणत उद्यन्ति तपन्ति वर्षन्ति स्तुवन्ति पुनर्विशन्त्यन्तर्विवरेणे-क्षन्त्यनाद्यन्तोऽपरिमितोऽपरिच्छिन्नोऽपरप्रयोज्य: स्वतन्त्रोऽलिङ्गोऽमूर्तोऽनन्तशक्तिर्धाता भास्कर:।।२।।

अनाद्यन्त इत्यादिविशेषणानि सवितु: पूर्ववद्ध्यानार्थानि यथाशब्दं विज्ञेयानि ।।२।।

---

१. उपर्युक्त विवरण से स्पष्ट है कि सूर्य, मन और ज्ञानेन्द्रियों एवं कर्मेन्द्रियों से अगोचर है।

इन्द्रदेव, त्रिष्टुप् छन्द, पञ्चदशस्तोम, बृहत्साम, ग्रीष्म ऋतु, व्यानवायु, सोम [चन्द्रमा] और रुद्र [संज्ञक] ग्यारह देवों का [समूह] —इनका उदय दक्षिण दिशा से होता है। ये तपते हैं, वर्षा करते हैं, [सूर्य की] स्तुति करते हैं, फिर उसी [सूर्य] में प्रवेश कर जाते हैं, और उसी के मध्य में रहकर [लोकों की] देखभाल करते हैं। भास्कर [सूर्य] अनादि, अनन्त, अपरिमित, [दूसरों के द्वारा] अनावृत, [अन्य के द्वारा] अनियोज्य, स्वतन्त्र, चिह्नरहित, निराकार, अनन्त शक्तिसम्पन्न, धाता [स्रष्टा] और प्रकाशमय है ।।२।।

मरुतो जगती सप्तदशो वैरूपं वर्षा अपानः शुक्र आदित्याः पश्चादुद्यन्ति तपन्ति वर्षन्ति स्तुवन्ति पुनर्विशन्त्यन्तर्विवरेणेक्षन्ति तच्छान्तमशब्दमभयमशोकमानन्दं तृप्तं स्थिरमचलममृतमच्युतं ध्रुवं विष्णुसंज्ञितं सर्वापरं धाम ।।३।।

मरुतो जगतीत्यादि समानम्। ।।३।।

मरुत्संज्ञक देव, जगतीछन्द, सप्तदशस्तोम, वैरूपसाम, वर्षा ऋतु, अपान संज्ञकवायु, शुक्रतारा और आदित्यसंज्ञक [बारह देवों का गण] — ये सभी पश्चिम से उदित होते हैं। ये तपते हैं। वर्षा करते हैं, [सूर्य की] स्तुति करते हैं और पुनः उसी [सूर्य] में प्रवेश कर जाते हैं। उसी के मध्य में रहकर [लोकों की] देखभाल करते हैं। वे विष्णुसंज्ञक उस सर्वोपरि धाम [को भी देखते हैं, जो] भय और शोकरहित, आनन्दमय, तृप्त, स्थिर, अचल, अमृत, अच्युत और ध्रुव अर्थात् अटल है ।।३।।

विश्वेदेवा अनुष्टुबेकविंशो वैराजः शरत्समानो वरुणः साध्या उत्तरत उद्यन्ति तपन्ति वर्षन्ति स्तुवन्ति पुनर्विशन्त्यन्तर्विवरेणेक्षन्त्यन्तःशुद्धः पूतः शून्यः शान्तोऽप्राणो निरात्माऽनन्तः ।।४।।

विश्वेदेवा इत्यादि समानम् ।।४।।

विश्वेदेव संज्ञक देवगण, अनुष्टुप् छन्द, एकविंशस्तोम, वैराजसाम, शरद् ऋतु, समानवायु, वरुणतारा और साध्यसंज्ञक देवगण—इनका उदय उत्तर दिशा से होता है। ये तपते हैं, वर्षा करते हैं, [सूर्य की] स्तुति

करते हैं, फिर उसी में प्रवेश कर उसके बीच से ही [लोकों की] देखभाल करते हैं। इससे वह शुद्ध, पवित्र, शून्य, शान्त, प्राणरहित, निरात्मा और अनन्त है।।४।।

मित्रावरुणौ पङ्क्तिस्त्रिणवत्रयस्त्रिंशौ शाक्वररैवते हेमन्त-शिशिरा उदानोऽङ्गिरसश्चन्द्रमा ऊर्ध्वा उद्यन्ति तपन्ति वर्षन्ति स्तुवन्ति पुनर्विशन्त्यन्तर्विवरेणेक्षन्ति प्रणवाख्यं प्रणेतारं भारूपं विगतनिद्रं विजरं विमृत्युं विशोकम् ।।५।।

मित्रावरुणौ पङ्क्तिरित्यादि समानम् । ।।५।।

मित्र और वरुण संज्ञक देव, पङ्क्तिछन्द, त्रिणवस्तोम, तथा त्रयस्त्रिंशस्तोम, शाक्वर एवं रैवतसाम, हेमन्त तथा शिशिर ऋतुएँ, उदानवायु, अङ्गिरा और चन्द्रमा— ये ऊर्ध्व दिशा में उदित होते हैं, ये तपते हैं, वर्षा करते हैं, [सूर्य की] स्तुति करते हैं, फिर उसी में प्रवेश कर, उसके मध्य में रहकर [लोकों की] देखभाल करते हैं। [वे] 'प्रणव'संज्ञक उस [महानायक को, जो सबका] प्रणेता अर्थात् उन्नायक है, उसको भी देखते हैं। वह प्रकाशरूप, निद्रामुक्त, जरारहित एवं मृत्यु तथा शोक से परे है।।५।।

एवं पञ्चसु दिक्षु क्रमेण ध्येयविशेषानुपदिश्याधोभागे च ध्येयविशेषमुपदिशति—

शनिराहुकेतूरगरक्षोयक्षनरविहगशरभेभादयोऽधस्तादुद्यन्ति तपन्ति वर्षन्ति स्तुवन्ति पुनर्विशन्त्यन्तर्विवरेणेक्षन्ति यः प्राज्ञो विधरणः सर्वान्तरोऽक्षरः शुद्धः पूतो भान्तः क्षान्तः शान्तः ।।६।।

विधरणो विधारको वर्णाश्रममर्यादाया इत्यर्थः। भान्तो भासा युक्तः। क्षान्तः क्षमावाँस्तथा शान्तः ।।६।।

शनि, राहु, केतु, सर्पगण, यक्षवृन्द, राक्षससमूह, मानवसमुदाय, पक्षिवृन्द, हाथी और हथिनी इत्यादि [पशु] — ये अधोवर्तिनी दिशा से आविर्भूत होते हैं। ये तपते हैं, वर्षा करते हैं, स्तुति करते हैं, पुनः [सूर्य में] प्रविष्ट हो जाते हैं, और वहाँ से [उसे] देखते हैं, [जो] प्रज्ञासम्पन्न,

सभी वस्तुओं को यथास्थान व्यवस्थित रूप से रखनेवाला, सबका अन्तःकरण, अविनाशी, शुद्ध, पवित्र, चमकदार, क्षमाशील और शान्त है।।६।।

एवमधिदैवं ध्येयं सविस्तरमुपदिश्य तदनूद्य तस्याध्यात्मं ध्येयं स्वरूपमुपदिशति—

एष हि खल्वात्माऽन्तर्हृदयेऽणीयानिद्धोऽग्निरिव विश्वरूपोऽस्यैवान्नमिदं सर्वमस्मिन्नोता इमाः प्रजाः ।

योऽधिदैवतमादित्यमण्डल उपास्य उक्त एष ह्येव खल्वात्माऽन्तर्हृदये हृदयस्यास्य स्थानस्याणीयस्त्वादणीयानतिसूक्ष्मः। अग्निरिव दीपशिखेवेद्धो दीप्यमान इत्येतत्। विश्वरूपः सर्वरूपो वैश्वानरो भोक्तेति यावत्। अतोऽस्यैवान्नमिदं सर्वमविशेषेण सर्वप्राणिभिरद्यमानमिदमन्नमस्यैव वैश्वानरात्मनोऽन्नमिति दृष्टिर्विधीयते। अस्मिन् वैश्वानरात्मनीमाः प्रसिद्धाः प्रजाः स्थावराद्या ओता आश्रिताः पटा इव तन्तूनेनमाश्रित्य स्थिता इत्यर्थः।

सर्वात्मको वैश्वानरो भोक्ता तस्यैवेदं सर्वैरद्यमानं सर्वप्रकारमन्नमिति ध्यात्वा प्राप्तमन्नं भुञ्जानोऽन्नदोषैर्न लिप्यत इत्येवमर्थं सूचयन्त्यात्मानं विशिनष्टि—

एष आत्माऽपहतपाप्मा विजरो विमृत्युर्विशोकोऽविचिकित्सोऽविपाशः सत्यसङ्कल्पः सत्यकाम एष परमेश्वर एष भूताधिपतिरेष भूतपाल एष सेतुर्विधरण एष हि खल्वात्मेशानः शम्भुर्भवो रुद्रः प्रजापतिर्विश्वसृग्घिरण्यगर्भः सत्यं प्राणो हंसः शास्ताऽच्युतो विष्णुर्नारायणः ।

अपहतपाप्मा पुण्यपापलेपरहित इत्यर्थः। पुण्यमप्यत्र पापशब्देन गृह्यते तस्यापि पापवत्संसारबन्धहेतुत्वात् 'उभे ह्येवैष एते तरति न सुकृतं न दुष्कृतं सर्वे पाप्मानोऽतो निवर्तन्ते' इति च श्रुतेः। विजरो विमृत्युरिति जरामृत्युधर्मकात्स्थूलदेहाद्विविच्यते। विशोक इति शोकादिधर्मकादन्तःकरणात्।

विविधा चिकित्सा विचिकित्सा सहजस्य क्षुद्व्याधेर्निवर्तनं सा यस्यास्ति स विचिकित्सोऽन्नोपष्टब्धजीवनः प्राणस्तस्मादन्योऽयमात्माऽविचिकित्सः। अत एवात्र शाखान्तरेऽविजिघत्स इति पठ्यते। खादितुमिच्छा जिघत्सा तया रहितोऽविजिघत्स इत्यर्थः। अविपाश इति वर्णव्यत्ययेनापिपासः पिपासारहितः पिपासाधर्मकात्प्राणादन्य इत्यर्थः। स्थूलसूक्ष्मदेहोपाधिनिषेधे तद्दोषानास्कन्दितत्वात्सत्यसङ्कल्पः सत्या अवितथाः सङ्कल्पा यस्य सः। अत एव सत्यकामः काम्यन्त इति कामाः सत्या यथासङ्कल्पमवश्यम्भाविनो यस्य स सत्यकामः। यत एवमयमुपाधेरुद्धृतोऽत एष एव परमेश्वर एष भूताधिपतिर्भूतानां स्वाम्येष भूतपालः पालयिता यत एष सेतुर्जगन्मर्यादोत्तम्भको यतो विधरणो विधारको वर्णाश्रमादिधर्माणां तद्धेतूनां चेति शेषः। इदानीमुक्तगुणमात्मानं स्तौति—एष हि खल्वात्मेशानो य उक्तः स एव शम्भ्वादिशब्दवाच्यो नान्य इत्यर्थः।

उक्तयोरध्यात्माधिदैवोपाधिकयोरात्मनोरुपाधिद्वयापोहेनैकत्वं वास्तवं रूपमुपदिशत्यहंग्रहत्वाय—

यश्चैषोऽग्नौ यश्चायं हृदये यश्चासावादित्ये स एष एकः ।

अग्निग्रहणमधिदैवस्याऽऽदित्यस्य प्रकाशोपजीविसर्वविभूतिग्रहणोपलक्षणार्थम्। यश्चायं हृदये प्रत्यङ्पुरुषो यश्चासावादित्ये परोक्षः स आदित्यस्थ[१] एष हृदयस्थश्चैक एव नानयोर्वस्तुतत्त्वे भेदोऽस्तीत्यर्थः।

एवमनुसन्धायोपास्यस्वरूपं मन्त्रमिममुदीरयेदित्यभिप्रेत्याऽऽह—

तस्मै ते विश्वरूपाय सत्ये नभसि हिताय नमः ।।७।।

सत्ये नभसि ब्रह्माकाशे हिताय निहिताय स्वस्वरूपे स्थितायेत्यर्थः।।७।।

हृदय में [विद्यमान] यह आत्मा अतिसूक्ष्म, अग्नि के सदृश प्रदीप्त और सर्वाकारसम्पन्न है। समस्त प्राणी इसी में सन्निहित हैं। यह आत्मा

१. रामतीर्थ की टीका के अनुसार आदित्य-मण्डलस्थ ही सूक्ष्मरूप में हृदय में विराजमान है। वह वैश्वानररूप में उपास्य है।

पापरहित, वृद्धावस्थाहीन, मृत्यु और शोक से परे, भूख और प्यास से रहित, सत्यसङ्कल्पयुक्त तथा सत्यकामना से युक्त है। यही परमेश्वर है। सभी प्राणियों की सर्वोच्च अधिष्ठातृ शक्ति यही है। सभी प्राणियों का यह संरक्षक है। सभी को [आपस में जोड़ने के कारण] सेतुरूप और सभी को यथा स्थान सुविन्यस्त करनेवाला है। यह आत्मा ही ईशान, शम्भु, भव, रुद्र, प्रजापति, विश्वस्रष्टा, हिरण्यगर्भ, सत्य, प्राण, हंस, शास्ता, अच्युत, विष्णु और नारायण है। यह जो अग्नि, हृदय और सूर्य में है, वह [सब] एक [ही] है। उस विश्वरूप को जो सत्यस्वरूप आकाश में निवास करता है, नमस्कार है ।।७।।

तदेवं श्रेयोऽर्थिनामुपादेयं साधनजातं सोपस्करं सफलमनेकधोपदिश्येदानीं श्रेयोमार्गविघातकं परिहरणीयं सम्यग्व्युत्पादयति—

अथेदानीं ज्ञानोपसर्गा राजन् मोहजालस्यैष वै योनिर्यदस्वर्ग्यैः सह स्वर्ग्यस्यैष ।

अथोपादेयविध्यर्थनिरूपणानन्तरमिदानीं हेयनिषेधार्थकथनावसरे प्राप्ते ज्ञानोपसर्गा ज्ञानोत्पत्तिविघातका हेतवः प्रस्तूयन्त इति शेषः। राजन्निति सम्बोधनं प्रदर्शनार्थमयमुपदेशप्रकार एवाऽऽख्यायिकायाः पुरा समापनात्। के ते ज्ञानोपसर्गा इत्याकाङ्क्षायां यन्मोहजालं वस्तुतत्त्वाविवेकनिबन्धनमित्युत्तरं पूरणीयम्। पुनः कुतो मोहजालप्रसर इत्याकाङ्क्षायामाह— मोहजालस्यैष वक्ष्यमाणो वै प्रसिद्धो योनिः प्रसरणस्थानम्। कोऽसौ यदस्वर्ग्यैः स्वर्गानर्हैर्नास्तिकादिभिः सह स्वर्ग्यस्य स्वर्गार्हस्य वैदिकस्य संसर्ग इत्यध्याहारः। पुनरेष इति पूर्वोक्तस्यैवाऽऽकर्षणमन्वयस्पष्टीकरणार्थम् ।

तत्र निदर्शनं लुप्तोपमाव्यञ्जकमाह—

वाट्ये पुरस्तादुक्तेऽप्यधःस्तम्बेनाऽऽश्लिष्यन्त्यथ ये चान्ये ह नित्यप्रमुदिता नित्यप्रवसिता नित्ययाचनका नित्यं शिल्पोप-

जीविनोऽथ ये चान्ये ह पुरयाचका अयाज्ययाजकाः शूद्र शिष्याः शूद्राश्च शास्त्रविद्वांसोऽथ ये चान्ये ह चाटजट-नटभटप्रव्रजितरङ्गावतारिणो राजकर्मणि पतितादयः ।

वाटीमर्हतीति वाट्यो महाशाख्याम्रपनसादिस्तस्मिन् पुरस्तात्पुरः-स्थितत्वेन केनचिदाप्तेनोक्तेऽपि तमनादृत्याधःस्तम्बेन क्षुद्रेण तृणशलाकया सहाऽऽश्लिष्यन्ति स्तम्बप्रभवं छायाफलादिकं बहु मन्यन्त इत्यर्थः। एष दृष्टान्तो मोहस्येत्येषपदस्येहैव वाऽन्वयः। अथ पुनर्ये च येऽप्यन्य इह लोके नित्यप्रमुदिता ऐहिकैरेव लाभैः सदा सन्तुष्टाः। ये च नित्यप्रवसिताः सदा परप्रेष्याः। नित्ययाचनकाः सदा दीनाः। नित्यं शिल्पोपजीविनः कारुकर्मकौशलेन जीवननिरता इत्यर्थः। अथ ये चान्ये ह पुरयाचका नगरभिक्षवः। ये चायाज्यान्याजनानर्हान्याजयन्ति तेऽयाज्ययाजकाः। ये चान्ये शूद्रशिष्याः शूद्राद्यां कामपि विद्यां गृहीतवन्तो ब्राह्मणादयस्ते शूद्रशिष्याः। ये च शूद्राः शास्त्रं श्रुतिस्मृतिपुराणलक्षणं विदन्ति पठन्ति पाठयन्ति वा ते शास्त्रविद्वांसः। अथ ये चान्ये ह चाटाः पिशुनाः, जटा अपरिच्छिन्नासभ्यवदनपराः, नटा नर्तनोपजीवनाः, भटा योधास्तस्करा वा, प्रव्रजिताः कार्पटिका अभिक्षवो भिक्षुवेषधारकाः रङ्गावतारिणोऽनेक-वेषभाषाविशेषैर्नाटकनाट्यजीविनः। राजकर्मणि राज्ये ये नियुक्ता इत्यध्याहारः। राष्ट्रसंरक्षणे चोरशासनादावधिकृता इत्यर्थः। ये च पतिता महापातककृतो राष्ट्रान्निःसारिताः स्थिता वा। आदिपदादभिशस्ता गृह्यन्ते।

अथ ये चान्ये ह यक्षराक्षसभूतगणपिशाचोरगग्रहादीनामर्थं पुरस्कृत्य शमयाम इत्येवं ब्रुवाणा अथ ये चान्ये ह वृथा कषायकुण्डलिनः कापालिनोऽथ ये चान्ये ह वृथातर्क-दृष्टान्तकुहकेन्द्रजालैर्वैदिकेषु परिस्थातुमिच्छन्ति तैः सह न संवसेत्प्रकाशभूता वै ते तस्करा अस्वर्ग्या इत्येवं ह्याह ।

ग्रहादीनामिति कर्मणि षष्ठी। अर्थं पुरस्कृत्य धनादिकं स्वजीवनमुद्दिश्य ये यक्षादीन् प्राणिपीडकाञ्शमयाम उच्चाटनादिभि-

र्निवारयाम इत्येवं ब्रुवाणा मन्त्रयन्त्रपरा इत्यर्थः। अथ ये चान्ये वृथा मिथ्या कषायवाससः कुण्डलिनः शङ्खादिशकलकृतकुण्डलधारिणः कापालिनः कपालभिक्षवः। अथ ये चान्ये वृथातर्कोऽनुग्राह्य-प्रबलप्रमाणशून्यः स्वबुद्धिकल्पितः। दृष्टान्तः प्रायोदृष्टस्योदाहरणं क्वचिद् दृष्टस्य वोदाहरणं दृष्टान्तः। कुहकं छलग्रहः प्रतारणं वा। इन्द्रजालं प्रत्यक्षतो मिथ्यार्थप्रदर्शनम्। एतैर्द्वारैर्ये वैदिकेषु वेदोक्तमार्गैकनिरतेषु परिस्थातृं परिपन्थितया स्थातुमिच्छन्ति तैः सह न संवसेद्ये च पूर्वोक्तास्तैश्च न सह संवसेदित्यर्थः। तत्र हेतुमाह—ते वै निश्चितं प्राकाश्यभूता अपरोक्षा एव तस्कराश्चोराः परवित्तापहारिणः प्रसिद्धा यावन्त उक्तास्तेऽस्वर्ग्या यतोऽतो वैदिकानभिभूय ज्ञानमार्गमवरुन्धत इति वैदिकैर्वेदोक्त-पुरुषार्थार्थिभिस्तत्सङ्गस्त्याज्य इत्यर्थः। इत्येवं ह्याह।

[१]नैरात्म्यवादकुहकैर्मिथ्यादृष्टान्तहेतुभिः ।
भ्राम्यल्लोको न जानाति वेदविद्यान्तरं तु यत् ।।८।।

नैरात्म्यवादः शून्यक्षणिकविज्ञानाद्यात्मवादः। **वेदविद्यान्तरमिति**। वेदं विद्यान्तरं चेत्यर्थः।।८।।

अब ज्ञान के मार्ग में जो बाधाएँ हैं, [उन्हें बतलाया जा रहा है] राजन् ! वास्तव में मोहजाल की उत्पत्ति का केन्द्र यह है। जो स्वर्ग-प्राप्ति के अधिकारी उसके अनधिकारियों के साथ रहते हैं। यद्यपि उन्हें पहले ही [उन्नत और फलयुक्त वाटिका के] वृक्षों के विषय में बताया जा चुका है, लेकिन फिर भी वे नीचे [उगने] वाली घास-फूस के साथ चिपक जाते हैं। और [इनके साथ] नित्य प्रसन्न रहनेवाले, नित्य [जीविका] कमानेवाले, नित्य भिक्षावृत्ति करनेवाले और सदैव [छोटे-मोटे] उद्योग-धन्धों से जीविकोपार्जन करनेवाले हैं [उन्हें आत्मज्ञान के लिए समय नहीं मिल

---

१. 'नैरात्म्यवाद' शब्द के आधार पर कुछ आधुनिक विद्वानों ने, जिनमें प्राच्य और पाश्चात्य—दोनों ही श्रेणियों के विपश्चिद्वृन्द सम्मिलित हैं, बौद्ध धर्म का सङ्केत माना है। यह उचित नहीं प्रतीत होता, क्योंकि बौद्धों के अतिरिक्त भी, प्राचीनकाल से ही भारतीय समाज में चार्वाकादि सम्प्रदायों तथा अनास्थावादी व्यक्तियों का अस्तित्व रहा है, जो आत्मा के अस्तित्व को अस्वीकार करते रहे हैं ।।८।।

पाता]। नगर [या गाँव] में भिक्षा माँगनेवाले, अनधिकारियों से यज्ञानुष्ठान करनेवाले, शूद्रों के शिष्य अथवा उनके गुरु,शास्त्र के ज्ञाता शूद्र [ये भी आत्मज्ञान] में, चाहते हुए भी समर्थ नहीं हो पाते। [दूसरों को] धोखा देनेवाले अथवा उनकी चुगली करनेवाले, ऐंठ या अकड़ में चूर रहनेवाले [जट], नाचनेवाले, [पेशेवर] योद्धा, संन्यासी, रंगमंच पर अभिनय करनेवाले, राजकर्मचारी और पतित व्यक्ति [ये भी आत्मज्ञान की दिशा में प्रयत्न नहीं कर पाते]। जो पैसा लेकर यक्षों, राक्षसों, भूत-पिशाचों और साँपों [के विष] को झाड़ने-फूँकने [शान्त करने] का दावा करनेवाले, [मानसिक वैराग्य के बिना ही] गेरुये कपड़े और कानों में कुण्डल पहननेवाले, खप्पर लेकर चलनेवाले, झूठे तर्क और दृष्टान्त का कुहासा फैलाकर तथा चमत्कार या जादू दिखाकर वैदिक विद्वानों के मध्य स्थान पाने के इच्छुक—इन व्यक्तियों के साथ [आत्मज्ञान की दिशा में उन्मुख व्यक्ति को] नहीं रहना चाहिए। वे स्पष्टरूप से तस्कर अर्थात् अनुल्लेखनीय एवं अनुचित कर्म करनेवाले लोग हैं। ये स्वर्ग-प्राप्ति के अधिकारी नहीं हैं। इसी प्रकार से [ज्ञानियों ने] कहा है—

''आत्मा नाम की किसी चीज का अस्तित्व नहीं है''—इस प्रकार की बातों का कुहासा फैलानेवाले और झूठे दृष्टान्त और तर्क प्रस्तुत करनेवाले भटके या भटकाये गये लोग तो यह [भी] नहीं जानते कि वेद और दूसरी विद्याओं [-दर्शन, अध्यात्म] में [वास्तव में] क्या अन्तर है[१] ।।८।।

इदानीं वेदविरोधिनां मार्गस्य प्रवृत्तिमूलमितिहासमाह—

बृहस्पतिर्वै शुक्रो भूत्वेन्द्रस्याभयायासुरेभ्यः क्षयायेमामविद्या-मसृजत्तया शिवमशिवमित्युद्दिशन्त्यशिवं शिवमिति।

---

१. ऊपर ज्ञान के जो अनधिकारी बतलाये गये हैं, उनमें बहुत-सी ऐसी श्रेणियों के लोग भी परिगणित कर लिये गये हैं, जो आज समाज में सम्मान की दृष्टि से देखे जाते हैं। उदाहरण के लिए, उद्योग-धन्धों में लगे लोग, राजकर्मचारी, सैनिक, पुलिस अधिकारी, अभिनेता इत्यादि। वास्तव में इन्हें अनधिकारी इसलिए कहा गया है, क्योंकि सेवा में रहने के कारण इन्हें बहुत-से अनुचित कार्य भी करने पड़ते हैं। इससे आध्यात्मिक उत्थान की दिशा में उनकी पात्रता प्रभावित होती है। उपर्युक्त अनधिकारियों की गणना का आधार वास्तव में सामाजिक स्थिति की उच्चता अथवा नीचता नहीं है, बल्कि आध्यात्मिक पात्रता है।

बृहस्पतिर्वै प्रसिद्धो देवपुरोहितः कदाचिच्छुक्रो भूत्वा शुक्ररूपमास्थायेमामविद्यामसृजदिति सम्बन्धः। किमर्थम्। इन्द्रस्याभयाय क्षेमायासुरेभ्योऽसुराणां क्षयाय नाशाय। असुरान् मोहयित्वेन्द्रं रक्षितुमित्यर्थः। याऽविद्या बृहस्पतिना सृष्टा तया शिवं परिणामे सुखकरमशिवमकल्याणं दुःखमित्युद्दिशन्ति कथयन्ति नास्तिका इति शेषः। अशिवमकल्याणं शिवमिति चोद्दिशन्तीत्यनुवर्तते।

तेषामभिप्रायमाह—

वेदादिशास्त्रहिंसकधर्माभिध्यानमस्त्विति वदन्त्यतो नैनामभिधीयेतान्यथैषा वन्ध्येवैषा रतिमात्रं फलमस्या वृत्तच्युतस्येव नाऽऽरम्भणीयेत्येवं ह्याह।

वेदस्मृतिपुराणादिरूपशास्त्रस्य हिंसको यो धर्मः पाषण्डादिरूपस्तस्याभिध्यानं पुनः पुनरनुसन्धानमस्तु लोकस्येति शेषः। इति वदन्ति मूर्खा उपदिशन्ति। अतो नैनां विद्यां धर्मकञ्चुकैरवैदिकैर्नास्तिकैश्च प्रसार्यमाणामभिधीयेत न पठेन्न शृणुयाच्चेत्यर्थः। अतोऽन्यथा विपरीतैषा विद्या महतः श्रेयसो विघातिनी स्वरूपतोऽपि वन्ध्येवैषा निष्फला। यतो रतिमात्रं तात्कालिकं फलमस्या न भाविशुभफलमस्तीत्यर्थः। वृत्तं पारम्पर्यक्रमागत आचारस्तस्माच्च्युतस्य भ्रष्टस्य यथेह परत्र वा न सुखं स्वजात्यपरिग्रहाद्यमयातनागोचरत्वाच्च तद्वद्वेदविरुद्धागमाचारनिरतस्यापीह शिष्टैः परित्यागात्परत्र च नरकगतित्वाच्च नाऽऽरम्भणीयैषा बार्हस्पत्याऽविद्येत्येवमस्मिन्नर्थे ह्याह विद्याविद्ययोर्विरोधं कठश्रुतिरित्यर्थः।

दूरमेते विपरीते विषूची अविद्या या च विद्येति ज्ञाता।
विद्याभीप्सितं नचिकेतसं मन्ये न त्वा कामा बहवो लोलुपन्ते॥

या चाविद्या या च विद्येति ज्ञाता निश्चिता पण्डितैरेते विद्याविद्ये दूरमत्यन्तं विपरीते विरुद्धस्वभावे विरुद्धविषयत्वात्स्थितिगतिप्रत्यया-विवेत्यर्थः। न केवलं स्वरूपतो विषयभेदादेव विरुद्धे अपि तु फलभेदाद-पीत्याह—विषूची विषूच्यौ विष्वगञ्चनाद्विषूच्यौ नानागती विरुद्धफले

इत्यर्थः। एवं विद्याविद्ययोः स्वभावमभिधाय यमो नचिकेतसं प्रत्याह—**विद्याभीप्सितमिति।** विद्यैवाभीप्सिता यस्य स विद्याभीप्सितस्तं नचिकेतसं नचिकेतोनामानं त्वामहं मृत्युर्मन्ये जानामि यतस्त्वा त्वां बहवोऽपि मया दत्ताः कामा विषया न लोलुपन्ते त्वां न लोपितवन्तः। आत्मोपभोग वाञ्छापादनेन श्रेयोमार्गाद्विच्छेदं न कृतवन्त इत्यर्थः।

विद्याविद्ययोर्भिन्नफलत्वमात्र ईशावास्याध्यायस्थं मन्त्रमुदाहरति—

विद्यां चाविद्यां च यस्तद्वेदोभयं सह ।
अविद्यया मृत्युं तीर्त्वा विद्ययाऽमृतमश्नुते ।।

विद्यां वेदेश्वरात्मविषयां भावनामविद्यां तद्विपरीतां कर्मनिष्ठालक्षणां च यस्तदुभयं सह समुच्चित्य वेद व्यवधानाव्यवधानाभ्यामविद्याविद्ये एकत्र पर्यवसिते अतः क्रमेणैकपुरुषेणानुष्ठेये इति यो वेदोपास्ते तत्परो भवति सोऽविद्यया कर्मनिष्ठया मृत्युं विद्योत्पत्तिप्रतिबन्धकं पापं तीर्त्वाऽतिक्रम्य विद्ययौपनिषदयाऽमृतत्वं मोक्षमश्नुते प्राप्नोतीति मन्त्राक्षरयोजना।

तथा चाविद्याऽपि वेदविहिता विद्योपयोगिनी चेत्तदोपादेयाऽपीत्यत्रोदाहरणमुक्त्वा तद्विपरीता तु हेयैव ताममुञ्चतोऽनर्थपरम्पराया अविच्छेद एव स्यादित्यस्मिन्नर्थ उदाहरणमाह—

अविद्यायामन्तरे वेष्ट्यमानाः स्वयंधीराः पण्डितंमन्यमानाः ।
दन्द्रम्यमाणाः परियन्ति मूढा अन्धेनैव नीयमाना यथाऽन्धाः ।।९।।

अविद्याऽऽत्मतत्त्वस्फुरणप्रतिबन्धात्मिका तद्विपरीतार्थसामीचीन्यावभासिनी च तस्यामन्तरेऽभ्यन्तरे तमसीव भुजङ्गतत्त्वावरणे रज्जुत्वावभासनिमित्ते वर्तमाना ये ते मूढा इति योजना। मोहव्याप्ताः सदसद्विवेकशून्यास्ते परियन्ति संसारमण्डले परिभ्रमन्ति नैषां श्रेयःप्राप्त्याशाऽस्तीत्यर्थः। किंलक्षणास्त इति तान् विशिनष्टि—वेष्ट्यमानाः पुत्रपशुधनक्षेत्रादितृष्णापाशशतैः संवेष्ट्यमानाः। अनेन तेषां संसारपरिभ्रमणाविच्छेदे कारणमुक्तम्। तथा च श्रुत्यन्तरम्—''कामान्यः कामयते मन्यमानः स कामभिर्जायते तत्र तत्र'' इति। स्वयंधीराः पण्डितंमन्यमाना इति

विशेषणान्तरम्। वयमेव धीरा धीमन्तो विवेकिनः शास्त्रकुशला इत्यात्मानं पण्डितं मन्यमाना न तु सम्यक्पण्डितास्ते। अनेन तेषां सत्सङ्गदौर्लभ्यं दर्शितम्। पुनस्तान् विशिनष्टि—दन्द्रम्यमाणाः कुटिलामनेकरूपां गतिं गच्छन्तः। जरामरणरोगादिदुःखशतैरुपद्रूयमाणा इति वा अनेन तेषां पुण्यमार्गप्रवृत्त्यभावः सूचितः। तेषां मार्गप्रदर्शका अपि तादृशा एवेत्यभिप्रेत्य दृष्टान्तमाह—**अन्धेनैवेति।** एकेनाग्रयायिनाऽन्धेन नीयमाना देशाद्देशान्तरं प्रत्याकृष्यमाणा यथा बहवोऽन्येऽन्धाः पुरोन्धेन सह कूपकण्टकादिषु पतन्तो महान्तमनर्थं प्राप्नुवन्त्येवं वेदविरुद्धविद्वन्मन्य-प्रदर्शितमार्गगा अपि तेनैव सह निरयप्राये संसारे पतन्तीत्यर्थः।।९।।

बृहस्पति ने शुक्र [के रूप में अवतरित] होकर, असुरों के भय से इन्द्र को मुक्त करने के लिए और [असुरों का] विनाश करने के लिए इस [नैरात्म्यवादी] विद्या की सृष्टि की। इस विद्या के द्वारा 'शिव' [कल्याणकारी] को 'अशिव' [अकल्याणकारी] तथा 'अशिव' को 'शिव' के रूप में प्रदर्शित करते हैं। उनका कथन है कि ऐसे [नये] धर्म का विचार हो, जो वेदादिशास्त्रों को क्षति पहुँचाये। इसलिए किसी को भी उसका विचार नहीं करना चाहिए। यह [नैरात्म्यवादी विचार-पद्धति] असत्य है, जैसे बाँझ स्त्री के साथ सम्बन्ध करने से केवल रतिजन्य आनन्द की [ही] प्राप्ति होती है [सन्तान की नहीं], अतः इस झूठी विद्या को पढ़ना ही नहीं चाहिए [क्योंकि उसके पढ़ने से थोड़ी-सी बौद्धिक कण्डू का शमन तो होगा, लेकिन पारमार्थिक कल्याण नहीं होगा]। इसी प्रकार से कहा गया है—

[कठोपनिषत् में यम नचिकेता से कहते हैं—] अविद्या और विद्या—ये दोनों दूर तक परस्पर विरोधी हैं और दोनों [व्यक्ति को] भिन्न-भिन्न दिशाओं में ले जानेवाली हैं। हे नचिकेता! मैं तुम्हें विद्या का अभिलाषी मानता हूँ, क्योंकि तुम्हें बहुत-से प्रलोभनों ने विचलित नहीं किया, [अभिप्राय यह कि मैंने तुम्हारे सामने सैकड़ों वर्षों की आयु, पुत्र-पौत्र, सुन्दर स्त्रियों एवं अपार धनराशि इत्यादि के जो प्रलोभन रखे थे, वे तुम्हें डिगा नहीं सके और तुम मृत्यु के अथवा मरणोत्तर जीवन सम्बन्धी रहस्य-ज्ञान के लिए अपनी जिज्ञासा पर दृढ़तापूर्वक स्थिर रहे।]

विद्या और अविद्या—इन दोनों के स्वरूप को जो एक साथ जान लेता है, वह अविद्या के द्वारा मृत्यु को पार करने के पश्चात् विद्या के द्वारा अमृततत्त्व की उपलब्धि कर लेता है।

जो अपने को अविद्या में लपेटते जा रहे हैं और स्वयं ही अपने को बुद्धिमान् और ज्ञानी मान बैठे हैं, वे मूर्खजन अनेक प्रकार की टेढ़ी-मेढ़ी गलियों में भटकते हुए वृद्धावस्था और मृत्यु के चक्कर में उलझे रहते हैं। उनकी स्थिति अन्धों के द्वारा ले जाये जाते हुए अन्धों-जैसी है अर्थात् न वे कुछ जानते हैं और न उनके संगी-साथी ही कुछ जानते हैं[१] ।।९।।

इदानीं वेदैकविषये सर्वशिष्टमतोपरोधनायेतिहासमवतारयति—

देवासुरा ह वै य आत्मकामा ब्रह्मणोऽन्तिकं प्रयातास्तस्मै नमस्कृत्वोचुर्भगवन् वयमात्मकामाः स त्वं नो ब्रूहीत्यतश्चिरं ध्यात्वाऽमन्यतान्यतात्मानो वै तेऽसुरा अतोऽन्यतमेतेषामुक्तं तदिमे मूढा उपजीवन्त्यभिष्वङ्गिणस्तर्याभिघातिनोऽनृताभिशंसिनः सत्यमिवानृतं पश्यन्ति ।

देवाश्चासुराश्च देवासुराः। ह वै, इत्यैतिह्यार्थौ निपातौ। ये बभूवुः पूर्वं देवाश्चासुराश्च त आत्मकामा आत्मज्ञानकामाः सन्तो ब्रह्मणः स्वपितुः प्रजापतेरन्तिकं समीपं प्रयाताः। तस्मै ब्रह्मणे नमस्कृत्वोचुर्हे भगवन् वयं ह्यात्मकामास्त्वामुपसन्नाः स त्वमस्मद्गुरुर्नोऽस्मभ्यं ब्रूह्यात्मतत्त्वमिति शेषः। इत्यूचुरिति सम्बन्धः। अतो यत आत्मतत्त्वं न सहसा वक्तुमुचितमतश्चिरं ध्यात्वा विचार्यामन्यत तत्कालोचितं वक्तव्यं विजज्ञौ। किम्। अन्यतात्मानो वै तेऽसुराः। प्रसिद्धा असुरा अन्यतात्मानोऽन्यतायामन्यत्वे भेदवति देहादावात्ममतय इत्यर्थः। अयतात्मान इति क्वचित्पाठः सुगमः। तथा च देहात्मवादं प्रकृत्य च्छान्दोग्ये श्रूयते—'असुराणां ह्येषोपनिषत्' इति। अतः परं श्रुतिवचनम्। यतो दृढं

---

१. इस अनुवाक के अन्तिम तीनों मन्त्र कठोपनिषत् के प्रथम अध्याय (दूसरी वल्ली) से उद्धृत हैं। कथन यमराज का है और श्रोता के स्थान पर प्रतिष्ठित हैं जिज्ञासावृत्ति के सर्वश्रेष्ठ निदर्शन कुमार नचिकेता।

भेददृष्टयोऽसुरा अतोऽन्यतमं देवेभ्य उक्तादत्यन्तमन्यदेतेषामसुराणामात्मतत्त्वं प्रजापतिनोक्तमित्यर्थः। यद्यपि प्रजापतिना देवानामसुराणां च साधारणमेवाऽऽत्मतत्त्वमुक्तं तथाऽपि स्वचित्तदोषवशादसुरैरन्यथावगतमिदमेवाऽऽत्मतत्त्वमस्माकं प्रजापतिनोक्तमिति मन्यमानैरिति भावः। तदासुरमात्मतत्त्वमिमे प्रत्यक्षा इदानीन्तना अपि मूढा अविवेकिन उपजीवन्त्यादरेण गृहीत्वा तिष्ठन्ति। अभिष्वङ्गिणोऽत्या-सक्तास्तत्पराः सन्त इत्यर्थः। ते किंलक्षणास्तर्याभिघातिनः। तीर्यतेऽनयेति तरिः संसारसागरातिक्रमणसाधनमात्मतत्त्वज्ञानं तस्यां साधनत्वेन भवतीति वेदशास्त्रं तर्यं तस्याभिहननशीला वेदमार्गविदूषका इत्यर्थः। अनृताभिशंसिनो ज्ञानादज्ञानाद्वाऽपि मृषावदनशीलाः। यतस्तेऽनृतमेव सत्यमिव पश्यन्ति सत्यमेव पश्यन्तीत्यर्थः।

अनृतस्य सत्यत्वेन दर्शने दृष्टान्तमाह—

इन्द्रजालवदित्यतो यद्वेदेष्वभिहितं तत्सत्यं यद्वेदेषूक्तं तद्विद्वांस उपजीवन्ति ।

यत एवं वेदविरुद्धः सम्प्रदाय आसुर एवासत्यमूलश्चातो यद्वेदेष्वभिहितमुक्तं तत्सत्यं यथार्थं तदुपादेयमित्यर्थः। यद्वेदेषूक्तं तदेव विद्वांसः सम्यक्पण्डिता उपजीवन्त्यादरेण गृह्णन्ति न हेतुवादपटुभिरभिहितमित्यर्थः।

अनयाऽऽख्यायिकयोपादेयमर्थमुपदिशति—

तस्माद्ब्राह्मणो नावैदिकमधीयीतायमर्थः स्यादिति ।।१०।।

ब्राह्मणग्रहणमुपलक्षणं त्रैवर्णिको न कदाऽप्यवैदिकं वेदविरुद्धं वेदार्थज्ञानानुपायरूपं च शास्त्रान्तरमधीयीतेत्यर्थः। तादृक्शास्त्रान्तराध्ययने दोषं सूचयति। अयमर्थः स्यात्। अयमासुरदृष्ट्योपात्तोऽधःपातरूपोऽर्थः फलं स्यादिति भयादिति वाक्यशेषः ।।१०।।

देवगण और असुरगण [दोनों में से ही] जो आत्मज्ञान के इच्छुक थे, वे [अपने पिता प्रजापति अर्थात्] ब्रह्मा के पास गये। उन्हें प्रणाम करके

बोले— 'भगवन्! हम आत्मज्ञान के इच्छुक हैं। आप हमें इसके विषय में बतलाइए, [प्रजापति ने] इसके बाद चिरकाल तक ध्यान करके विचार किया कि ये असुर दूसरे ही प्रकार के स्वरूपवाले हैं [पाठान्तर-'अयतात्मान:'— इनका अपने ऊपर कोई नियन्त्रण नहीं है], इसलिए [प्रजापति ने] उन असुरों के सम्मुख दूसरे ही प्रकार से आत्मा का निरूपण किया [अर्थात् आत्मा का यह स्वरूप उससे भिन्न था, जो देवों को बतलाया गया था]। [आत्मा के उसी भिन्न स्वरूप से] अपने को सम्बद्ध किये हुए ये मूर्खजन मोक्ष की वास्तविक अवधारणा को आघात पहुँचाते हुए मिथ्या भाषण करते रहते हैं। जादू के खेल की तरह मिथ्या रूप को ये सच की तरह देखते [और समझते] हैं, इसलिए जो वेदों में कहा गया है, वही सत्य है, जो वेदों में निरूपित है, उसी पर विद्वज्जन स्थिर रहते हैं। इसलिए ब्राह्मण को चाहिए कि वह अवैदिक [शास्त्रों] का अध्ययन न करे—अन्यथा [अर्थात् उस अध्ययन का परिणाम अधःपात] ही होगा[१] ।।१०।।

---

१. उपर्युक्त दो अनुवाकों (९-१०) में तत्कालीन अवैदिक सम्प्रदायों के द्वारा प्रवर्तित विचारों के प्रति असहिष्णुता कुछ अधिक परिमाण में दिखाई देती है। यह दृष्टिकोण मन्त्र-संहिताकाल के उस दृष्टिकोण से भिन्न प्रतीत होता है, जिसमें समस्त विश्व से सद्विचारों के ग्रहण का आग्रह व्यक्त हुआ है—'आ नो भद्रा: क्रतवो यन्तु विश्वत:'।

अपने स्वार्थ के लिए दूसरे को गुमराह कर देना, धोखा दे देना, गलत बात समझा देना—इन वैचारिक रणनीतियों का मण्डन भी उपर्युक्त अनुवाकों में बृहस्पति के द्वारा शुक्राचार्य बनकर असुरों को शिव के स्थान पर अशिव अर्थात् अकल्याणकारी विचारों का उपदेश देना और प्रजापति के द्वारा अपने ही असुर नामक पुत्रों को आत्मा के विषय में गलत जानकारी दे देने का कथन जिस साहस के साथ यहाँ किया गया है, वह वैचारिक नैतिकता की ऊँचाई पर एक प्रश्नचिह्न खड़ा करता है। ज्ञान की उपलब्धि और सम्प्रेषण की प्रक्रिया में जिस सदाचार की अपेक्षा अन्य उपनिषदों में की गई है, उसकी यहाँ दूर-दूर तक झलक नहीं है। सदाचार की बात तो दूर रही, उल्टे जिज्ञासु को भटका देने का समर्थन यहाँ किया गया है, जो उपनिषदों के गौरव के अनुरूप प्रतीत नहीं होता। उपर्युक्त छल, वितण्डा, जल्प इत्यादि का आश्रय तो नव्यन्याय इत्यादि शास्त्रों में दिखलाई देता है, जब साम्प्रदायिक आग्रहों की रक्षा के लिए इन उपायों का आश्रय ले लेने की परम्परा का सूत्रपात हो गया था।

यद्वेदेषूक्तं तत्सत्यमिति यदुक्तं तत्र वेद एव कथमिति जिज्ञासायां तस्य तत्त्वं वक्तुमुत्तरोऽनुवाकः प्रवर्तते—

एतद्वाव तत्स्वरूपं नभसः खेऽन्तर्भूतस्य यत्परं तेजस्तत्त्रेधाऽभिहितमग्ना आदित्ये प्राण एतद्वाव तत्स्वरूपं नभसः खेऽन्तर्भूतस्य यदोमित्येतदक्षरम् ।।

एतद्वावैतदेव तस्य वेदस्य स्वरूपं यन्नभसो ब्रह्माकाशस्य खे हृदयसुषिरेऽन्तर्भूतस्य मध्ये सिद्धस्य यत्परमलुप्यमानं तेजः सर्वावभासकं चैतन्यस्वरूपं तत्तेजस्त्रेधा प्राधान्यमाश्रित्याभिहितमुक्तं पूर्वमग्नावादित्ये प्राणे च विभाव्यमानमित्यर्थः। तथा च यदग्न्याद्यात्मना बहिरवभासकं तेजस्वदेव खेऽन्तर्भूतस्य नभसः परं तेजस्तदेव च वेदस्य स्वरूपमित्युक्तं भवति। तदेवैवंलक्षणं तेजः प्रथममोङ्कारात्मकमासीदित्याह—**एतद्वावेति।** यदोमित्येतदक्षरं प्रसिद्धमस्ति तदेतद्वाव खेऽन्तर्भूतस्य नभसो रूपमभिव्यक्तं रूपान्तरमित्यर्थः।

कुत एतदित्यत आह—

अनेनैव तदुद्बुध्यत्युदयत्युच्छ्वस(सि)त्यजस्त्रं ब्रह्मधीयालम्बं वाऽत्रैव।

टीकाकार रामतीर्थ ने उपर्युक्त अनुवाकों में व्यक्त साम्प्रदायिक रणनीति का समर्थन यह कहकर करने की चेष्टा की है कि प्रजापति ने तो असुरों और देवों—दोनों को सामान्यतः यथार्थ ही आत्मस्वरूप का उपदेश दिया था, लेकिन असुरों ने ही उसे गलत रूप में ग्रहण किया—

'यद्यपि प्रजापतिना देवानामसुराणां च साधारणमेवाऽऽत्मतत्त्वमुक्तं तथापि स्वचित्तदोषवशाद्सुरैरन्यथावगतमिदमेवाऽऽत्मतत्त्वं प्रजापति-नोक्तमिति मन्यमानैरिति भावः' ।।

यह मूल के अनुरूप की गई व्याख्या नहीं है। हाँ, अन्य उपनिषदों में इसीप्रकार का कथन है, लेकिन मैत्रायणीय उपनिषत् में नहीं।

एतत्तेजोऽनेनैवोमित्येवमात्मकेनाक्षरेण रूपेण तदुद्बुध्यत्युन्नतबुध्नं भवति बीजमिवोच्छूनति वेदस्याऽऽद्यावस्थारूपं जायत इत्यर्थः। तत उदयत्युद्गच्छत्यङ्कुर इवान्तर्नादरूपप्रणवाकारं भवति। ततः क्रमेणोच्छ्वस(सि)-त्युच्छ्वास इव दीर्घस्वरेणोच्चारणस्थानं प्राप्याक्षररूपमवतिष्ठत इत्यर्थः। एवमभिव्यक्तप्रणवाकारब्रह्मतेजोरूपो वेदोऽजस्रं नैरन्तर्येण ब्रह्मधीयालम्बं विश्लिष्टपाठश्छान्दसः। ब्रह्मबुद्धेरुपासनात्मिकाया आलम्बनमित्यर्थः। वाशब्दाद् ब्रह्मतत्त्वबुद्ध्यालम्बनं चेत्यर्थः। अधिकारिभेदाद्बुद्धिद्वया-लम्बनत्वविकल्पार्थो वा वाशब्दः। अत्रैवास्यामेवावस्थायामेतत्तेजः प्रणवमात्राकारं सत्समीरणे कोष्ठगते प्राणे घोषवति सहकारिणि सम्पन्ने सतीति शेषः। प्रकाशं प्रक्षिपति त्यजतीति प्रकाशप्रक्षेपको जठरकुहरचार्यग्निस्तस्यौष्ण्यस्थाने भवं प्रकाशप्रक्षेपकौष्ण्यस्थानीयं तत्तेजोऽनुप्रसरतीत्युत्तरत्रान्वयः।

अनुप्रसरणप्रकारं दृष्टान्तेन स्पष्टयति—

एतत्समीरणे प्रकाशप्रक्षेपकौष्ण्यस्थानीयमेतद्धूमस्येव समीरणे नभसि प्रशाखयैवोत्क्रम्य स्कन्धात्स्कन्धमनुसरति ।

एतदनुप्रसरणं धूमस्यैव द्रष्टव्यम्। यथा धूमो नभसि समीरणे वायौ वाति सति प्रशाखयैव प्रकृष्टया शाखया शाखाकारया लेखयोत्क्रम्योर्ध्व-देशं गत्वा वृक्षस्य स्कन्धात्स्कन्धमनुसरति तत्तत्स्कन्धैरभिहन्यमानस्तत्तदा-कारतामश्नुते तथैतद्ब्रह्मतेजो मूलाधारोपर्यग्निमण्डले तत्रस्थेनाग्निना सन्तप्तेऽभिव्यक्तं घोषवत्प्राणवायुनाऽग्नौ धम्यमाने तमेव वायुमग्निं चोपाधिमवष्टभ्य प्रथमं नादमात्रप्रणवात्मनाऽऽविर्भूय क्रमेण हृत्कण्ठ-ताल्वादिस्थानैः प्रसरणावच्छेदैरभिहन्यमानं नानावर्णात्मनोद्भूय नानावेदशाखात्मकं भवतीति दार्ष्टान्तिकं योज्यम्।

एवमेकरूपस्यापि चैतन्यज्योतिषोऽनेकरूपवेदात्मना प्रसरणे दृष्टान्त-मुक्त्वा प्रसरणेनावस्थान्तरं गतस्यापि न स्वभावान्यत्वं स्वरूपविनाशो वेत्यत्र दृष्टान्तद्वयमाह—

अप्सु प्रक्षेपको लवणस्येव घृतस्य चौष्ण्यमिव ।

प्रक्षेप एव प्रक्षेपको यथा लवणस्य पिण्डीभूतस्याप्सु प्रक्षेपो न लवणस्वभावहानिकरस्तदवस्थस्यापि लवणरसानपायाद्यथा वा घृतस्यौष्ण्य-मुष्णसंस्पर्शो न घृतमन्यथयत्येवमिदमपीत्यर्थः। आभ्यां दृष्टान्ताभ्यामय-मप्यर्थः सूचितः। यथा जलाग्न्युपाधिविगमे लवणघृतयोः पूर्वावस्थापत्तिः पिण्डाकारेण तथा ब्रह्मतेजसोऽपि कायाग्निप्राणमन आद्युपाध्यपगमे स्वरूपेण चिद्घनावस्थापत्तिरिति न वेदस्यानित्यत्वमिति।

इदानीं सुप्तप्रबोधवज्झटिति वेदात्मना चिदाविर्भावे दृष्टान्तमाह—

अभिध्यातुर्विस्तृतिरिवैतदित्यत्रोदाहरन्ति।

एतद्वेदरूपेण चैतन्यप्रसरणमभिध्यातुरभिध्यानकर्तुः सङ्कल्पमात्रेण प्रासादादिकार्यनिमार्तुर्योगीश्वरस्य विस्तृतिर्विस्तार इव। अयमीश्वरचिद्विस्तारो वेद इत्यर्थः। अत्रास्मिन्नर्थ उदाहरन्ति पृच्छन्ति शिष्या इत्यर्थः।

अथ कस्मादुच्यते वैद्युतः ।

किं तदाह—**अथ कस्मादिति।**

उत्तरमाह—

यस्मादुच्चारितमात्र एव सर्वं शरीरं विद्योतयति तस्मादोमित्यनेनैतदुपासीतापरिमितं तेजः ।

यस्मादुच्चारितमात्र एवायं वेदः प्रणवात्मा सर्वं शरीरं जगदित्येतत् । विद्योतयति प्रकाशयति तस्माद्वैद्युत इति वेद उच्यत इति योजना। यस्माद्घृतपिण्डवद्घनीभूतवेदावस्था प्रणवात्मकमिदं ब्रह्माऽऽसीत्त-स्मादोमित्यनेनैतदपरिमितं ब्रह्म तेज उपासीत प्रणवमालम्ब्य ब्रह्म ध्यायीतेत्यर्थः। एतदुक्तं भवति सर्ववेदार्थावलम्बननिबन्धना हि सर्वे कामाः पुरुषार्थभूताः प्रसिद्धास्ते सर्वे प्रणवालम्बनं ब्रह्म ध्यायतो भवन्ति प्रणवस्य सर्ववेदात्मकत्वाद्ब्रह्मणश्च सर्वार्थात्मकत्वात्सर्वपुरुषार्थरूपत्वाच्चेति। वेदो-द्गमस्यानन्तरं निरूपणात्तदर्थप्रकाशकाः श्लोका मनः कायाग्निमाहन्तीत्या-दय एवात्र यद्यपि निवेशयितुं युक्तास्तथाऽप्योमित्यनेनैतदुपासीतेति परस्य

तेजस उपासनविधानादुपास्यस्य तेजसो विशेषावस्थावस्थानं वक्तुं मध्ये पुरुष इत्यादयः श्लोका उपात्ताः। तेषां च चाक्षुषः स्वप्नचारी चेति परत्र वर्तिष्यमाणैः श्लोकैरेकवाक्यता बोद्धव्या। तथा च यथापाठक्रममिह व्याख्यानेऽप्यर्थक्रमेणैवार्थसङ्गतिर्द्रष्टव्या।

पुरुषश्चाक्षुषो योऽयं दक्षिणेऽक्षिण्यवस्थितः।
इन्द्रोऽयमस्य जायेयं सव्ये चाक्षिण्यवस्थिता।

योऽयं दक्षिणेऽक्षिण्यवस्थितश्चाक्षुषः पुरुषः प्रसिद्धो द्रष्टाऽयमिन्द्रः परमेश्वरः। या देवता सव्ये वामेऽक्षिण्यवस्थितेयमस्येन्द्रस्य जाया पत्नीति योजना। उक्तं च बृहदारण्यके—'इन्धो ह वै नाम योऽयं दक्षिणेऽक्षन् पुरुषस्तं वा एतमिन्धं सन्तमिन्द्र इत्याचक्षते परोक्षेण' (अ० ६) इति। 'अथ यद्वामेऽक्षिणि पुरुषरूपमेषाऽस्य पत्नी विराट्' (अ० ६) इति च। इयमनयोर्जाग्रदवस्थोक्ता।

स्वप्नमाह—

समागमस्तयोरेव हृदयान्तर्गते सुषौ।
तेजस्तल्लोहितस्यात्र पिण्ड एवोभयोस्तयोः ।।

हृदयान्तर्गते सुषौ छिद्रे नाडीजालसमावृते तयोरिन्द्रेन्द्राण्योः समागम एकस्थानेऽवस्थानं मिथुनीभाव इत्यर्थः। तयोरन्तर्हृदयाकाशे सुप्तयोस्तेजस्तेजनं जीवनमन्नमिति यावत्। तद्यल्लोहितस्य पिण्डः परिणामस्तदुभयोस्तयोरन्नमित्यर्थः। तथा च बृहदारण्यके—'तयोरेष संस्तावो य एषोऽन्तर्हृदय आकाशोऽथैनयोरेतदन्नं य एषोऽन्तर्हृदये लोहितपिण्डोऽथैनयोरेतत्प्रावरणं यदेतदन्तर्हृदये जालकमिव' इति। यदन्नं पानं चोपयुज्यते प्राणिभिस्तदौदर्येणाग्निना पच्यमानं स्थूलमध्यमाणिष्ठभागतामापद्यते तत्र स्थूलो भागः पुरीषमूत्रादिरूपो बहिर्गच्छति मध्यमस्तु नाडीद्वारा सर्वं शरीरं रसलोहितमांसादिरूपेण परिणम्यानुप्रविशत्यणिष्ठस्तु मन आदीनुपचिनोति। तत्र यो मध्यमो रसभागः स लोहितपिण्ड इत्युच्यते तस्य शरीरस्थितिहेतुत्वात्। तयोस्तदन्नमिति तात्पर्यार्थः।

इदानीं तयोः सञ्चरणमार्गमाह—

हृदयादायता तावच्चक्षुष्यस्मिन् प्रतिष्ठिता ।
सारणी सा तयोर्नाडी द्वयोरेका द्विधा सती ।।

या नाडी हृदयान्निर्गता तावदायता दीर्घा यावच्चक्षुरतोऽस्मिंश्चक्षुषि प्रतिष्ठिता। सारतोऽस्यामिन्द्रेन्द्राण्याविति वा सारयत्येताविति वा सारणी नाम नाडी सञ्चरणमार्गभूतैकाऽपि सती तयोर्द्वयोः सव्यदक्षिणाक्षिप्रापकत्वाद्द्विधोच्यत इत्यर्थः। 'अथैनयोरेष सृतिः सञ्चरणी यैषा हृदयादूर्ध्वा नाड्युच्चरति' (बृहदा०) इति श्रुत्यन्तरम्।

एवमनयोर्जाग्रत्स्वप्नावस्थातत्सञ्चरणमार्गा उक्ता इदानीं सुप्तिप्राप्तिक्रमेणावस्थात्रयातीतं तुरीयं पत्रमेकरसं तत्त्वमनयोर्वक्तव्यं तदिहार्थादुक्तमेवेति सिद्धवत्कृत्य प्रकृतं वेदाविर्भावविषयं श्लोकजातमुदाहरति—

मनः कायाग्निमाहन्ति स प्रेरयति मारुतम् ।
मारुतस्तूरसि चरन् मन्द्रं जनयति स्वरम् ।।

उद्बुद्धार्थवासनतयाऽऽत्मविवक्षानुगृहीतया बुद्ध्या नियुक्तं मनः कायाग्निं शरीरस्थितमूष्मरूपमग्निमाहन्ति प्रबोधयति। स कायाग्निर्मारुतं वायुं प्राणाख्यं प्रेरयति व्यापारयति घोषवन्तमापादयतीत्यर्थः। मारुतस्तूरसि चरन् सञ्चरन् मन्द्रं स्वरं घोषं जनयति।

खजाग्नियोगाद्धृदि सम्प्रयुक्तमणोर्ह्यणुर्द्विरणुः कण्ठदेशे ।
जिह्वाग्रदेशे त्र्यणुकं च विद्धि विनिर्गतं मातृकमेवमाहुः ।।

ततः खजाग्नियोगान्निर्मन्थनकाष्ठं खज इत्युच्यते खजस्थानीयेनाग्निना योगाद्धृद्युरःप्रदेशे सम्प्रयुक्तं सम्यगालोडितं तन्मारुतस्वरूपं मनोवृत्त्युपरक्तं प्रथममणोः सूक्ष्मात्केवलान्मारुताद्धि यस्मादणुरेव मन्द्रस्वरात्मको जातः सः। पुनः कण्ठदेशे प्राप्तं द्विरणुर्द्विगुणितं पुनर्जिह्वाग्रदेशे गतं त्र्यणुकं त्रिगुणितं विद्धि। एवं विनिर्गतं क्रमेणाभिव्यक्तं वर्णजातं मातृकं सर्वपदवाक्यानां योनिभूतमाहुरध्यात्मविद इत्यर्थः। हृदि

सम्प्रयुक्तमणु ह्यणुर्द्विरणुरिति यदि पाठस्तदा हृदि सम्प्रयुक्तमणु ततो ह्यणोर्द्विरणुरित्यादि योज्यम्।

इदानीं सर्वं शास्त्रार्थं विद्वत्प्रशंसामिषेणोपसंहरति—

न पश्यन् मृत्युं पश्यति न रोगं नोत दुःखताम् ।
सर्वं हि पश्यन् पश्यति सर्वमाप्नोति सर्वशः ।।

एतस्मिञ्शास्त्रे यत्तत्त्वं शब्दब्रह्मणः परस्य च ब्रह्मणोऽनेक विधमुपपादितं तद्यथोक्तविधिनोपायोपेयभावेन पश्यन् स्वानुभवमापादयन्यो भवति स मृत्युं संसारं पुनर्न पश्यति न रोगं पश्यति व्याधिं न पश्यतीत्यर्थः। उतापि दुःखतां दुःखमित्येतत्। आधिमपि न पश्यतीत्यर्थः। देहद्वयसम्बन्धाभावान्नाऽऽधिव्याधिप्रसङ्गो जन्ममृत्युजरादि-प्रसङ्गो वाऽस्य सम्भवेदित्यर्थः। हि यस्मात्पश्यञ्ज्ञानी सर्वं पश्यति सर्वमाधिव्याध्यास्पदं विषयत्वेनानुभवति न स्वधर्मत्वेनेत्यर्थः। यद्वा पश्यन् हि ज्ञानी सर्वं सर्वात्मकं ब्रह्म पश्यति। अतः सर्वशः सर्वात्मना सर्वं ब्रह्माऽऽप्नोति ब्रह्मैव भवतीत्यर्थः। तस्माद्यथोक्तविधिना परापरब्रह्म-तत्त्वावधारणमेव परमपुरुषार्थसाधनं परमानन्दाद्वयं ब्रह्मैवाऽऽत्मा-भेदेनाऽऽविर्भूतं पुरुषार्थ इति सिद्धमित्युपसंहारार्थो योज्यः।।

यत्पुनरिन्द्रेन्द्राण्योः सुषुप्तं तुरीयं च पदं वक्तव्यं सिद्धवत्कृतमित्युक्तं तदिदानीं प्रपञ्चयन्ती वेद्यतत्त्वमुपसंहरति—

चाक्षुषः स्वप्नचारी च सुप्तः सुप्तात्परश्च यः ।
भेदाश्चैतेऽस्य चत्वारस्तेभ्यस्तुर्यं महत्तरम् ।।

यः पूर्वं पुरुषश्चाक्षुष इत्यादौ दक्षिणसव्याक्ष्णोरिन्द्रेन्द्राणीरूप-मिथुनात्मना जाग्रदवस्थाभोक्ताऽऽत्मा निर्दिष्टः स इह चाक्षुष उच्यते। स एव हृदयनाडीसुषिरेषु सञ्चरन् वासनामयविषयद्रष्टा स्वप्नचारी भवति। उभयविधदर्शनवृत्त्युपरमे च सुप्तः सुषुप्तिं गतः स भवति। एवमेते त्रयस्तिसृणामवस्थानां भोक्तारो विश्वतैजसप्राज्ञसंज्ञका उक्ताः। यश्च सुप्तात्परः शुद्ध आत्मा स उक्तविश्वाद्यात्मत्रयापेक्षया तुरीय उच्यते।

एवमुक्तप्रकारेणास्य चिदात्मनो भेदाश्चत्वारः प्रसिद्धास्तेभ्यस्तेषु मध्ये तेभ्यो वा विश्वादिभ्यो विश्वाद्यपेक्षया तुर्यं तुरीयं चतुर्थं पदं महत्तरमतिशयेन महदत्यन्तमपरिच्छिन्नमित्यर्थः।

तुरीयस्य महत्तरत्वमुपपादयति—

त्रिष्वेकपाच्चरेद्ब्रह्म त्रिपाच्चरति चोत्तरे ।।

त्रिषु जाग्रदादिषु स्थानेष्वेकपात्तुरीयाख्यं ब्रह्म चरेत्सर्वकल्पनाधिष्ठानत्वेनानुगतं वर्तत इत्यर्थः। त्रिपाद्ब्रह्म विश्वतैजसप्राज्ञाख्यमुत्तर उत्तरस्मिंस्तुरीये चरति तदाश्रितं सद्वर्तत इत्यर्थः। एतदुक्तं भवति। कार्यं कारणमिति जगतोऽवस्थाद्वयं प्रसिद्धम्। तत्र कार्यं स्थूलं सूक्ष्मं चेति द्विविधम्। तयोः स्थूलकार्योपाधिर्विश्वः सूक्ष्मकार्योपाधिस्तैजसः। एतयोः स्वस्वोपाधिपारतन्त्र्यात्तावन्मात्रपरिच्छिन्नाविति नैतौ महत्तरौ। कारणावस्थजगद्बीजोपाधिस्तु प्राज्ञः स कारणस्य स्वोपाधेः कार्यव्यापित्वादवस्थान्तरमपि व्याप्नुवन् पूर्वापेक्षया व्यापक इति महान् भवति। एतत्त्रितयं येनानवच्छिन्नप्रकाशात्मना साक्षिणा भास्यते यत्सत्तया च सदिति व्यवह्रियते तत्तुरीयं कार्यकारणोपाधिद्वयरहितं परिच्छेदकाभावादपरिच्छिन्नं महत्तरमिति।

तदुक्तम्—

''कार्यकारणबद्धौ तावप्येते विश्वतैजसौ ।
प्राज्ञः कारणबद्धस्तु द्वौ तु तुर्ये न सिध्यतः'' ।। इति।

तर्हि किं परिच्छिन्नापरिच्छिन्नरूपेणाऽऽत्मभेदोऽङ्गीकृतो नेत्याह—

सत्यानृतोपभोगार्थो द्वैतीभावो महात्मन इति
द्वैतीभावो महात्मन इति[१] ।।११।।

।। इति मैत्र्युपनिषदि सप्तमः प्रपाठकः ।।७।।

सत्यमनिदं चिदात्मरूपमनृतं पराग्रूपमवस्थात्रयतदभिमानिलक्षणं ताभ्यां परस्पराध्यस्ताभ्यामुपभोगो व्यवहारः सत्यानृतोपभोगः स

१. अन्तिम पाद की द्विरुक्ति ग्रन्थ-समाप्ति का द्योतक है।

एवार्थस्तस्मात्तन्निमित्तं महात्मनः पूर्णस्य ब्रह्मात्मनो द्वैतीभावो नानात्वं मायिकं न परमार्थमित्यर्थः। अभ्यास उपनिषत्समाप्त्यर्थः ।।११।।

नमस्तस्मै भगवते रामायाकुण्ठमेधसे ।
येनान्तर्हृदयस्थेन नुद्यमानो विचेष्टये ।।१।।

विचारयाम्यहं नित्यं वेदतत्त्वार्थमादरात् ।
येषामनुग्रहात्तेभ्यो गुरुभ्योऽस्तु नमः शतम् ।।२।।

मैत्रीशाखोपनिषदां दीपिकेयं महात्मनाम् ।
अन्तर्वस्त्ववभासाय भूयादार्केन्दुतारकम् ।।३।।

।। इति श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्यश्रीरामतीर्थविरचितायां मैत्र्युपनिषद्दीपिकायां सप्तमः प्रपाठकः समाप्तः ।।७।।

वास्तव में वेद का यही स्वरूप है। आकाशगत परम तेज ही हृदयाकाश में सन्निहित है। इस तेज का कथन तीन प्रकार से किया गया है—अग्नि में, आदित्य में और प्राण में। यह जो 'ओम्' अक्षर है, यही उसका वास्तविक स्वरूप है, जो आकाशगत होने पर भी हृदयान्तर्गत है। इसी [ओम् अक्षर] से वह जाग्रत होता है, उदित होता है, और उच्छ्वास लेता है। निरन्तर ब्रह्मविषयिणी बुद्धि [-उपासना-] का वह आलम्बन बन जाता है। [ओङ्कार] श्वास लेने के समय, प्रकाश को आगे बढ़ाते हुए आन्तरिक ऊष्मा (उष्णता) का स्थान ले लेता है— जैसे श्वास लेने पर धुआँ आकाश में क्रमशः उठकर एक स्कन्ध (तने) से दूसरे स्कन्ध का अनुसरण करता है। [यह उसी प्रकार की स्थति है] जैसे पानी में नमक को डालना, [अथवा] घी को [आग पर] तपाना। जैसे उपासक की उपासना का विस्तार होने पर [सङ्कल्पमात्र से उसके सभी कार्य हो जाते हैं]। इस विषय में यहाँ यह उद्धरण दिया जाता है और [ओम् को] 'वैद्युत्' क्यों कहा जाता है? क्योंकि यह उच्चारण मात्र से ही सम्पूर्ण शरीर को प्रकाशित कर देता है। अतएव 'ओम्' [इस अक्षर] की उपासना करनी चाहिए, क्योंकि यह अपरिमित तेज [से युक्त] है।

यह जो दाहिनी आँख में रहनेवाला चाक्षुष पुरुष है, वह स्वयं तो इन्द्र है और उसकी पत्नी बायीं आँख में रहती है।

इन दोनों का मिलन अथवा समागम हृदय के भीतर स्थित विवर सुषि में होता है, वहाँ जो रक्त का पिण्ड होता है, वह उन दोनों का वास्तव में तेज है। हृदय से निकली एक प्रणाली आँख तक जाकर उसमें प्रतिष्ठित हो गई है। वह उन दोनों को जोड़नेवाली नाड़ी है, जो वास्तव में एक है, लेकिन दो भागों में विभक्त हो गई है।

मन शरीरस्थ अग्नि पर आघात करता है। [वह आहत अग्नि] श्वास को प्रेरित करती है। श्वास वक्ष में विचरण करती हुई स्वर (ध्वनि) को उत्पन्न करती है।

[जैसे] मथानी [दही को मथकर घृत या मक्खन को ऊपर ले आती है, ठीक उसी प्रकार] हृदय में उपर्युक्त, अग्नि के संयोग से [वायु] की सक्रियता से कण्ठ में क्रमशः अणु से अणु, तथा और फिर दो अणु, जिह्वा के अग्रभाग में त्र्यणु के क्रम से उच्चारित होने पर जो ध्वनि निकलती है, उसे मातृका अर्थात् वर्णमाला समझना चाहिए।

[आत्म]साक्षात्कार करनेवाला [साधक] मृत्यु [के भय को] अनुभव नहीं करता, न रोग और दुःख पाता है। [आत्म]दर्शन करते हुए वह सबका दर्शन कर लेता है और सबसे सब कुछ पा लेता है। (अर्थात्) वह ब्रह्मभाव की स्थिति में पहुँच जाता है।

[आत्मा की] चार स्थितियाँ हैं—चाक्षुष अर्थात् आँख में स्थित, स्वप्न देखनेवाला, सोया हुआ और सोये हुए से भी परे। इनमें से चतुर्थ स्थिति सर्वोपरि है। ब्रह्म इनमें से तीन स्थितियों में एक पाद से सञ्चार करता है और अन्तिम स्थिति में तीन पादों से सञ्चार करता है।

महात्मा की द्वैतभाव में स्थिति इसलिए होती है, ताकि वह सत्य और मिथ्या का स्वयं अनुभव कर सके ।।११।।

।। इस प्रकार सप्तम प्रपाठक सम्पन्न हुआ ।।७।।

।। मैत्र्युपनिषत् सम्पूर्ण ।।

●